॥ श्रीजिनाय नमः ॥

श्रीलब्धिसूरीश्वर-जैन-ग्रन्थमालायाः द्वादशो मणिः ॥

श्रीआत्म-कमल-लब्धिसूरीश्वरेभ्यो नमः ॥

प्रकृष्टप्रभावप्रपन्नश्रीशङ्खेश्वरपार्श्वनाथाय नमः ॥

मन्त्रीश्वरश्रीवस्तुपालमौलिललिताङ्घ्रिकमलयुगलश्रीमदुदयप्रभदेवसूरिभिर्विरचिता

श्रीआरम्भसिद्धिः ॥

अपरनाम-व्यवहारचर्या ॥

श्रीज्योतिर्वित्प्रभुश्रीहेमहंसगणिसुविरचितेन सुधीशृङ्गाराख्येन वार्त्तिकेन च सुसंस्कृता ।

प्रत्यूषप्राध्यं-स्वपरसमयपारावारपारीण-सूरिसार्वभौम-जैनरत्न-व्याख्यानवाचस्पति-कविकुलकिरीट-पूज्यपाद-आचार्यदेवाधीशश्रीमद्विजयलब्धिसूरी-श्वरान्तेवासि-शासनप्रभावक-निस्पृहनभोमणि-पन्न्यासप्रवरश्रीप्रवीणविजयगणिवरशिष्य-भविकवृन्दबोधकवरविबुधमहितप्रतिभाप्रपन्नमुनिप्रवर-श्रीमहिमाविजयशिष्याणुना मुनिजितेन्द्रविजयेन परिशिष्टानुक्रमादिभिः संयोज्य च सम्पादिता ।

व्याख्यानवाचस्पति-पूज्यपाद-श्रीमल्लब्धिसूरीश्वराणां सुपट्टप्रभाकर-दक्षिणदेशगतनानाविध-जीवदयाप्रचारक-शासनोद्योतक श्रीमद्विजयगम्भीरसूरिवरोपदेशेन-श्री मद्रास जैन संघ-वितीर्णकिञ्चित्साहाय्येन प्रकाशिता च ।

प्रकाशयित्री---श्रीलब्धिसूरीश्वर जैन ग्रन्थमाला-छाणी (वडोदरा)

वीर संवत् २४६८ | वैक्रमीय सं. १९९८ | क्राइस्ट सन् १९४२

पण्यं २-८-०

क ० वि ० कु ० ल ० कि ० री ० ट ० सू ० रि ० सा

—:प्रातिस्थान:—

शा. चन्दुलाल जमनादास
अवैतनिक कार्यकर्ता
श्रीलब्धिसूरीश्वर जैन ग्रन्थमाला
छाणी (वडोदरा)

—:: मुद्रक ::—

शा. बालचंद हीरालाल
श्रीजैनभास्करोदय प्रि. प्रेस
आशापुरा रोड–जामनगर
(काठियावाड)

—: प्रास्ताविक निवेदन :—

परमतारक अने कलिकालमां कल्पवेल समा श्री पतितपावन जिनागम, आजना भारतवर्षीय जैनसमाज माटे एक अप्रतिम वारसो छे. श्रीजिनेश्वर-प्रभुए अर्थथी कथित वाणीने मंगलनामधेय श्रीमद् गणधर भगवंतोए झीली, वेराएला नव्यपुष्पोने मालानी जेम, ते वाणीनो सूत्रोमां गुम्फन क्रिया करी. तेमज श्रुतनिधानस्थविर पुण्यपुरुषोए पण तदनुसार ग्रन्थगुंफनक्रियाद्वारा भाविमां थनार पुण्यात्माओना केवळ उपकारनेज माटे अनेक अमूल्य ग्रन्थश्रेणीओनी रचना करी. तेवा अनेकानेक ग्रन्थाग्रणीय विशेषोमां ज्योतिर्ज्ञान–विषयक पण घणा ग्रन्थो मळी आवे छे. आगम–ग्रन्थोमां **श्रीसूर्यप्रज्ञप्ति-श्रीचन्द्रप्रज्ञप्ति-श्री-ज्योतिषकरण्डक** आदि ग्रन्थरत्नो अग्रस्थान धरावे छे. तदनुसार **श्रीलग्नशुद्धि-श्रीदिनशुद्धि-श्रीनारचन्द्र** विगेरे ग्रंथो, अगाधज्ञानावगाहक प्राचीन आचार्यपुङ्गवोए रच्या छे. तेज शैलीने अनुलक्षीने–श्रीनागेन्द्रगच्छगगनविभूषण श्रीमत् शीलगुणसूरि प्रवरनी परम्परागत श्रीदेवचन्द्रसूरि–श्रीमहेन्द्रसूरि–श्रीआनन्द-सूरि–श्री–कलिकालगौतमना बिरुदधर–श्रीहरिभद्रसूरि महाराजना पट्टद्योतक–श्रीविजयसेनसूरिजी महाराज थया. तेओश्रीना शिष्यरत्न–श्रीधर्म्माभ्युदयमहाकाव्य उपदेशमालाकर्णिकावृत्ति आदि ग्रन्थोना रचयिता श्रीमान् **उदयप्रभदेवसूरीश्वरे** आ ग्रन्थनी सुरचना करी छे. तेओश्रीना शिष्य श्रीमान् मल्लिषेणसूरि महाराज थया, जेमणे द्वात्रिंशिकानी स्याद्वादमञ्जरी नामक न्यायपूर्ण एक सुंदर शैलीवाळी टीका बनावी छे. आ ग्रन्थना श्लोकोनी गहनतानो सुलभ बोध करावबा माटे घणीज आकर्षक बोधक अने सरळ पद्धतिथी–षडावश्यक बालावबोधना कर्त्ता तथा व्याकरणविषयक–समग्रन्यायोना सङ्ग्रहिता तथा तेज न्यायसङ्ग्रहनी उपर बृहद्वृत्ति तथा बृहन्न्यासना कर्त्ता–वाचकाग्रणीय **श्रीमद्हेमहंसगणिवरे** आ ग्रन्थनी महान टीका बनावी स्वज्योतिर्ज्ञानार्णवने ठल्व्यो छे. ग्रन्थकारने राजा वीरधवलना महामंत्रीश्वर सङ्घपति वस्तुपाले बहु ठाठथी आचार्यपदारोपण तेओश्रीना प्रतिभावैभवने देखीने कराव्युं हतुं. ज्यारे टीका **सं. १५१४मां** रचाइ हती. ज्योतिर्विद्याना अभिलाषुक विपश्चिद्वृन्दने ते अतीव उपयोगी होइने वर्त्तमानमां अलभ्य होवाथी आ ग्रन्थ सुज्ञ जनता समक्ष रजु कराय छे.

स्वाध्याय–यज्ञ आदरता साधु या साध्वीगणना उपकार माटे कर्ताए आ ग्रन्थ बनाव्यो छे. तेमज श्रुत पारदर्शी बनवा माटे साधुसमाजने जेटला प्रमाणमां सैद्धान्तिक विषय जरुरी छे, गणितज्ञान जरुरी छे, कर्मव्यवस्था सप्रपञ्च जाणवी जरुरी छे, प्रभुना भक्तिरसमां तल्लीनता मेळववा सङ्गीतनुं लय अने मात्राओवुं ज्ञान सापेक्ष छे, तेटलीज आवश्यकता आ ज्योतिर्विद्यानी छे. जैनागमोमां ते विद्याना स्वतन्त्र मोटा ग्रन्थो छे, जेमां सूर्यप्रज्ञप्तिना पृ. २७१मे गा. २१ मीमां जणाववामां आव्युं छे के–"मानवोने सुख दुःखना प्रकारो अने तेमां थता फेरफारो, चन्द्र, सूर्य, नक्षत्रो अने महाग्रहोना चार विशेषथी थाय छे. ते सुख दुःख जो के कर्मजनित छे, परंतु दीपकवत् आ ज्योतिर्ग्रन्थ तेनो द्योतक छे. एटले विकसित मानसवाळा साधुसमाजने आ विद्यानुं पठन पाठन उपयोगि छे. जेम बुद्धिशाळी साधुओने काव्यशक्ति लेखनशक्ति तथा वक्तृत्वशक्ति आदि खीलववानी जरुर छे, तेवीज रीते वस्तु–स्तोमना भाविभावने जाणवामां निमित्तभूत आ ज्योतिर्विद्या पण जाणवानी जरुर छे. ते प्राथमिकज्ञानना अभ्यासीवर्ग माटे प्रस्तुत संस्करणनी उपयोगिता विशेषे करी लाभकारी निवडशे ! ! यद्यपि वारनी मान्यतामां, नक्षत्रोनी तारा संख्यामां, यात्रादिमां जोवाना दिग्द्वारकनक्षत्रोमां तथा तेवी अनेक बाबतोमां सूर्यप्रज्ञप्ति–दिनशुद्धि तेम आ ग्रन्थ विगेरेमां समानता देखवामां आवती नथी, जेनुं याथातथ्यतत्त्व केवलीगम्य छे, तोपण आ ग्रन्थमांथी ज्योतिर्विद्यानो घणोखरोभाग अभ्यासीवर्ग स्वायत्त करी शके छे, ए निर्विवाद छे!

खास करीने ग्रन्थकार एक वात उपर घणोज भार मूके छे ते जणाववुं जरुरी छे. ते एज छे के, सावद्यक्रियावलम्बी पुरुषो आ ग्रन्थना अनधिकारी छे–साधुवर्गमांथी पण निरवद्य लाभ माटेज आ ग्रन्थनो के ग्रन्थनी पङ्क्तिनो उपयोग करवो. योग्य अने लायकनेज ते भणाववा गुरुओने ग्रन्थकार भलामण करे छे, भणनार माटे पण त्यां सुधी लखे छे, के तेओए एकान्तमां भणवुं, के जे सांभळीने कोइ दुरुपयोग न करे. जैनमन्दिरादिना खात विगेरेना मुहूर्त्त पण, जेम विवाहादिना मुहूर्त्तो पोतानी मेळे संसारीओ कढावे छे, तेम कढावे ! ज्यारे निरवद्याचारी महाव्रतधारी महानुभावो तो, तेमां गुणदोषविषयक चर्चा करी, दोषो बतावी तेनी शुद्धता मात्रज बतावे ! ते वात आ पुस्तक भणनार वर्ग जरुर ध्यानमां राखे ! तेथीज ज्ञानानन्दना व्योमविहारी अने छद्मा–

सातमा गुणठाणानी उंचेरी टेकरीओनी विमळ–वायु–लहरीओनी आबोहवानो आभोग इच्छनार जिज्ञासुओए सदुपयोगज करवो, एटले तेवो काबु धरावता होय, तेओज आमां प्रवेश करे! एवी म्हारी पण वांचको प्रत्ये विनम्र अभ्यर्थना छे.

टीकाकार महर्षिए पण ग्रन्थकारना अभिप्रायोने, घणा घणा ग्रन्थोनुं पर्यालोचन करी सारभूत मतान्तरोने दर्शावी विशेष व्यक्त कर्या छे, अने ते गण-कगणना विविध प्रमाणदर्शक अभिप्रायोने प्रतिपादन करी सम्पूर्ण रीते ग्रन्थनो पुष्टी करी छे. जे सविस्तर पाछल परिशिष्ट ब थी समजाशे.

आ ग्रन्थ भावनगरथी श्रीयुत् पुरुषोत्तमदास गीगाभाइ तरफथी प्रकाशित थयेला ग्रन्थना आधारे घणाभागे पुनः मुद्रित करावाय छे.

विमर्शोमां आवती विगतो अमो स्थलसङ्कोचना कारणे आपी शकता नथी, पण अनुक्रमणिका बहु सरळ होवाथी तेमांथी समजी शकाय तेवुं छे. एक सूचना करवी ठीक लागे छे, के नाना अक्षरो लखवामां के वांचवामां आंखोने अहितकर नीवडे छे, एटले आ ग्रन्थ पण एकीटसे, घणो टाइम वांचतां अभ्यासीवर्ग विचार करे! प्रस्तुत ग्रन्थमाला पासे एवुं मोटुं कोइ फन्ड नथी, छतां उदार सखी–गृहस्थोना अने परमोपकारी मुनिमण्डलना सहाथी अनेक प्रकाशनो प्रस्तुत ग्रन्थमालाए बहार पाड्या छे जेमां तेना अवैतनीक कार्यकर्ता **चन्दुलाल जमनादास** पण सारो आत्मभोग आपे छे— जेथी संस्थानुं कार्य अविरत चाले छे अने चालशे!

प्रस्तुत ग्रन्थनुं संशोधन कार्य म्हारा हस्तक बीजा विमर्श लगभगथी आव्युं, तेमां पण थोडो वखत तो हुं आ सम्पादनकार्यमां तद्दन अजाण हतो अने नव्य अभ्यासी होवाथी त्रुटियो जरुर रही हशे, अने पछीथी पण ते कार्य म्हारा जेवा अल्पमति माटे भगीरथ गणाय ए निःशङ्क छे. पण न मालुम ए कृपासिन्धु आचार्यदेवेशना प्रभांशोथी चमकता जमणा हाथना हृदयङ्गम आशीर्वादनो सुप्रभाव के जेथी ए म्हारी कार्यनावा बेधडक अने निर्विघ्न रीते पारने चींधी शकी छे.

साथेसाथ एटलुं कह्या विना रही शकतो नथी के ते भवोद्धारक संसारनिस्तारक मारा अप्रतीम उपकारी सुगृहीतनामधेय कृपाम्बराभरण आचार्य महाराजानो सदानो हुं अस्सीम ऋणी छुं, के जेमना पुण्य नामे अनेक सेवासमाजो, स्नात्रमंडळो, अने प्रत्यक्ष आ संस्था प्राण टकावी रह्या छे—तेओश्रीनुं म्हारी उरतल उपर जे अमित अने अनिर्वचनीय उपकारवहेण वह्युं छे तथा सैद्धान्तिक, साहित्यविषयक अने कार्म्मग्रन्थिक क्षेत्रोमांना सञ्चार उपरान्त श्रीमती आरम्भसिद्धिद्वारा ज्योतिष जेवा—वहन अने सहन करवामां गहन एवा चार क्षेत्रमां पण सुलभताथी म्हारी अल्पमतिने बीजोप्ति न्याये जे थोडी पण गतिमान अने विकसित करी छे, ते उपकारने, अने साचा तेमज मीठा ज्ञानलवना प्रसादने यावद्देह भूली शकुं तेम नथी.... नथी........ने नथीज. अने तेओश्रीना ते कृपाना सुबलथीज म्हारुं आ विकट कार्य पण निकट थइ शक्युं छे.

हवे छेवटमां हुं एटलीज वांचकगण पासे आशा राखीश, के आ ग्रन्थमां सम्भवित अनेक भूलो, अशुद्धिओ, त्रुटिओ, स्खलनाओ अने दोषो, म्हारा छाद्मस्थ्य—के प्रामादिक कारणने अंगे, सामग्री अभावना कारणे, अथवा तो प्रेसना कारणे शुद्धिपत्रकमां आप्या उपरांत पण रह्या होय, ते सुधारीने वांचवा प्रकृतिकृपालु विपश्चिद्वृन्द कृपा करे ! एक मोटी भूल सुधारवा जेवी छे, जे पृ. २४४—८ मां नेयं छपायुं छे ते स्थाने नेह समजवुं.

आ उपरांत म्हारा आ कार्यनी सफळता प्राप्त करवामां जे उपकारनिधान पूजनीय मुनिराजोए—पूज्य हेमेन्द्रविजयजी महाराज पूज्य विक्रमविजयजी महाराज तथा पूज्य ललिताङ्गविजयजी महाराज विगेरेए सहायक साथ म्हने आप्यो छे, ते बदल तेमनो तथा पूज्यपाद गुणरत्ननिधि—शासनप्रभावक श्रीमद्विजयक्षमाभद्रसूरिजी महाराजे श्लोको अर्पण कर्या ते बदल तेओश्रीनी पण उपकृति मानवापूर्वक आ कलमने विराम आपुं छुं.

महर्द्धिक ऋषिपुङ्गवोना सुप्रसादेच्छुक
मुनि जितेन्द्रविजय.

विषयानुक्रमः ।

II गोचरद्वारे ६

III कार्यद्वारे ७

IV गमद्वारे ८

IV वास्तुद्वारे ९

V विलग्नद्वारे । १०

V मिश्रद्वारे । ११

V ग्रन्थरहस्यसमर्थनविभागे ११

॥ समाप्तो विषयानुक्रमः ॥

आभारदर्शन

प्रातःस्मरणीय पूज्यपाद परम शासनप्रभावक सूरिसार्वभौमजैनरत्न व्याख्यानवाचस्पति कविकुलकिरीट आचार्यश्रीमद्विजयलब्धिसूरीश्वरजी माहाराजके सुपट्टप्रभावक जैनाचार्य श्रीमद्विजयगंभीरसूरीश्वरजी महाराजने श्रीआरम्भसिद्धि ग्रन्थको प्रकाशित करवानेमें भरसक प्रयत्न किया है, और उन्हींका कठिन परिश्रम है कि आज यह ग्रन्थ हमारे हाथमें है, इसलिये मैं उनका खास आभार मानता हुं.

साथही व्या० वा० पूज्यपाद जैनाचार्य श्रीमद्विजयलब्धिसूरीश्वरजी माहाराजके शिष्य पन्यासप्रवर श्रीप्रवीणविजयजी महाराजके शिष्य मुनिप्रवर श्रीमहिमाविजयजी महाराजके शिष्य मुनि श्रीजितेन्द्रविजयजी महाराजने अपना अमूल्य समय देकर इस ग्रन्थके संशोधनमें भारी परिश्रम किया है, उसके लिये भी मैं उक्त मुनिश्रीका आभार मानता हुं. साथही साथ उक्त मुनिश्रीके कार्यमें मुनिराज श्रीहेमेन्द्रविजयजी, मुनिराज श्रीविक्रमविजयजी, मुनिराज श्रीललिताङ्गविजयजी महाराज आदिनेभी अच्छा सहयोग प्रदान किया हैं, अत एव इसके लिये उनकाभी मैं आभार मानता हुं.

—: निवेदक :—

चंदूलाल जमनादास. मु. छाणी

॥ शुद्धि-सूचन ॥

(बुकाकारानुसारेण)

पृ. पं.	अशुद्ध	शुद्ध
१- ७	मींव	जींव
२- १	योऽपर	योऽपरापर
२-१४	व्यक्ति	व्वक्रिय
३- ५	वो ह्रः	वो ह्रुः
३- ६	शंभुत	शम्भुस्त
३- ८	परब्रह्म	परमब्रह्म
४- १	द्विधा	द्विधा
४- ८	रद्वयं	रद्वयं
४-१९	नवा	ववास्तु
४-२१	बन्धात	बन्धघात
४-२१	शास्त्रादि	शास्त्रादि
६- ५	प्राह्मैव	प्राह्मैव
७- ९	योमेच	योगे च
७-२१	द्विती	द्विती
९- ६	शन्यतर	शन्यभ्यतर
९-१२	क्रराः	क्रूरा:
९-१४	तस्यपुंस:	तस्य पुंसः
९-२१	१४	४
१०-१०	वृत्तिः	वृत्तिः १।
१०-२१	नृप	वृष
११-१०	वदा	यदा
११-११	५१ ॥	॥ १ ॥
१२- १	११	१२
१२- ३	स्वाद्व जं	स्वाद्वजंना
१३-१२	कठ यंत्रंक	कण्ठ यंत्रक
१४- २	ते	ते।
१४-१६	वटीका	घटीका
१४-२३	डिधद	डिध ४ दशे
१४-२४	॥ १ ॥	॥ १४ ॥
१६- ९	नेयं	नेयम्।
१६-१८	एषामिति:	एषा मितिः
,,	तद्व	तदूर्ध्वं
१६-१९	एका	श्लोकोऽयम्
१८-११	शक्षो	शक्षौ
१८-१५	पधा-गुरो	षधा-गुरौ
१८-१६	क्ररं	क्रूरं
१८-२३	सो-पधे	सौ-षधे
१९-२९	वारेपु	वारेषु
२१-१थी८	डबल छपाइ छे	डीसमीस करो
२१- ९	दोका	दो काळ
२१-१२	महा ना	महाना
२१-२६	दिवा	दिवा
२२- ७	कलिक	कुलिक
२२-११	ब्राह्मः	ब्राह्मः
२२-१८	थदि	थ दिवा
२२-१८-१९	आ लींटीओ	यन्त्रनी नीचे जोइये
२३-१८	जओ	जओ
२३-१९	लग्न	लग्नं
२३-२१	वारक्ष	वारर्क्षं
२४- ९	रिनि	रिति
२४-११-२	वारं-वारं	वारे-वारं
२४-१७	कृतिका	कृत्तिका
२५- ६	थोतरा	थोत्तरा
२६-११	व्वव्यभि	व्वभि

शुद्धिपत्रकम्

पृ. पं.	अशुद्ध	शुद्ध
२८-१४-१५	मिमीसैर	भिमसिर
२९- ७	कमति	कमिति
२९-१२	चरेसु आ	चरे सुहा
२९-१३	मिसेस्ससं	मिस्से संधि
२९-१५	क्रू'दि	क्रूरोदि
२९-१६	मिश्र ध्रुव:	मिश्रै ध्रुवैः
२९--१९	२ १	१ २
२९-२०	तिक्ष्ण	तीक्ष्ण
२९-२५	मानन्भित	मामनन्वित
३०-११	पै-खण्ड	पो-खण्ड
३१- ९	५८	२८
३१-१३	षक्रम्	षट्कम्
३१-१४	जिन्नय	जिन्नय
३१-१४	क्वानि	क्वानि ८
३१-१६	पैष्ण	पौष्ण
३१-१९	असिणि	अस्सिणि
३१-२२	पुणवसु	पुणव्वसु
३२- ७	रब्या	रब्या
३२-११	शद्दा	शब्दा
३२-१३	ध्योर्वा	ध्योर्वा
३२-१५	चाक	चार्के
३२-१४	कंस्थं	कस्थ
३२-२१	पुष्य	पुष्य
३३- १	वासा	वाषा
३३-१२	शद्वेन	शब्देन
३३-२३	१ पूर्वा	१ शतभिषा
३५-२०	विजसुके	विजसुक्के
३५-२१	एएसि वया	एए संवट्टया
३६-२२	कर्के	कर्के
३७- १	दिभै	दिभैः
३७- २	रक्षणं	कक्षणं
३७- ४	योगः	योगः ।
३७- ७	जस्सय	'जेसिं'इत्यपि
३७- ९	स्नेहं	स्नेह
३७-१३	जीवा	[1]जीवा
३७-२०	धांतृ	द्वांतृ
३७-२६	१ जीवस्थाने रविः कथितः नारचन्द्रे ।	
३८-२४	त्रिभा	त्रिभा
३९- ८	घठ्यौ	घठ्यो
३९-१८	मे	मेष
४०- १	नरा	नरो
४०- ५	भरई	मरइ
४०-१५	रपला	सपला
४०-१६	ब्वप्य	ब्वप्युभय
४०-२१	पृ. ४१ गतप्रथम-स्थापना अत्र ज्ञेया ।	
४०-२५	मास छगि	मासछगि
४१- १	एषा पङ्क्तिः द्वितीय-स्थापनोपरि ज्ञेया	
४१- ४	एषा पङ्क्तिः द्वितीय-स्थापनाऽनन्तरं ज्ञेया	
४१- ९	विजआए	विजयाए
४१- ९	दिनशुद्धौ तु	सुहस्थाने सवणा दृश्यते, न च अभिइ
४१- ९	पुस्ससिणि	पुस्सस्सिणि
४१-१२	पइपद्वा	पइट्ठाप
४१-१२	दिनशुद्धौ तु चोराड— इत्यादि स्थाने--सुहकज्जे वज्जए मइमं इति— दृश्यते ॥	
४१-१९	१	११
४१-२३	फग्गु अक	फग्गुअ क
४२- ६	उ सुहो	अ सुहो

४२-१२ भिति मिति
४३-२१ वर ३ व २३
४५- १ न्द्रोभ न्द्रोर्भ
४५- ५ त्यह त्यहं
४६- २ धम्र धूम्र
४८- ३ लंवको लुम्पको
४८- ७ यदिति श्लोकमारभ्य पृ. ५७ पर्यन्तं लिखिता श्लोकसंख्या सैकाधिका द्रष्टव्या. इति योगद्वारे श्लोका: समग्रेण८४॥
४८-२१ वधृ वैधृ
५०- ४ मेवस्था मेव स्था
५१- १ सु संसमु सूर्यः सम्मु
५२- ३ वेध वेध
५२- ७ यंक् च सह यंक् च सह
५३-१५ क्रूरस्तु क्रैरस्तु

५४-१२ वे"। वि ते। वे विलोक्यते"
५५-१२ साद्वै साद्वै
५५-१४ द्वादशं द्वादसं
५६- ९ भस्य बलस्य
५६-११ रेत्वे रे त्वे
५७-१९ मशा मर्शो
५९- १ प्रथम विमर्शो द्वितीयो विमर्शः पृ. ७५ यावदेवं पठनीयम्
५९-१८ नूशि: नूराशिः
५९-२२ शेस्तु शेवस्तु
५९-२५ वनपे वनपे
६०- ६ विनेध विरोध
६०-२२ ावं एवं
६०-२५ याध यार्धे
६१- २ क्रूरा क्रूराऽ
६१- ४ कर्व: कर्कः

६१- ६ पुसु पुंसु
६३- ४ गृहप्रो गृहं प्रो
६३- ८ कक कर्कं
६३-११ नीचानि नीचांशाः
६३-१२ लिङ्गों लिंङ्गा
६३-१६ त्रिश त्रिंश
६४- ७ धंच क्री धं चक्री
६४- ८ रुचे रुचै
६७- ३ द्वादशा द्वादशा
६७-१० श्रेत्पा श्लेषा
६७-२५ कर क्रूर
६८-११ तमा त्तमा
६९- ४ थानफलं स्थानफलं
७२-१३ पृ. ७३ गतनवांशयन्त्रं १३ पंक्ति-अनन्तरं अस्तु ।
७३- १ राश्यः राशयः

७४-२० द्विकु-मित्रां द्विकु-मित्रां
७५-२६ तूल्यं तुल्यं
७५-२८ सिग्धो स्निग्धो
७६- ८ द्वि बला: द्वि बलाः
७६-१८ स्वाभा स्वाभा
७६-२४-२५ विंशो विंशो विंशो विंशो त्रिंशो विंशो
७७-१६ शत्र् शत्रू
७८- ६ मं-गू मंगु
७८-१७ रवीन्दू रवीन्दु
७९- ४ कंमे क्रमे
७९- ४ ९-४ ९-४
८०- १ धर्मात् नूर्नि धर्म तनुनि
८०-२३ ८,१०,१२ ८,१०,११
८१- २ इदं यन्त्रकं पृ. ८२-२१ पंक्तौ अस्तु

पृ. पं.	अशुध्ध	शुध्ध
८५- ९	नवमपंक्ति-अनन्तरं	तारा-यन्त्रं ज्ञेयम्
९०- २	१५	५१
९२-२४	यावद्भ्यो	यावद्भ्यो
९६- २	प्रकानिश्वास	प्रवालानिश्वस
९१- ४	मणीनूव	मणीनू व
९६-१०	प्रक्षिप्य	प्रक्षिप्य
९९- १	द्वितीयशब्दस्थाने तृतीयो इति पृ. १०७-१ यावत् अस्तु.	
९९- ६	न्युत्तसः	न्युत्तराः
१००-१६	नि	नि ४
१००-१७	स्यज	स्य ज
१०३-१९	मका	मूला
१०५-१४	षष्टिका	षष्ठिका
१०५-१५	गुके षष्टि	गुके षष्ठि
१०५-१६	क्रमेणै	क्रमेणै

पृ. पं.	अशुध्ध	शुध्ध
१०६-२३	न मे लोवि	न मेलो वि
१०७- ८	रक्षसो	रक्षसोः
११२-२४	सदेहः	संदेहः
११३-२६	नाडि	नाडी
११४-१८	क्षी दूर	क्षीदूर
११५-२२-३	रिक्खे रिक्खं	रिक्खं रिक्खं
११६-१५	षक	षक्
११६-१७	श्विनीऽनु श्विनी	चित्राऽनु
११६-२७	बलं	बहुलं
११७-१०	दिक्ख	दिक्ख
११७-१३	सुक्ख	सुक्ख
११९-११	पक्ष	पक्ष
१२०-२४	ऽातंग	ऽस्तङ्ग...
१२१-१०	शुक	शुक्र
१२२-१९	स्थेरवा	स्थे रवा
१२३-१२	रक्त	रक्तं

पृ. पं.	अशुध्ध	शुध्ध
१२५-	यन्त्रे लाभविभागे वृत्तान्त	वृत्तान्तं
१२६-२६	धरे विभुअं	धरे वि भु
१२७- ७	शुंभाशु	शुभाशु
१२८-१२	मंगला	मांङ्गल्य
१३१- २	पूच्छ	पुच्छ
१३१-८-९	इदं। रसेव	एवं। रसे इ
१३१-२१	पून	पुन
१३२- २	पक्खं	पक्खं
१३२- ५	क्रूरःविष्टया	क्रूर विष्ट्या
१३२- ९	''लग्नं	''लग्नं''
१३२-११	आयाः	या
१३२-१३	शुक्र	शुक्रे
१३२-२५	स्थाने	स्थापने
१३२-३३	१ पद्ममविमर्शे	प्रथमश्लोके
१३५-३-५	सद्द सद्द	सद्द सद्द

पृ. पं.	अशुध्ध	शुध्ध
१३५-२१-२३	साम-श्रव	सोम-श्रव
१३६-११	क्षतमाला	क्षमाला
१३७- ९	निष्ठा ह-नीय	निष्ठाह-नीयं
१३७-२६	यंऽप-	यंडप-
१३७-२६	तहास नि	तहा सनि
	अत्र समुद्घार्य अस्तु	
१३७-२६-२७	अयं श्लोकः सम्पूर्णः लग्नशुद्धिकारस्य अष्टत्रिंशत्तमो अस्ति, न तु हर्षप्रकाशस्य, चिन्त्यमेतत् ।	
१३८- ९	साधयक्षि	साधयेक्षि
१३८-१०	तेरसि पंचमि	पंचमितेरसि
१३८-१४	सलुक-ल्लिका	सलुक। ल्लिका

पृ. पं.	अशुद्ध	शुद्ध
१३८–१५	रक्षेणं आह	क्खेणं आरो
१३८–१५	सुक्ख	सुक्ख
१३९–२३	कृत्तिक	कृत्तिकादि
१४०–१५	कृतिक	कृत्तिका
१४०–२३	ब्राह्मया	ब्र्ंह्मया
१४१–५१	दक्की	दिक्की
१४१–१८	दख्खिण	दक्खिण
१४१–३०	दध्या	दध्या
१४२– ५	बेररक्षो	बेर-वह्नि-रक्षो
१४२– ५	त्तरनै	त्तराग्निनै
१४२–१६	शुक्लपक्ष	शुक्लपक्षे
१४२–१९	तिथि चतु	तिथिचतु
१४२–२२	५–१५	५–३०
१४३– ५	चउ व पुर	चउव–पर
१४३–२८	दाऽधः	दाऽधः
१४३–२९–३०	अयं श्लोकः	दिनशुद्धौ
		न दृश्यतैव ॥ आ श्लोकनी
		तुरतज पृ १४४ नुं काल-
		स्थापना यन्त्र जोइए.
१४४– ८	षष्ठया	षष्ठ्या
१४४–२२	पृष्टतो–यर्यं	पृष्ठतो–वर्यं
१४४–२३	षष्ठ्यां	षष्ठ्यां
१४५– ७	ससी सम्मुहो	ससी उदओ
१४५–१३	अतिश	अपिश
१४६–१२	दिरथे	दिस्थे
१४६–३१	पनद्र	पद्रत्र
१४८– ४	नारचद्रे	नारचन्द्र
१४८-७-२९	च न्द्र–शुक्र	चन्द्र–शुक्रं
१४९– २	त्याज्थ	त्याज्य
१५६–२६	विमुंक्ता	विमुक्ता
१५७–१४	स्या	स्या
१५९–३०	वपिन्ति	वपि हन्ति
१६०–१२	ध्यष्टा	द्व्यष्टा
१६२–१३	स्त्रक्षौं च	स्वर्क्षौच
१६३– ३	रूव	रूपम्
१६६– ७	वारैरि	वाद्वैरि
१६८–१०	मेतैप्र	मेतैप्रं
१६८–२२	विलप्रे	विलग्ने
१७०–२३	श्र स्वार:	श्रस्वार:
१७२–२९	चतुण	चतुर्णां
१७९–१०	पृथ्वी क्रा	पृथ्वी क्रूरा
१७९-१४-१५	वेजीव:-क्रो	वेजीव:-क्रूरो
१८०– ७	योगाश्व	योगाश्च
१८५–१४	पक्तौ	षड्क्तौ
१८५– ९	तोऽय	ततोऽय
१८७– ८	अध	अथ
१८८–२९	चध्रि	च ध्रि
१९२– ४	वलि	वलि
१९९– ३	कूत	क्रूर
२०१–११	मबला:	सबला:
२०३– ४	लाग-तिज्यो	लग-ति ज्यो
२०३–२२	वज्जिज्जंति	वज्जिज्जा तह
२०३–२०	पातवि ष्टि	पातविष्टि
२०४– ६	दशदशम	दशमा
२०४–२२	ममं	समं
२०९	यन्त्रं	२१० पञ्चमपङ्क्त्यन-
		न्तरं अस्तु.
२१०– ३	गहो जस्स उ	गच्छइ
		जस्स गहो वच्चइ
२१४–२७	नहतस्य	न हतस्य
२१५–२६	तिथि:	तिथे:
२२४–२१	धरा	धरो
२२५– ३	कुंभ कायं	कुम्भं–कार्यं
२२५–२९	शाम्य	शाभ्य

पृ. पं.	अशुद्ध	शुद्ध
२२६– ४	येऽश–तिथोशो	येऽंशो तिथोऽंशो
२२६--१३	दा लग्नं	दा तादृशं लग्नं १
२२६	यन्त्रे ५-४-अ१	४-५ ११ मं-अं७
२२६–१९	वृष्यमाणं स्या	भूष्यमाणं स्या
२२६–२८	वादिक:	वाधिकः
२२७–२०	नारच-उदासी	नारचं-उदासी
२२७ २९	स्यर्थः स	स्यर्थः । स
२२८–१–२१	५–७	६–८
२२८–२९	७–१०	७–९–१०
२२९-४-१९	दिक्ख दिक्खं	दिक्ख दिक्खं
२२९–२९	लग्नं शु.	लग्नशु.
२३०–१०	योभङ्गः	योभंङ्गः
२३०–२१	शुक्रशनी	सूर्यशनी
२३३	कुण्डलिकायां १० गु	शु.
२३३–१८	मात् ००	मात् १०
२३४– ५	सङ्ख्यं	सङ्ख्यं
२३५-४-६	योयाः-रविगु	योगाः-रविरु
२४१–३–१७	सदग्र-प्रती	सद्ग्र-प्रति
२४१–२६	स्वास्त्र	स्वस्य
२४१–३१	क्रयु	क्रूयु
२४३– ९	थुनकर्वा	थुनकर्का
२४३–१०–११	तशु-राशि	स्तशु-राशि
२४३	कुण्डल्यां अंश ३ शुक्र	६।३शु अं६
२४३–२५	शेपः	शेषः
२४४–१–२	स्व स्वा-शंषो	स्त्रस्त्राः शेषो
२४४– ८	मयं नेग्र	मय नेह
२४४–१३	राम्वु	राम्बु
२४४–२१	सङ्ख्यं	सङ्ख्यं
२४८– १	ग्वर्तु	खर्त्तु
२४८– ३	ऽकंस्य	ऽर्कस्य
२५०–२४	लग्नैभु	लग्नैर्भु
२५२–२८	तदंसक’	तदंशक’
२५४–१७	द्विग्र	द्विग्रि
२५५-२७-८-३०	फले घनूनं	पले-मूनं पले
२६२–१–२	आ बे लीटी	यन्त्र पछी मूको.
२६२–२८	भवन	भवनं
२६५–२८	स्त्रगा	स्वगा
२६८–२७	क्षितजे	क्षितिजे
२७१– ९	साधंघटी	साधं घटी
२८२–१५	सुग्व	सुख
२८४–१–१	विवाहे	विवाह
२८५–२–११	य सुख	यसुखं
२८८–२३	२१६–७६	२१६–६
२९२–९–१५	दंष्टः-रेवता	दंष्ट्ः रेवती.

इति समाप्तं शुद्धि-सूचन.

श्रीगौतमस्वामिने नमो नमः

श्री आत्म-कमळ-लब्धिसूरीश्वरेभ्यो नमः

॥ श्रीउदयप्रभदेवसूरिविरचिता ॥

आरम्भसिद्धिः—सटीका

॥ अथ प्रथमो विमर्शः ॥

ॐ नमः श्रीसर्वज्ञाय ।

श्रीधर्मन्यायसम्यग्व्यवहृतियुवतेर्जीवलोकेन भर्त्रा, श्रेष्ठे तादृङ्मुहूर्ते परिणयनमिहाचीकरद्यो युगादौ ।
लीलायेते यथैतौ सततमवियुतौ सत्फलाढ्यौ स दत्तां, वस्तुं नः सिद्धिसौधे सुसमयमृषभस्वामिदैवज्ञराजः॥१॥
आदर्शेषु पुराऽपि सन्ति कतिचिद्व्याख्यालवाः केऽपि च, प्राप्ताः श्रीवरसोमसुन्दरगुरोः पादप्रसादान्नवाः ।
उक्तानुक्तदुरुक्तमर्थमथ तैरारम्भसिद्धेरहं, व्याकर्तुं स्वपरोपकारविधये तद्वार्तिकं प्रस्तुवे ॥ २ ॥

प्रथमविमर्शे टीकाकारस्य मंगलम् ग्रन्थरचनाधारवर्णनश्च

इह किल सकलत्रिवर्गयथाकामार्जनगर्जच्छ्रीगौर्जरजनपदमहीमहेन्द्रश्रीवीरधवलनरेन्द्रप्रदत्तसर्वव्यापाराधिकारेण श्रीशत्रुञ्जयोज्जयन्तार्बुदादि-महातीर्थेष्वर्बुदाम्बुजलवांदिसङ्ख्यस्ववित्तविनियोगतः खर्वीकृतकलियुगाहङ्कारेण नानादेशीयकविजननिबद्धस्तुतिभारसहिष्णुतसाहरधीरोदात्तललितगुणपरंप-रोपार्जितजगद्व्यापकयशःशरीरसंपदाऽप्यविनश्वरेण संघपतिश्रीवस्तुपालमंत्रीश्वरेण निर्मापिताचार्यपदप्रतिष्ठाः श्रीनागेन्द्रगच्छगरिष्ठाः सज्ज्ञानक्रियागुण-भूरयः श्रीमन्त उदयप्रभदेवसूरयोऽपरग्रन्थेष्वतिविप्रकीर्णया लौकिकलोकोत्तरकर्मगोचरज्योतिर्वक्तव्यतयाऽत्यन्तमायास्यमानं गणकगणमालोक्य तदुपका-राय सदोपयोगिसदर्थकुञ्चिकापणकरणिमेतं ग्रन्थमग्रन्थयन् । तैश्च मैतत्पाठिनां खंडखंडं पाण्डित्यं भूदिति सर्वकर्मालङ्कर्मीणतां स्वकृतेराधातुं कानिचित्सा-वद्यान्यपि कर्माण्यशेषनिबद्धानि अस्माभिरपि च धर्म्येषु कर्मसु एकान्ताभ्युदयमेव केवलमिच्छुभिस्तन्मुहूर्तेषु तल्लग्नेषु च बहुज्योतिर्विद्विवादापन्नगुण-दोषनिर्णयं स्फुटीकर्तुं बहुबहुज्योतिषाभिप्रायोपादानपूर्वमेतद्वार्तिकं कुर्वद्भिः सद्भिः पूर्वोक्तहेतोरेव तान्यपि व्याख्यास्यन्ते, परं सदसद्विवेकप्रवेकैकसेकैस्तानि निरूपणीयान्येव न पुनः सावद्यप्रवृत्तेभ्यः प्ररूपणीयानि । यदुक्तम्—

" यदेव साधकं धर्मे तद्वक्तव्यं वचस्विना । न त्वीषदपि बाधाकृदेषैव हि वचस्विता " ॥ १ ॥

ननु किं तर्हि तेषां ग्रन्थे ग्रथनस्य फलं ? इति चेदुच्यते—ज्ञप्तिरेव । ननु ज्ञप्तिः क्रिययैव फलवती, तद्वन्ध्या तु सा वन्ध्यार्जुनीव मार्जनीया । सत्यं, परं न केवलं क्रिययैव ज्ञप्तिः फलवती किंत्वकृत्येष्वक्रिययाऽपि, अन्यथा चौर्यपरनार्यादिपातकवेदितुर्विवेकिनः स्वज्ञप्तिसफलीकरणार्थं तत्क्रियास्वपि प्रवृत्तिः प्रसज्येत, ततोऽत्रापि सावद्यप्रवर्तनापरिहारेणैव तज्ज्ञप्तेः फलवत्त्वमुपकल्पनीयं । अत एवोच्यते—

ये सुविहिताः पदस्थाः प्रौढाः सावद्यवचनतो विरताः । तेषामेव ग्रन्थः सदाऽयमुपयोगितां लभताम् ॥ १ ॥ इति

अपि च श्रीजिनशासनप्रभावनादिविशेषफललाभापेक्षया क्वचिदपवादपदेन सावद्यकर्मप्ररूपणाया अप्यागमेऽनुज्ञातत्वात्समयविशेषे साव-

यकर्मंमुहूर्त्तादिज्ञसेरप्युपयोग इत्यलं विस्तरेण । अथ प्रकृतं प्रस्तूयते—

तत्त्वार्थमेव वक्ष्ये क्वचन विशेषं च सोपयोगमिह । तत्तदनुसारतोऽक्षरघटना सूत्रे स्वयं कार्या ॥ १ ॥

तत्र शास्त्रस्यादौ मङ्गलाभिधेयसंबन्धप्रयोजनानि वक्तव्यानीत्युक्तिप्रामाण्यादादौ मङ्गलार्थं समुचितेष्टदेवतानमस्कारमाह—

ॐ नमः सकलारम्भसिद्धिनिर्विघ्नवेधसे । अर्हणामर्हते साक्षादुपलम्भाय शंभवे ॥ १ ॥

व्याख्या—शं सुखाय भवतीत्येवंशीलः " शं स्वयंविप्राद्भुवो डुः " इत्यनेन डु प्रत्यये शंभुतस्मै शंभवे जिनाय नमोऽस्तु । ग्रन्थस्य सर्वपार्षदत्वार्थं श्लिष्टशब्दप्रयोगोऽयं । शंभवे किंभूताय ? ॐ अवतीत्यौणादिके मप्रत्यये ऊटि गुणे स्वरादित्वादव्ययत्वे च सिद्धिः तस्मै परब्रह्मरूपायेत्यर्थः । अत्र धुरि मातृकायामिव " ॐ नमः " इति पठितसिद्धमंत्रोपन्यासः । प्रयोजनं चास्य निर्विघ्नमिष्टार्थसिद्धिः । तथा सकलानां अर्थाच्छुभारम्भाणां सिद्धौ निर्विघ्नस्य विघ्नाभावस्य वेधसे स्रष्ट्रे , ध्यातृणामिति शेषः । अत्र युक्त्या ' आरम्भसिद्धिः ' इति ग्रन्थनामसूचा । तथाऽर्हणां पूजामर्हते ' अर्हाणामर्हते ' इति पाठे तु पूज्यानां पूज्याय । साक्षादुपलम्भो ज्ञानं यस्य यस्माद्वा तस्मै ॥१॥ अथाभिधेयसम्बन्धप्रयोजनान्याह—

दैवज्ञदीपकलिकां व्यवहारचर्यामारम्भसिद्धिमुदयप्रभदेव एताम् ।
शास्ति क्रमेण तिथि१ वार२ भ३ योग४ राशि५ गोचर्य६ कार्य७ गम८ वास्तु९ विलग्न१० मिश्रैः११ ॥२॥

व्याख्या—दैवज्ञानां गणकानां दीपकलिकामिव स्पष्टार्थप्रकाशितत्वात् । व्यवहारः शिष्टजनसमाचारः शुभतिथिवारभादिषु शुभकार्यकरणादिरूपस्तस्य चर्या इतिकर्तव्यतारूपाऽभिधेयतया यस्यां सा तां । एवं च व्यवहारचर्या इत्यनेनाभिधेयोक्तिः, तदुक्त्या चैतद्ग्रन्थस्य व्यवहारचर्या-

चात्र वाच्यवाचकभावसंबन्धोऽपि सूचितो ज्ञेयः, व्यवहारचर्येति चास्य ग्रन्थस्य नामान्तरं । प्रयोजनं च द्विधा–अनन्तरं परंपरं च । तत्रानन्तरमारम्भसिद्धिग्रन्थस्य प्रयोजनं श्रोतॄणां व्यवहारकौशलसिद्धिः परंपरं तु यथावद्व्यवहारप्रवृत्त्या धर्मार्थकामरूपाणां पुरुषार्थानां सिद्धिः, क्रमान्मोक्षपुरुषार्थस्यापीति । अथ पूर्वोक्तमेवाभिधेयं द्वारैर्विशिनष्टि–“ तिथिवारभेत्यादि ” तिथिः प्रतिपदादिः १ । वारो रव्यादिः २ । भमश्विन्यादिः ३ । योगः सिद्धियोगादिः ४ । राशिर्मेषादिः ५ । गोरिव चरणं ‘ चरे राडस्त्वगुरौ ’ इति यप्रत्यये गोचर्यं, पूर्वपूर्वराशित उत्तरोत्तरराशिसंचरणं ग्रहाणामित्यर्थः ६ । कार्यं विद्यारम्भादि ७ । गमो यात्रा ८ । वास्तु गृहहट्टप्रासादादि, तत्संबन्धात्तत्प्रवेशोऽप्यत्र ९ । इदं च गमवास्तुरूपं द्वारद्वयं बहुवक्तव्यतया कार्यद्वारात् पृथगुपन्यस्तं । विलग्नं लग्नाख्यस्तत्कालोदयाद्राशिः १० । मिश्रमुक्तानुक्तबहुद्वारवाच्यसङ्ग्रहरूपं ११ । एतैर्द्वारैः शास्तीति सम्बन्धः ॥

तत्रादौ तिथिमाह—

नन्दा भद्रा जया रिक्ता पूर्णा चेति त्रिरन्विता । हीना मध्योत्तमा शुक्ला कृष्णा तु व्यत्ययात्तिथिः ॥३॥

व्याख्या—“ त्रिरिति ” नन्दा भद्रेत्याद्यावृत्तिः पञ्चदशतिथिषु त्रीन् वारान् कार्या । एवं च प्रतिपत्षष्ठ्येकादश्यो नन्दाः द्वितीयासप्तमीद्वादश्यो भद्राः । तृतीयाष्टमीत्रयोदश्यो जयाः । चतुर्थीनवमीचतुर्दश्यो रिक्ताः । पञ्चमीदशमीपञ्चदश्यः पूर्णा इति सिद्धं । एषां नाम्ना किं प्रयोजनमित्याशङ्कायामाह–“ अन्वितेति ” सान्वया नामानुरूपं फलमासामित्यर्थः । अत एवाह श्रीपतिः–“ चित्रोत्सवनवास्तुक्षेत्रनृत्यादि आनन्दमयं कर्म नन्दासु १ । विवाहभूषाशकटाध्वयानशान्तिकपौष्टिकादि भद्रमयं कर्म भद्रासु २ । संग्रामसैन्याभियोगाद्यं जयकर्म जयासु ३ । वधबन्धघातविषाग्निशस्त्रादि रिक्तकर्मैव रिक्तासु नान्यत् किमपि ४ । विवाहदीक्षायात्रादि माङ्गल्यं कर्म पूर्णासु ५ कृतं सिध्यति । सामान्येन तु दर्शरिक्तादिवर्जं प्रायः सर्वासु शुभं कर्म कुर्यात् । दर्शे च तत्तिथिनिबद्धादवश्यकर्तव्यादन्यकर्म न कार्यं ” । लल्लस्त्वाह–“ स्युर्यन्त्रमन्त्ररक्षादीक्षाक्षुद्रेषु कर्मसु जाने रिक्ता-

दर्शाष्टम्यः शस्ता इति ” । “ हीना मध्योत्तमा शुक्लेत्यादि ” शुक्लपक्षे आद्यपञ्चतयी हीना, द्वितीया मध्या, तृतीया उत्तमा । कृष्णपक्षे तु व्यत्ययः. कथं? आद्यपञ्चतयी उत्तमा द्वितीया मध्या, तृतीया हीनेति । तिथिरिति सर्वत्र विशेष्यं योज्यं । तिथीशाश्चैवं रत्नमालोक्ताः—

“ तिथिपाश्चतुर्मुख १ विधातृ २ विष्णवो ३, यम ४ शीतदीधिति ५ विशाख ६ वज्रिणः ७ ।
वसु ८ नाग ९ धर्म १० शिव ११ तिग्मरश्मयो १२, मदनः १३ कलि १४ स्तदनुविश्व १५ इत्यपि ॥ १ ॥
तिथौ हि दर्शसंज्ञके पितॄनुशन्त्यधीश्वरान्. त्रयोदशीतृतीययोः स्मरन्तु चित्तपोऽपरैः ॥ २ ॥
वह्नि १ विरञ्चो २ गिरिजा ३ गणेशः ४, फणी ५ विशाखो, ६ दिनकृ ७ न्महेशः ८ ।
दुर्गा ९ न्तको १० विश्व ११ हरि १२ स्मराश्च १३, शर्वः १४ शशी १५ चेति पुराणदृष्टाः ॥ ३ ॥

एषां देवानां प्रतिष्ठादौ च तत्तत्तिथीनामुपयोगः । एवमेव वक्ष्यमाणनक्षत्रकरणक्षणेशानामपीति रत्नमालाभाष्ये । जिनस्य तु प्रतिष्ठादौ सर्वेऽपि तिथिनक्षत्रकरणक्षणाः शुद्धत्वे सत्युपयोगिन एव, तस्य सर्वदेवाधिदेवत्वात् ॥

अथ कुतिथीराह—

रिक्ता ४-९-१४ षष्ठ्यष्टमीद्वादश्यमावास्याः शुभे त्यजेत् । स्वीकुर्यान्नवमीं क्वापि न प्रवेशप्रवासयोः ॥ ४ ॥

व्याख्या—“शुभे इति” सौम्ये कार्ये । उग्रकार्यं त्वशुभतिथ्यादिषु विशिष्य सिध्यति । “त्यजेदिति” आसां सर्वासामपि पक्षच्छिद्रसंज्ञत्वात् ।

यदाहुः—“ षष्ठ्यष्टमीचतुर्थीचतुर्दशीद्वादशीकुहूनवमीः । पक्षच्छिद्राण्याहुर्लभते नैतेषु संसिद्धिम् ॥ १ ॥

षष्ठीद्वादश्यौ यात्रायां विशिष्याशुभे, “ ध्रुवे तु कर्मणि शुभे ” इति लल्लः । “ स्वीकुर्यादित्यादि ” रिक्तापि नवमी गुणान्तरबाहुल्ये

सति कश्चित्कार्ये ग्राह्या, गमागमयोस्तु न ग्राह्यैव । " चतुर्दश्यपि गमागमयोर्न ग्राह्येव " इति श्रीपतिः ॥

त्रीन् वारान् स्पृशती त्याज्या त्रिदिनस्पर्शिनी तिथिः । वारे तिथित्रयस्पर्शिन्यवमं मध्यमा च या ॥५॥

व्याख्या—यत्र तिथेर्वृद्धिस्तत्रैका तिथिर्वारत्रयं स्पृशतीति सा त्रिदिनस्पर्शिनी । तस्याः फल्गुरिति नाम हर्षप्रकाशग्रन्थे । यत्र तु तिथिपातस्तत्रैको वारस्तिस्रस्तिथीः स्पृशति । तासु या मध्यमा तिथिः साऽवममित्युच्यते । एते द्वे अपि त्याज्ये । यदुक्तम्—

" दिनक्षये भवेत् कार्यक्षयस्तेन शुभं न तत् । प्रकृत्यन्यत्वमुत्पातस्त्र्यहःस्पृक् तद्‌तोऽशुभम् " ॥ १ ॥

दग्धतिथिमाह—

दग्धामर्केण संक्रान्तौ राश्योरोजयुजोस्त्यजेत् । भूत ५ दृग् २ युक्तयोः शेषां शोधिते भगणे १२ तिथिम् ॥ ६ ॥

व्याख्या—संक्रान्तौ सत्यामोजयुजो राश्योर्भूतदृग्युक्तयोः सतोर्भगणे शोधिते सति शेषां तिथिमर्केण दग्धां त्यजेदित्यन्वयः । भावना चैवं—विषमराशौ मेष १ मिथुन ३ सिंह ५ तुला ७ धनुः ९ कुंभ ११ रूपे यद्यर्कसंक्रान्तिरस्ति, तदा तद्राश्यङ्कमध्ये " भूतेति " पञ्च क्षिप्त्वा भगणं राशिद्वादशकरूपमिति कृत्वा द्वादश शोध्यन्ते क्रुष्यन्ते । ततः शेषाङ्केनार्कदग्धतिथिर्ज्ञेया । यदि तु द्वादश न शुध्यन्ति, शेषं वा न तिष्ठेत्तदा पञ्चप्रक्षेपे यज्जातं तत्सङ्ख्यैव तिथिरर्कदग्धा । तथा युजि समराशौ वृष २ कर्क ४ कन्या ६ वृश्चिक ८ मकर १० मीन १२ रूपे यद्यर्कसंक्रान्तिरस्ति, तदा संक्रान्तिराश्यङ्कमध्ये "दृगिति" द्वयं क्षेप्यं, शेषं प्राग्वत् । उदाहरणं यथा—मेषराशिः प्रथम इत्येकाङ्को न्यस्यते १, एवमग्रेऽपि, ततस्तत्र पञ्चप्रक्षेपे जाताः षट् ६. एभ्यो द्वादश न शुध्यंतीति स्थिताः षडेव, ततो मेषस्थेऽर्के सति षष्ठ्येव दग्धा । तुलाराशिः सप्तमः ७, पञ्चयोगे द्वादश १२, अत्र द्वादश शुध्यन्ति परं शेषं न तिष्ठति, ततस्तुलास्थेऽर्के द्वादश्येव दग्धा । धनूराशिर्नवमः ९, पञ्चयोगे चतुर्दश १४, एभ्यो द्वादशशोधने

स्थितौ द्वाविति धनुःस्थे द्वितीया दग्धा । तथा वृषराशिर्द्वितीयः २, द्वियोगे चत्वारः ४ एभ्यो द्वादश न शुध्यन्तीति वृषस्थेऽर्के चतुर्थ्येव दग्धा । मकरराशिर्दशमः १०, द्वियोगे द्वादश १२, एभ्यो द्वादश शुध्यन्ति, परं शेषाभावान्मकरस्थेऽर्के द्वादश्येव दग्धा । मीनराशिर्द्वादशः १२, द्वियोगे चतुर्दश, एभ्यो द्वादशशोधने स्थितौ द्वाविति मीनस्थेऽर्के द्वितीया दग्धा । एवं शेषेष्वपि भाव्यं । सा च तिथिस्तं संक्रान्तिमासं यावत्त्याज्या ।

इदमेव सुखार्थं व्यक्तमाह—

दग्धाऽर्केण धनुर्मीने २ वृषकुंभे ४ ऽजकार्किणि ६ । द्वन्द्वकन्ये ८ मृगेन्द्रालौ १० तुलैणे १२ द्व्याद्रियुक्तिथिः॥७॥

व्याख्या—द्वन्द्वं मिथुनं । अलिर्वृश्चिकः । एणो मकरः । द्व्यादीत्यादि द्वितीयातः प्रभृति द्वादशीं यावत्समा तिथिः । विशेषस्तु—

"कुंभधणे २ अजमिहुणे ४ तुलसीहे ६ मयरमीण ८ विसकक्के १० । विच्छियकन्नासु १२ कमा बीआई समतिही उ ससिदड्ढा॥२॥

" अत्र ससिदड्ढ त्ति " यदा कुंभे धनुषि वा चन्द्रस्तदा द्वितीया चन्द्रदग्धेत्याद्यर्थः । इदं हर्षप्रकाशे । स्थापना—

अर्कदग्धा	तिथिः	चन्द्रदग्धा	तिथिः
धनुर्मीने	२	कुंभधनुषि	२
वृषकुंभे	४	मेषमिथुने	४
मेषकर्के	६	तुलासिंहे	६
मिथुनकन्ये	८	मकरमीने	८
सिंहवृश्चिके	१०	वृषकर्के	१०
तुलामकरे	१२	वृश्चिककन्ये	१२

दग्धतिथिजोऽर्भः प्रायः स्वल्पतरायुः स्यात् ।

" कुष्टं क्षौरेऽम्बरे दौःस्थ्यं गृहवेशे तु शून्यता । आयुधे मरणं यात्राकृष्युद्वाहा निरर्थकाः ॥ १ ॥"

इति दग्धतितिथिफलं यतिवल्लभे ।

क्रूरतिथिमाह—

त्रिशश्चतुर्णामपि मेषसिंहधन्वादिकानां क्रमतश्चतस्रः। पूर्णाश्चतुष्कत्रितयश्च तिस्रस्त्याज्या तिथिः क्रूरयुतस्य राशेः॥

व्याख्या—अत्र तुर्यपादस्यादौ एवमिति पदाध्याहारेऽर्थसंटंकः । तथाहि–मेषादिचतुष्कस्य क्रमात् प्रतिपदादितिथिचतुष्कं संबन्धि स्यात् । एवं सिंहादिचतुष्कस्य षष्ठ्यादिचतुष्कं, धनुरादिचतुष्कस्यैकादश्यादि चतुष्कं च । यास्तु पूर्णास्तिस्रस्तिथयः सन्ति तासामेकैका त्रिष्वपि चतुष्केषु प्रत्येकं संबन्धिनी स्यात् । कोऽर्थः ? मेषादिचतुर्षु प्रत्येकं पञ्चमी संबन्धिनी, सिंहादिचतुर्षु प्रत्येकं दशमी संबन्धिनी, धनुरादिचतुर्षु प्रत्येकं पञ्चदशी संबन्धिनी । स्थापना—

मेष	१–५	सिंह	६–१०	धन	११–१५
वृष	२–५	कन्या	७–१०	मकर	१२–१५
मिथुन	३–५	तुला	८–१०	कुंभ	१३–१५
कर्क	४–५	वृश्चिक	९–१०	मीन	१४–१५

एवं क्रूरयुतस्य राशेस्तिथिः त्याज्येति । ततोऽत्र मेषे प्रतिपत्पञ्चमी चेति । को भावः ? मेषे रविभौमशन्यतर(म)क्रूराक्रान्ते सति प्रतिपत्प-ञ्चमी च क्रूरतिथित्वात्त्याज्या । एवं वृषे द्वितीया पञ्चमी च, मिथुने तृतीया पञ्चमी च, कर्के चतुर्थी पञ्चमी च, सिंहे षष्ठी दशमी च, कन्यायां

सप्तमी दशमी च, तुलायामष्टमी दशमी च, वृश्चिके नवमी दशमी च, धनुष्येकादशी पञ्चदशी च, मकरे द्वादशी पञ्चदशी च, कुंभे त्रयोदशी पञ्चदशी च मीने चतुर्दशी पञ्चदशी च त्याज्याः । क्रूरयुतस्वेत्यत्र सावधारणं व्याख्येयं ततः केवलेन क्रूरेणाक्रान्ता मेषाद्या राशयश्चेत् तदैव तेषु यथोक्तास्तिथयः क्रूराः, सौम्ययुतेन तु क्रूरेण शुभा एवेत्यर्थः । यस्य नामराशिः क्रूरेणाक्रान्तोऽस्ति तस्यपुंसः शुभकार्ये तद्राशिसंबन्धिनी सा सा तिथिस्त्याज्येत्येके । अन्ये त्वाहुः–मेषे १–५ इति कोऽर्थः ? मेषे क्रूराक्रान्ते सति प्रतिपत्पञ्चम्योराद्याः पञ्चदश घट्यस्त्याज्याः । वृषे २–५ द्वितीयापञ्चम्योर्द्वितीयाः पञ्चदश घट्यः । मिथुने ३–५ तृतीयापञ्चम्योस्तृतीयाः पञ्चदश घट्यः । कर्के ४–५ चतुर्थीपञ्चम्योस्तुर्याः पञ्चदश घट्यः । एवं सिंहादिचतुष्कधन्वादिचतुष्कयोरपि ॥

तिथिनियतानि करणान्याह—

> करणान्यथ शकुनि १ चतुष्पद २ नागानि ३ क्रमाच्च किंस्तुघ्नम् १४ ।
> असितचतुर्दश्यर्धात्तिथ्यर्धेषु ध्रुवाणि चत्वारि ॥ ९ ॥

व्याख्या—यदा यावत्प्रमाणा तिथिस्तदा तदर्धमानानि सर्वकरणानि, तिथ्यर्धेष्विति वचनात् । असितेत्यादि कृष्णचतुर्दशीरात्रौ शकुनिः, अमावास्यायां दिवा चतुष्पदं, रात्रौ नागं, शुक्लप्रतिपदि दिवा किंस्तुघ्नं । ध्रुवाणीति नियतस्थानस्थत्वात् ।

> अथ बव १ बालव २ कौलव ३ तैतिल ४ गर ५ वणिज ६ विष्टयः ७ सप्त ।
> मासेऽष्टशश्चराणि स्युरुज्वलप्रतिपदन्त्यार्धात् ॥ १० ॥

व्याख्या—चराणीति प्रतिमासमष्टकृत्व आवृत्तेः । तथाहि–शुक्लप्रतिपद्रात्रौ बवं, द्वितीयायां दिवा बालवं, रात्रौ कौलवं, तृतीयायां दिवा

तथा शीतोष्णवर्षर्तुषु सूर्यसङ्क्रमाः क्रमेण सुप्तोर्ध्वनिवेशिनः शुभाः । तथा पूर्वोत्तरकरणद्वयसन्धिगा संक्रान्तिस्तु सुप्तोत्थितेत्याख्या सर्वदाप्यशुभेति पूर्णभद्रः ॥

विष्टेर्मुखाद्यङ्गान्याह—

बाण५ द्वि२ दिग्१० जलधि४ षट्६ त्रिक३ नाडिकासु, वक्त्रं१ गलो२ हृदय३ नाभि४ कटीश्च५ पुच्छम्६ ।
विष्टेर्विदध्युरिह कार्य १ वपुः २ स्व ३ बुद्धि ४ प्रेम ५ द्विषां ६ क्षयमिमेऽवयवाः क्रमेण ॥ १३ ॥

व्याख्या—त्रिकेति अत्र बाणद्विदिग्जलधिषट्त्रिशब्दानां द्वन्द्वं कृत्वा ततः स्वार्थिके के नाडिकाशब्देन सह कर्मधारयः । त्रिष्विति पाठस्त्वयुक्तः तिस्रादेशप्राप्तेः । कट इति कटी । कार्येत्यादि वक्त्रे कार्यहानिः, गले मृत्युः, हृदये द्रव्यनाशः, नाभौ बुद्धिनाशः, कट्यां प्रीतिनाशः, विष्टिपुच्छे तु ध्रुवं जयः ।

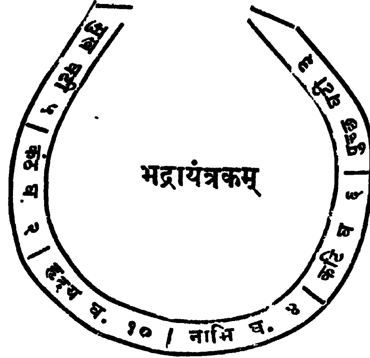
अत एवाह लल्लः—

" शुभाशुभानि कार्याणि यान्यसाध्यानि भूतले । नाडीत्रयमिते पुच्छे भद्रायास्तानि साधयेत् " ॥ १ ॥

पुच्छं चैवं—

" दशम्यामष्टम्यां प्रथमघटिकापञ्चकपरं, हरिद्यौ ११ सप्तम्यां त्रिदश १३ घटिकान्ते त्रिघटिकं ।
तृतीयायां राकासु च गतसविंशैक २१ घटिके, ध्रुवं विष्टेः पुच्छं शिवतिथि १४ चतुर्थ्योश्च विगलत् " ॥ १ ॥

अस्य भावनार्थं विष्टेर्मिलितमुखपुच्छंकुंडलाकारसर्प—वत्स्थापना यथा—



ततोऽयं भावः—दशम्यष्टम्योर्विष्टेः कटीसत्कद्वितीय घटीतः प्रारम्भस्ततो घटीपञ्चकादनु पुच्छं समेति, तदनु मुखादिशेषाङ्गानि यावत्कव्याः प्रथमघटी । एवमग्रेऽपि भाव्यं । एकादशीसप्तम्यो र्हृदयान्त्यघटीत्रयात्प्रारंभः, तृतीयाराकयोः कंठद्वितीयघटीतः प्रारंभः, चतुर्दशीचतुर्थ्योस्तु मुखे प्रारंभः । विगलदिति प्रान्ते च पुच्छमिति ।

"सर्पिणी वृश्चिकी भद्रा दिवारात्र्योः स्मृता क्रमात् ।
सर्पिण्या वदनं त्याज्यं वृश्चिकयाः पुच्छमेव च ॥ १ ॥"

इत्येके । शुक्ले पक्षे सार्पिणी. कृष्णे वृश्चिकीत्यन्ये । इह च विष्टेर्मुखाद्यङ्गेषु पञ्चादिघट्यो निरुद्धा एव यदुक्तास्तद्व्यवहारतः षष्टि ६० घटिके तिथौ त्रिंशद् ३० घटीमेव तिथ्यर्धं स्यादिति तदपेक्षयैव, अन्यथा तु न्यूनाधिकतिथिवशान्न्यूनाधिके तिथ्यर्धे पञ्चादिघट्यो न्यूनाधिका अपि स्युः तथाहि–जघन्ये चतुःपञ्चाशद् ५४ घटिके तिथौ तदर्धमानत्वाज्जघन्या सप्तविंशति २७ घटीका भद्रा । उत्कृष्टे षट्षष्टि ६६ घटीके तिथौ तु त्रयस्त्रिंशद् ३३ घटीका उत्कृष्टा । एवं मध्यमे तिथिमाने भद्रामानमपि मध्यं । घटी च षष्टि ६० पलमाना यदि त्रिंशता ३० भज्यते तदा पलद्वयं लभ्यते. ततो यथोक्ते त्रिंशद् घटीके भद्रामाने यावत्यो यावत्यो घट्यो यस्मिन् यस्मिन्नङ्गे सन्ति तावन्ति तावन्ति पलद्वयानि घटीं घटीं प्रति तस्मिँस्तस्मिन्नङ्गे हीयन्ते वर्धन्ते वा । कथं ? यदा त्रिशन्मध्यादेका घटी न्यूना एकोनत्रिंशद्घटीका भद्रेत्यर्थः तदा पञ्चघटीमिते भद्रावक्त्रे पञ्चपलद्वयानि, कोऽर्थः ? दश पलानि न्यूनीभूतानि, दशपलैर्न्यूनाः पञ्च घट्यो विष्टेर्वक्त्रमिति भावः । एवं द्विघटीमाने भद्रागले

द्वे पलद्वये न्यूने जाते पलचतुष्केण ऊनं घटीद्वयं विष्टेर्गलमिति भावः। एवं हृदये दश घट्यो दशभिः पलद्वयैर्विंशति २० पलरूपैर्न्यूनाः। एवं नाभौ चतुर्भिः पलद्वयैरष्टपलरूपैर्न्यूनं घटीचतुष्कं । एवं कट्यां षड् घट्यः षड्भिः पलद्वयैर्द्वादशपलरूपैर्न्यूनाः । एवं पुच्छे घटीत्रयं त्रिभिः पलद्वयैः षट्पलरूपैर्न्यूनमिति । इदं त्रिंशन्मध्यादेकघट्या न्यूनत्वे उक्तं । यदा तु त्रिंशन्मध्यात् द्वे घट्यौ न्यूने अष्टाविंशतिघटीका भद्रा स्यादित्यर्थः तदा एतदेव हानिमानं द्विगुणी कार्यं, कथं ? यथा एकघट्या न्यूनया वक्त्रे पञ्च पलद्वयानि दश पलरूपाणि न्यूनीभूतानि तथा घटीद्वयन्यूनतया भद्रावक्त्रे दश पलद्वयानि विंशतिपलरूपाणि न्यूनीभूतानीत्यादि । यदा तु त्रिंशन्मध्याद् घटीत्रयं न्यूनं सप्तविंशतिघटीका भद्रेत्यर्थः तदा तदेव हानिमानं त्रिगुणीकार्यं । यथा एकघट्या न्यूनया वक्त्रे पञ्च पलद्वयानि न्यूनानि तथा घटीत्रये न्यूने पञ्चदश १५ पलद्वयानि त्रिंशत् ३० पलरूपाणि न्यूनानीत्यादि । एवं त्रिंशदुपरि एकद्वित्रिघटीवृद्धावपि वाच्यं, नवरं यथा प्राग् न्यूनीभूतानीत्युक्तं तथाऽत्राधिभूतानीति वाच्यं । इदं प्रसङ्गाद्दर्शितम् ॥

भद्राया मुखमेकान्ततस्त्याज्यमित्यतो यात्रादौ यथा सा संमुखी स्यात् तथाह—

भद्रेन्द्रा १४ ष्टा ८ श्व ७ तिथ्य १५ ब्धिदशे १० शा ११ ग्नि ३ मिते तिथौ ।
दिग् ८ यामा८ष्टकयोर्नेष्टा संमुखी पृष्ठतः शुभा॥ १ ॥

व्याख्या—इन्द्राश्चतुर्दश चतुर्दश्यादितिथ्यष्टके पूर्वाद्यष्टदिक्षु यातां प्रथमादियामाष्टके यथासंख्यं भद्रा संमुखी स्यात् । स्थापना एतत्संग्रहोऽयं—

" धु जा हृ णी सिते पक्षे गृ छि नू ढ सितेतरे । व्यञ्जनैस्तिथयो ज्ञेयाः स्वरैश्च प्रहरा दिशः ॥ १ ॥

अत्र धु इति कोर्थः ? वर्त्तुर्थव्यञ्जनं ढः पञ्चमस्वरः. ततश्चतुर्थ्यां तिथौ पञ्चमयामे पञ्चमदिशि प्रतीच्यां यातां भद्रा संमुखी स्यात् । एवं

तिथि	दिक्	प्रहर
१४	पूर्व	१
८	अग्नि	२
७	दक्षिण	३
१५	नैर्ऋत्य	४
४	पश्चिम	५
१०	वायव्य	६
११	उत्तर	७
३	ईशान	८

जा इति जस्याष्टमव्यञ्जनत्वादाकारस्य च द्वितीयस्वरत्वादष्टम्यां तिथौ द्वितीययामे द्वितीयदिशि आग्नेय्यां यातां भद्रा संमुखीत्यादि तद्दिने तद्यामे तद्दिशि प्रयाणादिसर्वकार्यमवश्यं त्याज्यं। पृष्ठतः शुभेति यदा च यद्दिशि संमुखी तदा तद्दिशः पञ्चम्यां पञ्चम्यां दिशि यातां भद्रा पृष्ठतः स्यात्, सा दिक् शुभा ॥

इति तिथिद्वारम् ॥

॥ अथ वारः ॥ २

प्रथमं वारः कदा लगतीत्याह—

वारादिरुदयादूर्ध्वं पलैर्मेषादिगे रवौ। तुलादिगे त्वधस्त्रिंशत्तद्द्युमानान्तरार्धजैः ॥ १९ ॥

व्याख्या—मेषादिषट्कस्थेऽर्के सत्यर्कोदयादूर्ध्वमग्रत इत्यर्थः। वारादिरिति वारो लगति। तुलादिषट्कस्थे तूदयादधोऽर्वाग् रात्रिशेषे सतीत्यर्थः। कियत्कालेनेत्याह–त्रिंशदित्यादि स चासौ द्यौर्दिनस्तस्य मानं तद्द्युमानं त्रिंशच्च तद्द्युमानं च तयोरन्तरं विश्लेषस्तस्यार्धे जातैः पलैः। कोऽर्थः ? इष्टदिनस्य मानं त्रिंशतं च संस्थाप्य यद्यस्माच्छुध्यति तत्तस्माच्छोध्यते ततः शेषेऽर्धीकृते यस्यात्तावद्भिः पलैः। तथाहि–श्रीगौर्जरपत्तने उत्कृष्टं कर्कादिदिनमानं घटी ३३ पल ४८, अत्र षष्ट्यंकात् त्रिंशद्रूपस्य षष्ट्यंकस्य शोधने स्थितं घटी ३ पल ४८, अस्मिन्नर्धिते घटी १ पल ५४, पलीकरणार्थं षष्ट्यंकस्य षष्टि ६० गुणने ५४ क्षेपे च जातं पल ११४ मितैः कर्काद्यदिने सूर्योदयभवनानन्तरं वारो लगति। तथा तत्रैव पत्तने अधम्यं मकराद्यदिनमानं घटी २६ पल १२, त्रिंशन्मध्यात षष्ट्यंकस्य शोधने स्थितं घटी ३ पल ४८, प्राग्वदर्धिते पलीकृते च ११४ पलैर्मकराद्य-

दिने सूर्योदयभवनादर्वाग् वारो लगति । एवं मध्यमदिनमानेष्वप्यानेयं प्रयोजनं चात्र वारप्रवृत्तित एवारभ्य वक्ष्यमाणानां कालहोराणामर्धयामादीनां च गणना कार्येति । दिनमानानयने च स्थूलोपायोऽयं—

" रसाक्षि २६ नाड्योऽर्क १२ पला मृगे स्युः, सचापकुंमेऽष्टकृतैः पलैस्ताः २६-४८ ।
अलौ च मीनेऽष्टयमाः सशक्रा २८-१४, मेषे तुलायामपि त्रिंशदेव ३० ॥ १ ॥
कन्यावृषे भूशिखिनो३१ऽङ्कवेदैः ४६. सार्कास्त्रिरामा मिथुने च सिंहे ३३-१२ ।
कर्के त्रिरामा वसुवेदयुक्ता ३३-४८, एषामितिः संक्रमवासराणाम् ॥ २ ॥ तदूर्ध्वं च—

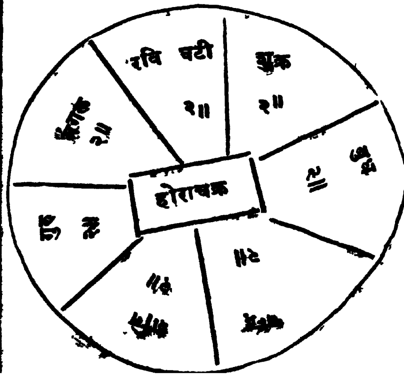
एकार्क १-१२ पक्षद्विशरा २-५२ त्रिदन्ताः ३ ३२, त्रिदन्त ३-३२ पक्षद्विशराः २-५२ कुसूर्याः १-१२ । मृगादिषट्केऽहनि वृद्धिरेवं, कर्कादिषट्केऽपचितिः पलाद्या ॥ ३ ॥"

अत्रापचितिर्हानिः । पलाद्येति अनेनैकार्केत्यादौ आद्यः पलाङ्को द्वितीयस्त्वक्षराङ्क इति भावः । अहर्वृद्ध्या च निशो हानिस्तद्धान्या चेतरवृद्धिः स्वयमूह्या । एवं च वृद्धिहानिपलसर्वाग्रमिदम्—

" वड्ढइ छसु मयराइसु पलाण छत्तीस ३६ छलसि ८६ छहिअसयं १०६ ।
कमउक्कमओ हायइ तहेव कक्काइरासीसु ॥ १ ॥

होराः पुनरर्कसितज्ञचन्द्रशनिजीवभूमिपुत्राणाम् । सार्धघटीद्वयमानाः स्ववारतस्तासु पूर्णफलाः ॥ १७ ॥

व्याख्या—स्ववारात् इति यस्मिन् यो वारस्तत्राद्या होरा, द्वितीया ततः षष्ठस्य, तृतीया ततोऽपि षष्ठस्येत्यादि । अत एवाह—“ अर्कसितज्ञचन्द्रशनिजीवभूमिपुत्राणां ” इति । अर्कात् किल सितः षष्ठः, सिताच्च ज्ञः षष्ठः, ज्ञाच्च चन्द्रः षष्ठ इत्यादि । एवं चार्कवारेऽर्कशुक्रबुधादीनां होराः पुनः पुनस्तावत्स्युर्यावदहोरात्रे षष्टिघटीमितश्चतुर्विंशतिहोराः स्युः । सोमवारे त्वाद्या चन्द्रहोराऽन्येति पुनस्तथैव चतुर्विंशतिर्यावद्भौमवारे आद्या भौमहोराऽस्तीत्यादि । स्थापना—



अन्ये च सार्धघटस्य होरासंज्ञा वक्ष्यते इत्यत आद्यां कालहोरेति नाम ज्ञेयं । स्ववारत इत्यस्य च संज्ञाकालनाशोऽभवतोऽमिसंबन्धयात् स्ववारतस्तासु पूर्णफला इति शुभाशुभस्य तद्विचारस्य संबन्धिन्यां होरायां कार्यकर्तुः पूर्णं विंशतिर्विंशोपकं शुभाशुभं फलं स्यात् पञ्चदशविंशोपके वारकाले पञ्चविंशोपकस्य होराफलस्य मिलनादित्यर्थः । अत एवाह लल्लः—“ वारफलं होरायामिति ” ।

होराप्रयोजनं त्विदं—

“यस्य ग्रहस्य वारे यत्किञ्चित्कर्म प्रकीर्तितम् । तत्तस्य कालहोरायां पूर्णं स्यात्पूर्वमेव हि”॥१॥

इति वसिष्ठवचे । तथा—

“होराफलवारफले निन्द्ये द्वे अपि न जातु गृह्णीत ।

एकस्मिन् शुभफलदे तयोश्च कार्यं शुभं कुर्यात् ” ॥ १ ॥ इति व्यवहारप्रकाशे

वारेषु कुवेकाः प्राह—

त्याज्योऽर्धयामो वेदा४ द्रि७ द्वि२ पञ्चा५ ष्ट८ त्रि३ षण्मितः६ । सूर्यादौ कालवेलार्धयामाङ्कात्सैकपञ्चमी ॥१८॥

व्याख्या—यद्यपि प्रमाणेनार्धयामत्वं वक्ष्यमाणकालवेलादिष्वप्यस्ति तथाऽप्यत्रार्धयाम इति रूढसंज्ञैय ज्ञेया । तथा चार्धयाम इति पदस्यावृत्त्या व्याख्या सिद्धा । कथं? सूर्यादिवारेषु वेदाद्रिद्विपञ्चादिमितोऽर्धयामः सामान्येन घटीचतुष्करूपो नाम्नाऽप्यर्धयामस्त्याज्यः । विशेषस्तु—

" सोल१६ ड८ दसण३२ दु२ इग१ चउ४ चउसट्ठी६४ अद्धपहरमज्झपला । जत्ताइसु अइ अहमा पुव्वाई छट्ठ छट्ठ दिसिं " ॥ १ ॥

इति दिनशुद्धौ । अत्र " मज्झपल त्ति " पूर्वादितः षष्ठषष्ठदिशि यात्रादौ क्रियमाणे क्रमादेते एतेऽर्धयाममध्यपला अत्यन्तं त्याज्या इत्यर्थः । अस्य व्यक्त्यर्थं स्थापना यथा—

वाराः	अर्धयामाः	मध्यपलानि	आसु दिक्षु
रवि	४	१६	पूर्व
चन्द्र	७	८	वायव्य
मंगल	२	३२	दक्षिण
बुध	५	२	ईशान
गुरु	८	१	पश्चिम
शुक्र	३	४	आग्नेय
शनि	६	६४	उत्तर

सूर्यादावित्यर्धद्वयेऽपि योज्यं । सैकपञ्चमीति भावप्रधानत्वान्निर्देशस्य सैकत्वे सति पञ्चमी सैकपञ्चमी । अयं भावः—अर्धयामाङ्कान् सर्वान् पंक्त्या न्यस्य तदग्रे एकक: स्थाप्यते, तथाहि—४–७–२–५–८–३–६–१ इति, ततः क्रमेणार्धयामाङ्काद्गणने पञ्चमः पञ्चमोऽङ्कः कालवेलाऽर्कादिवारेषु, यथाऽर्कवारे चतुष्ककोऽर्धयामाङ्कः, चतुष्ककात् क्रमेणाग्रतो गणने पञ्चमोऽष्टकः समागतः, ततो जातमर्कवारेऽष्टमे चतुर्घटिके कालवेला । एवं सोमवारे सप्तकोऽर्धयामाङ्कः सप्तकात् पञ्चमस्थाने च त्रिकः, ततः सोमवारे तृतीये चतुर्घटिके कालवेला इत्यादि स्वयं भाव्यं, नवरं गुरुवारेऽष्टकोऽर्धयामाङ्कः, अष्टकाद्गुणने च पञ्चमः पश्चाद्वलने चतुष्कक एव । एवं शुक्रशनिवारयोस्त्रिकषट्करूपाभ्यां पञ्चमौ सप्तकद्विकौ क्रमात्स्यातां । एतदेव पाठान्तरे व्यक्तमाह—

…रम्भ-
…सिद्धेः
॥१८॥

प्रथमविमर्शे
अर्धयाम
स्वरूपम्
॥१८॥

द्वादशसंक्रान्तिष्वाद्यदिनानां मानमिदम्.			मासावधि प्रतिदिनम्.		मासेन वृद्धिहानिपलसर्वाग्रमिदम्.
	घ.	प.	प०अ०		
मकर.	२६	१२	१–१२	दिनवृद्धि	३६
कुंभ	२६	४८	२–५२	दिनवृद्धि	८६
मीन	२८	१४	३–३२	दिनवृद्धि	१०६
मेष	३०	०	३–३२	दिनवृद्धि	१०६
वृष	३१	४६	२–५२	दिनवृद्धि	८६
मिथुन	३३	१२	१–१२	दिनवृद्धि	३६
कर्क	३३	४८	१–१२	दिनहानि	३६
सिंह	३३	१२	२–५२	दिनहानि	८६
कन्या	३१	४६	३–३२	दिनहानि	१०६
तुला	३०	०	३–३२	दिनहानि	१०६
वृश्चिक	२८	१४	२–५२	दिनहानि	८६
धन	२६	४८	१–१२	दिनहानि	३६

स्थापना—

विशेषस्तु-'विच्छिअकुंभाइतिए निसिमुहि विसधणुहकक्कतुलिमज्झे।
मिगमिहुणकन्नसीहे निसिअंते संकमइ वारो ' ॥ १ ॥

इति दिनशुद्धिग्रन्थे ।

" राम ३० रस ६० नन्द ९० बाणा ५० वेदा ४०
अष्टौ ८० सप्त ७० दशहताः कार्याः ।
मन्दादीनां दिनतः क्रमेण भोगस्य नाड्यः स्युः " ॥ १ ॥

अत एव च शनिः सुप्तो भव्यः, त्रिंशत्घटीरूपस्य शनेर्भोगस्य शनिदिने दिवैव समाप्तत्वेन शने रात्रौ रविभोगस्यैव समागमनात् इत्यन्ये ॥

वाराणां नामाद्याह—

"रविचन्द्रमङ्गलबुधा गुरुशुक्रशनैश्चराश्च दिनवाराः ।
रविकुजशनयः क्रूराः सौम्याश्चान्ये पदोनफलाः॥१६॥

व्याख्या—क्रूरा इति ।

" रविमन्दारवारेषु यस्मिन् सङ्क्रमते रविः ।
तस्मिन्मासि भयं विद्याद्दुर्भिक्षावृष्टितस्करैः " ॥ १ ॥

इत्याद्युक्तेः, क्रूरत्वं चैषां यादृशं दिवा गण्यते न तादृशं रात्रौ "न वारदोषाः प्रभवन्ति रात्रौ" इत्युक्तेः । पदोनेति पदः पादस्तुर्यांश इति यावत् अत एषां सौम्यक्रूरवाराणां शुभाशुभफलं विंशतिर्विंशोपकापेक्षया पादोनमेव स्यात् पञ्चदशैव विंशोपका इत्यर्थः । वारेषूचितकार्याण्येवं—राज्याभिषेकसेवामंत्रौषधविद्यासंग्रामयानसुवर्णताम्रोर्णिकाऽलंकरणशिल्पपुण्यकर्मोत्सवादि रवौ सिद्ध्यति १ । रजतगोवस्त्रोज्ज्वलकृषिवाणिज्यादि सोमे २ । सर्वं क्रूरकर्म रक्तधातुहेमप्रवालाकरधातुसेनानिवेशादि कुजे ३ अक्षरशिलाकर्णवेधकाव्यव्यायामतर्कवादकलापठनादि बुधे ४ । सर्वं शुभमाङ्गल्यकर्मदीक्षाविद्यायात्रौषधादि च गुरौ ५ । सर्वं बुधगुरूक्तं दीक्षावर्जं शुक्रे ६ । दीक्षागृहप्रवेशनिवेशादि स्थिरं क्रूरं च कर्म शनौ ७ । सामान्येन तु—

" सर्वार्थसाधका वारा गुरुशुक्रबुधेन्दवः । प्रोक्तमेव कृतं कर्म भौमार्काकिंषु सिध्यति " ॥ १ ॥

इत्थं दैवज्ञवल्लभे । तथा—

" लाक्षाकुसुंभमंजिष्ठारागे काञ्चनभूषणे । शस्तौ भौमरवी लोहोपलत्रपुविधौ शनिः ॥ १ ॥

द्रव्यादिदानग्रहणे निधाने, वाणिज्यसेवागुरुराजयोगे । कलाकृषिस्त्रीशुभकर्मविद्यान्यासौषधेष्वारशनी न शस्तौ"॥२॥

इति यतिवल्लभे । विशेषस्तु ।

" उपचयकरस्य कुर्याद्ग्रहस्य वारे स्ववारविहितं यत् । अपचयकरग्रहदिने कृतमपि सिद्धिं न याति पुनः " ॥ १ ॥

इति लल्लः । अस्यार्थः—वक्ष्यमाणगोचरादिविधिना यो ग्रहो यदा यस्यानुकूलः स तदा तस्योपचयकर इत्युच्यते, तस्य ग्रहस्य वारे यथोक्तं कार्यं कार्यम् । यस्तु तदानीं गोचरादिना प्रतिकूलः सोऽपचयकरः तस्य ग्रहस्य वारे कृतं कथमपि न सिध्यतीति । एवमग्रेऽप्युपचयकरापचयकरशब्दौ भावनीयौ ॥

वारेषु कालहोराः प्राह—

" सूर्यादौ कालवेलाऽष्ट ८ त्रि ३ षट् ६ क्ष्मा १ ब्ध्य ४ श्व ७ हक् २ मिता "

अत्रायमाम्नायः—कालवेलाङ्का एव चतुर्युता अर्धप्रहराङ्काः स्युः, यत्र चाष्टभ्योऽधिकोऽङ्कः स्यात्तत्राष्टभिर्भागो देयो दिवा चतुर्घटिकानामष्टानामेव सद्भावात् ॥

कंटकोऽपि दिनाष्टांशे स्ववारान्मङ्गलावधौ । बृहस्पत्यवधौ चोपकुलिकस्त्यज्यते परैः ॥१९॥

व्याख्या—तद्दिनवारात् यत्संख्यो मङ्गलस्तत्संख्यो दिनाष्टांशः कंटकसंज्ञः । तथा चार्कादिवारेषु क्रमात्त्रिद्व्येकसप्तषट्पञ्चचतुर्थदिनांशाः कंटकसंज्ञाः बृहस्पत्यवधाविति प्राग्वद्व्याख्येयं, तथा चार्कादिवारेषु पञ्चचतुस्त्रिद्व्येकसप्तषष्ठदिनांशा उपकुलिकसंज्ञाः । परैरिति अप्रतिषिद्धमनुमतमिति " न्यायाद्ग्रन्थकृतोऽपि सम्मतमिदं । एवमग्रेऽपि परमतोक्तौ वाच्यं । दिनाष्टांशशब्दप्रयोगाच्च दिनाष्टमांशमाना एते सर्वेऽपि, स च चतुर्घटिकादूनाधिकोऽपि स्यात् तथाहि—जघन्ये दिनमानेऽष्टांशे घटी ३ पल १६ अक्षर ३०। उत्कृष्टे तु घटी ४ पल १३ अक्षर ३० एवं मध्यमानेऽपि भाव्यम् ॥ कुलिकमाह—

कुलिको द्विघ्नशन्यन्तमिते त्याज्यः स्ववारतः । मुहूर्तेऽह्नि निशि त्वेके भागः पञ्चदशस्तु सः ॥२०॥

व्याख्या—द्विघ्नशन्यन्तेति तद्दिनवाराच्छनिर्यत्संख्यस्तदङ्के द्विगुणिते यत् स्यात् तत्संख्ये मुहूर्ते दिवा कुलिकः, निशि तु स एवाङ्क एकोनः कार्यः । यथाऽर्काच्छनिः सप्तमः, द्विगुणने चतुर्दश, रविवारे चतुर्दशे मुहूर्ते दिवा कुलिकः, रात्रौ तु त्रयोदशे । तथा चन्द्राच्छनिः षष्ठः, द्विगुणने द्वादशे मुहूर्ते दिवा कुलिकः, रात्रौ त्वेकादशे इत्यादि । भाग इति यद्यपि मुहूर्तशब्दो द्विघटिकवाची तथाप्यत्र तादात्विकदिनरात्रिमानयोः पञ्चदशोंऽशो द्विघटिकादूनाधिकोऽपि कुलिकस्य माने ज्ञेयः । तथाहि जघन्ययोर्दिनरात्रिमानयोः पञ्चदशोंऽशो घटी १ पल ४४ अक्षर ४८ । उत्कृष्टयोस्तु घटी २ पल १५ अक्षर १२ । एवं मध्यमानेऽप्यूह्यं । विशेषस्तु—कुलिकसमये किमपि कर्म न कार्यं यदुक्तं—

" छिन्नं भिन्नं नष्टं ग्रहजुष्टं पन्नगादिभिर्दष्टम् । नाशमुपयाति नियतं जातं कर्मान्यदपि तत्र " ॥ १ ॥

इति व्यवहारप्रकाशे । तथेदमपि--

" सोमे ब्राह्मः कुजे पैत्रः सुराचार्ये च राक्षसः शुक्रे ब्राह्मः शनौ रौद्रो मुहूर्त्ताः कुलिकोपमाः " ॥ २ ॥

अत्र ब्राह्म इति ब्रह्मदैवतः, एवं पैत्रादिष्वपि वाच्यं। ब्रह्मत्वादिविभागस्तु मुहूर्त्तानामग्रे क्षौराधिकारे वक्ष्यते । अयं च मुहूर्त्तकुलिकोऽहोरात्रे द्विः स्यात् दिवा रात्रौ च । अर्धयामादयस्तु दिनपतिसाहचर्यांद्दिवैव स्युः, न तु रात्रौ । नारचन्द्रे तु--स्ववारात् शन्यवधिर्दिनाष्टांशः कुलिकस्तेनार्का-दिवारेषु सप्तषट्पञ्चचतुस्त्रिद्व्येकसंख्या दिनाष्टांशाः कुलिकसंज्ञा इत्युक्तं । सर्वेषां चैषां क्रमात् स्थापना--

वाराः	रवि	चन्द्र	मंगल	बुध	गुरु	शुक्र	शनि	०
दिवा	४	७	२	५	८	३	६	अर्धयाम
दिवा	८	३	६	१	४	७	२	कालवेला
दिवा	३	२	१	७	६	५	४	कंटक
दिवा	५	४	३	२	१	७	६	उपकुलिक
दिवा	७	६	५	४	३	२	१	कुलिक
दिवा	१४	१२	१०	८	६	४	२	मुहूर्त्त
रात्रौ	१३	११	९	७	५	३	१	कुलिक

अथ दिवा दिनाष्टांशमानमेव कुलिकं नारचन्द्रोक्तं प्रमाणयन् वारेषु सुवेलाः प्राह—

भानोर्भू१ नयन २ र्तवः६ सितरुचेः शीतांशु १
पञ्चा५ ष्टमा८, भौमस्याब्धि ४ नगा७ष्टमाः८
शशितनूजस्य त्रि ३ तर्का ६ ष्टमाः ८ ।
जीवस्य द्वि२ शरा ५ द्रयो ७ भृगुभुवश्चन्द्रा १
ब्धि४षष्ठा६ष्टमाः८,शौरेस्त्री३षु५नगा७ष्टमाश्च८
दिवसेऽब्वेतेऽष्टमांशाः शुभाः ॥ २१ ॥

वारेषु
सुवेलाःप्राह
॥२२॥

व्याख्या—भूरेका, नयने द्वे, ऋतवः षट्, शीतांशुरेकः, अब्धयश्चत्वारः नगाः सप्त, तर्काः षट्, शराः पञ्च, शेषं स्पष्टं। भानोरिति रविवारे आद्यद्वितीयषष्ठचतुर्थघटिकानि शुभानि, शेषाणां ३–४–५–७–८ अर्धयामाद्यैर्ग्रस्तत्वात्। एवमग्रेऽपि सोमे आद्यपञ्चमाष्टमानि शुभानि। भौमे तुर्यसप्तमाष्टमानि। बुधे तृतीयषष्ठाष्टमानि। गुरौ द्वितीयपञ्चमसप्तमानि शुक्रे आद्यतुर्यषष्ठाष्टमानि। शनौ तृतीयपञ्चमसप्तमाष्टमानीति। दिवसेष्विति एते रात्रिषु न व्यवह्रियन्त इति भावः। अष्टमांशशब्देऽभिसन्धिः प्राग्वत्॥ वारेषु च्छायालग्नमाह—

सिद्धच्छाया क्रमादर्कादिषु सिद्धिप्रदा पदैः। रुद्र ११ सार्धाष्ट ८॥ नन्दा९ ष्ट ८ सप्तभि ७ श्चन्द्रवद्द्वयोः॥२२॥

व्याख्या—रवावेकादश पदानि, चन्द्रे सार्धान्यष्टौ, भौमे नव, बुधेऽष्टौ, गुरौ सप्त ७, द्वयोः शुक्रशन्योश्चन्द्रवत् सार्धान्यष्टौ पदानि। इयमवश्यं सिद्धिदत्वात्सिद्धच्छाया। यदुक्तम्—

"सुहगहलग्गाभावे विरुद्धदिवसेऽवि तुरिअकज्जम्मि। गमणपवेसपइट्ठादिक्खाई कुणसु इत्थ जओ॥ १॥
एअं बुहेहिं कहिअं छायालग्गं धुवं सुहे कज्जे। सुहसउणनिमित्तबलं जोइसु परं सुलग्गेऽवि॥ २॥

इति हर्षप्रकाशे। तथा 'तिथिवारर्क्षशीतांशुविष्ट्याद्यस्यां न चिन्तयेदिति' नारचन्द्रे।

नक्षत्राणि तिथिर्वारास्ताराश्चन्द्रबलं ग्रहाः। दुष्टान्यपि शुभं भावं भजते सिद्धछायया" ॥ १॥

इति नरपतिजयचर्यायां परं तथापि वर्षमासदिनशुद्धिसद्भावे विष्ट्यादिवृहद्दोषाभावे तथा ग्राह्यं, उक्तं च—"नक्षत्रमथवाप्यनिवारितमिति" यतिवल्लभवचनादुक्ते निषिद्धे वा वक्ष्यमाणवेधलत्तादिदोषरहिते नक्षत्रे चन्द्रबले सति सिद्धच्छायालग्ने प्रतिष्ठादिकं कार्यमिति समंजसं। तद्वेला च त्रिंशद्गुरुवर्णमात्रमिति वृद्धाः। तद्वेलासाधनोपायश्चायं—यदा इष्टच्छायापदवेला पञ्चदशभिर्वर्णैरूना स्यात्तदा कार्यं कर्तुमारभ्यते, यावदिष्टच्छायापदभवना-

दनु पञ्चदशवर्णोच्चारवेलाऽतिक्रामति तावता कालेन कार्यं संपूर्णीकार्यं, एवं कृते सिद्धच्छाया साधिता स्यात्। बहुकालसमाप्ये तु कार्ये त्रिंशद्वर्णमध्ये ।।तत्कार्यं प्रारम्भणीयमिति भावः।। इयं च च्छाया पदैरिति भवनात् पुंसः पदरूपा। सप्ताङ्गुलशंकोस्त्वङ्गुलरूपा ज्ञेया। द्वादशाङ्गुलशङ्कोस्त्वेवम्—

"वीसं १ सोलस २ पनरस ३ चउदस ४ तेरसय ५ बार ६ वारेव ७। रविमाइसु वारंगुलसंकुच्छायंगुला सिद्धा" ॥ १ ॥

॥ इति वारद्वारम् ॥ २

॥ अथ भम् ॥ ३

तत्रादावष्टाविंशतेर्भानां प्रत्येकं पादचतुष्कस्य वर्णानाह—

चुचेचोलाऽश्विनी ज्ञेया लीलूलेलो भरण्यथ। आईऊए कृतिका तु ओवावीवू च रोहिणी ॥ २३ ॥
वेवोकाकी मृगशिर आर्द्रा कुघङछाः पुनः। केकोहाहि पुनर्वस्वोर्हूहेहोडा तु पुष्यभे ॥ २४ ॥
डीडूडेडोभिराश्लेषा मामिमूमे मघा मता। मोटाटीटू फल्गुनी प्राक् टेटोपापीभिरुत्तरा ॥ २५ ॥
हस्तः पुषणठैर्वर्णैश्चित्रा पेपोररिः पुनः। रूरेरोताः स्मृताः स्वातौ तीतूतेतो विशाखिका ॥ २६ ॥
अनुराधा ननीनूने स्याज्ज्येष्ठा नोययीयुभिः। स्याद्येयोभाभिभिर्मूलं पूर्वाषाढा भुधाफढैः ॥ २७ ॥
भेभोजाज्युत्तराषाढा जुजेजोखाऽभिजिन्मता। श्रवणे स्युः खिखूखेखो धनिष्ठायां गगीगुगे॥ २८ ॥
गोसासीसूः शतभिषक् प्राक् सेसोददि भद्रपात्। दुशझथोत्तराभद्रा देदोचाची तु रेवती ॥ २९ ॥

व्याख्या—एषां भावना–सामान्येन पञ्चषष्टिघटीमाने चन्द्रस्य नक्षत्रभोगे पञ्चदशपञ्चदशघटीभिरेकैकः पादः, तत्र यस्य नाम्नि आदौ चुः तस्य अश्विन्या आद्यपादे, एवं सर्वत्र। द्वितीये पादे चे, तृतीये चो, तुर्ये ला। इह चुग्रहणेन चूरपि ग्राह्यः स्वजातीयस्वरत्वात्, एवं चेचोग्रहणेन चैचौ; लाग्रहणेन लः, एवमग्रेऽपि। यथा भरण्या आद्ये पादे लिली द्वितीये लुलू, तृतीये लेलै, तुर्ये लोलौ इत्यादि, एवं सर्वभेषु। नवरमार्द्राहस्तपूर्वाषाढोत्तरभद्रपदासु ये क्रमेण घङछाः षणठाः धफढाः शझथाश्चेति द्वादश वर्णाः उक्तास्तत्रैकैकोऽसौ वर्णो दशस्वरयुतो ग्राह्यः, कथं? घ घा घि घी घु घू घे घै घो घौ इति। एवं कवर्गीयपञ्चमाक्षरङकारादिष्वपि। षणठा इत्यत्र च षकारो मूर्धन्यो दशस्वरयुतो ग्राह्यः, न तु कवर्गीयखकारः, तस्याभिजिच्छ्रवणयोः कथनात्। ऋ ॠ ऌ ॡ इत्येते तु प्रायो नाम्न्यादौ न स्युः, ऋषिदत्तऋषभाद्यभिधासु चेत् स्युस्तदा स्वरचक्रअन्धाभिप्रायेण केवला रिरीलिलीवत् व्यञ्जनगतास्तु अकारान्ततद्व्यञ्जनवद्गण्यन्ते ब्रह्मदत्तश्रीधरप्रभृत्याद्यभिधासु ब–श्री–प्रभृत्याद्यक्षरं गण्यं। यतः—

“ यदि नाम्नि भवेद्वर्णः संयोगाक्षरलक्षणः। ग्राह्यस्तदादिमो वर्ण इत्युक्तं ब्रह्मयामले ” ॥ १ ॥

विसर्गबिन्द्वादिकं तु नाक्षरस्य विकारकृत्। बकारस्तु वकारवज्ज्ञेयो बवयोरैक्यात्। यस्तु चवर्गीयपञ्चमवर्णः कवर्गीयपञ्चमङकारवद्गण्यः। ननु ङकारञकारणकाराः क्वापि नाम्न्यादौ न स्युरित्यतः किमर्थमुक्ताः? उच्यते–पूर्वाचार्यानुरोधात्। न च नास्त्येवैषां फलमिति चिन्त्यं, एकाशीतिपदे सर्वतोभद्रचक्रे एतद्वर्णानां ग्रहविद्धत्वे सति तत्तत्पादजानां पीडेति साफल्यसद्भावात्। उक्तं च तच्चक्रविवरणे—

“ विध्यन्ते घङछा रौद्रे षणढा हस्तगे व्यधेः। फढधाः प्रागषाढायामाहिर्बुध्न्ये तु शझथाः ” ॥ १ ॥

प्रागिति पूर्वाषाढा ॥ अभिजितः स्वरूपमाह—

उत्तराषाढमन्त्यांह्रिं चतस्रश्च श्रुतेर्घटीः। वदन्त्यभिजितो भोगं वेधलत्ताद्यवेक्षणे ॥ ३० ॥

व्याख्या—यदा टिप्पनके यावान् भोग उत्तराषाढाया लिखितः स्यात्तदा तस्याम्त्यः पादस्तदनुमानेन ग्राह्यः, सामान्येन तु पञ्चदश वच्यः, भोगमिति, एवं सर्वा एकोनविंशतिर्घट्यः । लत्तादीति आदिशब्दादुत्पातादिचतुष्टयोपयोगैकार्गलादिष्वत्र्यभिजिदुच्यते, परं तदोत्तराषाढाश्रवणयोः पञ्चदश चतस्रश्च घटीर्बहिष्कृत्यैव पादचतुष्कं कल्पनीयं । वेधलत्ताद्यवेक्षणादन्यत्राभिजिन्नोपयुज्यते इति च सामर्थ्याल्लभ्यते ॥

अष्टाविंशतेर्भानामीशानाह—

> मेशास्त्वश्वि१ यमा२ ग्नयः३ कमलभू४ श्चन्द्रो५ऽथ रुद्रो६ऽदिति७
> र्जीवो८ऽहिः९ पितरो१० भगो११ऽर्यम१२ रवी१३ त्वष्टा१४ समीर १५ स्तथा ।
> शक्राग्नी १६ अथ मित्र१७ इन्द्र१८ निर्ऋती१९ वारीणि २० विश्वे२१ विधि२२
> र्वैकुंठो२३ वसवो२४म्बुपो२५ऽजचरणो२६ऽहिर्बुध्न२७ पूषाभिधौ२८ ॥ ३१ ॥

व्याख्या—अश्विनौ दस्राख्यदेवौ । कमलभूर्ब्रह्मा । अदितिर्देवमाता । जीवो गुरुः । अहिः सर्पः । भगो योनिः । अर्यमा सूर्यभेदः । त्वष्टा विश्वकर्मा । समीरो वायुः । शक्राग्नी इति विशाखाया आद्येऽर्धे इन्द्रोऽपरार्धेऽग्निर्देवता, अत एवास्या द्विदैवतसंज्ञा मिश्रसंज्ञा च । अत एवोक्तं दैवज्ञ-वल्लभे-" पूर्वार्धे मृदुकर्म चास्य सकलं तीक्ष्णं द्वितीये दले " इति । मित्रः सूर्यभेदः । निर्ऋतिः रक्षसां माता, तज्जत्वाद्राक्षसा अप्यत्र लक्ष्याः, तेन मूलो रक्षोनक्षत्रमित्युच्यते । वारीणि जलं । विश्वे इति विश्वाख्यास्त्रयोदश देवाः, सर्वादित्याज्जस इः । नन्वत्र संज्ञावाचिनो विश्वशब्दस्य कथं सर्वादित्वं असंज्ञायां सर्वादिरितिवचनात् ? उच्यते—छान्दसोऽयं प्रयोगस्तेन संज्ञायामपि सर्वादित्वं । विधिर्ब्रह्मा । वैकुंठो विष्णुः । वसवोऽष्टौ, यदुक्तं—

" धरो ध्रुवश्च सोमश्च आपश्चैव बलोऽनिलः । प्रत्यूषश्च प्रदोषश्च वसवोऽष्टौ प्रकीर्तिताः "

अम्बुपो वरुणः वास्तुशास्त्रप्रसिद्धो हृदयकोष्ठस्थो देवः । रुद्राणामन्यतमोऽजपादः । अहिर्बुध्नो रुद्रभेदः यदाहुः—

" अजपादोऽथाहिर्बुध्नः पिनाकिहररैवताः । शंभुः शर्वो मृगव्याधः कपाली त्र्यम्बको भवः " ॥ १ ॥

इत्येकादश रुद्रनामानि । पूषा रविभेदः । यदाहुः–"धातृ १ अर्यमन् २ मित्र ३ वरुणः ४ अंशु ५ भग ६ इन्द्र ७ विवस्वन् ८ पूषन् ९ पर्जन्य १० त्वष्टृ ११ विष्णु १२ संज्ञा द्वादश सूर्या " इति । शेषा यथोक्तसंज्ञा देवभेदाः । प्रयोजनं चैषां तद्देवतानाम्ना नक्षत्रव्यवहारादि ॥

अष्टाविंशतेर्भानां तारकसंख्यामाह—

त्रि३ त्र्य३ र्तु६ भूत५ जगदि३ न्दु१ कृत४ त्रि३ तर्के६ष्व५ क्षि२ द्वि२ पंच५ कु१ कु१ वेद४ युगा४ ग्नि३ रुद्रैः ११। वेदा४ ब्धि४ राम३ गुण३ वेद४ शत१०० द्विक२ द्वि२दन्तैश्च३२ तत्समतिथिर्न शुभा भतारैः ॥ ३२ ॥

व्याख्या—अश्विन्यां त्रयस्तारकाः, भरण्यां त्रय इत्यादि । अङ्गानि शिक्षा १ कल्प २ व्याकरण ३ छन्दो ४ ज्योति ५ र्निरुक्ता ६ न्यानि षट् । जगन्ति त्रीणि । कृतेति चत्वारः, कृतयुगस्य तुर्यत्वात् । अक्षिणी नेत्रे द्वे । कुर्भूरेका । युगानि चत्वारि । रुद्रा एकादश । रामास्त्रयः । गुणाः सत्त्वाद्यास्त्रयः । दन्ता द्वात्रिंशत् । शेषं स्पष्टं । स्थापना—

भेषु	तारा	भेषु	तारा	भेषु	तारा	भेषु	तारा
अश्विनी	—३	पुष्य	३	स्वाति	१	अभिजित्	३
भरणी	—३	अश्लेषा	६	विशाखा	४	श्रवण	३
कृत्तिका	—६	मघा	५	अनुराधा	४	धनिष्ठा	४
रोहिणी	—५	पूर्वाफाल्गुनी	२	ज्येष्ठा	३	शतभिषा	१००
मृगशिर	—३	उत्तराफाल्गुनी	२	मूल	११	पूर्वाभाद्रपद	२
आर्द्रा	—१	हस्त	५	पूर्वाषाढा	४	उत्तराभाद्रपद	२
पुनर्वसु	—४	चित्रा	१	उत्तराषाढा	४	रेवती	३२

तारकसङ्ख्योक्तेः प्रयोजनमाह–तत्समेत्यादि एभिर्यथोक्तैर्भतारैर्भस्य समा तिथिर्न शुभेति ज्ञेयं । कोऽर्थः ? सर्वेषु भेषु तत्तारासंख्यया तिथिस्त्याज्या, यथा तृतीयाऽश्विनीयुक्ता त्याज्येत्यादि । नवरं शतभिषजि शतं ताराः शतस्य तिथिभिः पञ्चदशभिर्भागे शेषा दशेति दशमी शतभिषग्युता त्याज्या । एवं रेवत्यां द्वात्रिंशत्ताराः पञ्चदशभागे शेषं द्वे द्वितीया रेवतीयुता त्याज्या । यदाहुः–"दग्धा तद्दिननक्षत्रतारातुल्या तिथिर्भवेत्"

इति । विशेषस्तु-"लालसमैरहोभिर्मासैरब्दैश्च धिष्ण्यफलपाकः इति " लल्लः ॥ भानां संज्ञाविशेषानाह—

चरमाहुश्चलं स्वातिरादित्यं श्रवणत्रयम् । लघु क्षिप्रं च हस्तोऽश्विन्यभिजित् पुष्य एव च ॥ ३३ ॥
मृदु मैत्रं मृगश्चित्राऽनुराधा चैव रेवती । ध्रुवं स्थिरं च वैरश्चमुत्तरात्रितयान्वितम् ॥ ३४ ॥
दारुणं तीक्ष्णमश्लेषा मूलमार्द्रामहेन्द्रभम् । क्रूरमुग्रं च भरणी तिस्रः पूर्वा मघान्विताः ॥ ३५ ॥
मिश्रं साधारणं च द्वे विशाखाकृत्तिकाभिधे । ईदृग्नाम्नोचिते धिष्ण्ये निर्मितं कर्म शर्मणे ॥ ३६ ॥

व्याख्या—चरं चलमिति नामद्वयं, एवमग्रेऽपि, अन्यान्यपि चञ्चलचटुलचपलादिनामान्यत्र व्यवहर्तव्यानि, एवं सर्वत्र । आदित्यं पुनर्वसु । श्रवणत्रयं श्रवणधनिष्ठाशतभिषजः । वैरञ्चं रोहिणी उत्तरात्रयमुत्तरफल्गुन्युत्तराषाढोत्तरभाद्रपदाः । महेन्द्रभं ज्येष्ठा । तिस्रः पूर्वाः पूर्वफाल्गुनीपूर्वाषाढापूर्वभाद्रपदाः । साधारणमिति न स्थिरं न चलं न तीक्ष्णं न मृदु इत्यर्थः । नाम्नां प्रयोजनमाह—ईदृगित्यादि ईदृशेन चरादिनाम्ना कर्मणोऽनुरूपे भे । कोऽर्थः ? यादृशं भस्य नाम तादृशं कर्म तत्र भे कार्यम् ॥ एतदेवाह—

कुर्यात्प्रयाणं लघुभिश्चरैश्च,मृदुध्रुवैः शान्तिकमाजिमुग्रैः।व्याधिंप्रतीकारमुशन्ति तीक्ष्णैर्मिश्रैश्च मिश्रं विधिमामनन्ति

व्याख्या—प्रयाणमिति पण्यभूषणकलारतौषधज्ञानविज्ञानवाहनोद्यानिकाद्युपलक्ष्यं, एवमग्रेऽपि, शान्तिकमिति बीजगृहनगराभिषेकारामभूषणवस्त्रगीतमङ्गलमित्रकार्यादि स्थिरकर्म च । आजिमिति वञ्चनाविषघातबन्धनोच्छेदनशस्त्राग्निकर्माण्यपि । व्याधीति भूतयक्षमंत्रनिधिसाधनभेदकर्माण्यपि । उशन्ति वाञ्छन्ति । मिश्रमिति साधारणं । स्वर्णरजतताम्रलोहाद्यग्निकर्म सर्वं तथा वृषोत्सर्गाग्निपरिग्रहादि च विशेषास्तु—

" लहु चरेसु आरंभो उग्गरिक्खे तवं चरे । धुवे पुरपवेसाई मिसेस्सलसंधिकिरियं करे " ॥ १ ॥ इति दिनशुद्धिग्रन्थे । तथा—

" तीक्ष्णोग्रभोक्तं विदधीत मिश्रे, क्रूरोदितं दारुणभेषु कुर्यात् । तीक्ष्णोग्रमिश्रैर्यदिहोदितं तन्मृदुध्रुवैः क्षिप्रचरैर्न कुर्यात् ॥१॥
प्रायः शान्ते कार्ये न योजयेत्कृत्तिकास्त्रिपूर्वाश्च । वारणरौद्रे च तथा द्विदैवतं याम्यमश्लेषाम् " ॥ २ ॥

" स्थिर २ श्चर १ स्तथोग्रश्च ३ मिश्रो ४ लघु ५ रथो मृदुः ६ । तिक्ष्णश्च ७ कथिता वाराः प्राच्यैः सूर्यादयः क्रमात् ॥१॥

अस्य प्रयोजनं तु चरादित्वेन सदृशानां वाराणां भानां च योगः प्रयाणादौ विशिष्य प्रयोजक इति ॥

सप्तविंशतेर्भानां चन्द्रेण भोगे मुहूर्त्तसङ्ख्यामाह—

भेषु क्षणान् पञ्चदशैन्द्ररौद्रवायव्यसर्पान्तकवारणेषु । त्रिघ्नान् विशाखादितिभध्रुवेषु शेषेषु तु त्रिंशतमामनन्ति॥

व्याख्या—क्षणा मुहूर्त्ताः । ऐन्द्रं ज्येष्ठा । रौद्रमार्द्रा । वायव्यं स्वातिः । सार्पमश्लेषा । अन्तकं भरणी । वारणं शतभिषक् । एतानि षड्-भानि पञ्चदशमुहूर्त्तान्यर्धदिनभोगानीत्यर्थः । त्रिघ्नानिति एवं पञ्चदश त्रिगुणाः पञ्चचत्वारिंशत्, अदितिभं पुनर्वसु. षड्भानि पञ्चचत्वारिंशन्मुहूर्त्तानि सार्धदिनभोगानि । शेषाण्यश्विनी १ कृतिका २ मृगशिरः ३ पुष्य ४ मघा ५ पूर्वफाल्गुनी ६ हस्त ७ चित्रा ८ ऽनुराधा ९ मूल 10 पूर्वाषाढा ११ श्रवण १२ धनिष्ठा १३ पूर्वभद्रापदा १४ रेवत्या १५ ख्यानि पञ्चदश भानि त्रिंशन्मुहूर्त्तानि एकदिनभोगानि । एषां किल चिरंतनज्योतिःशास्त्रेष्वेवं भुक्तिरासीन्न तु यथाऽधुना सर्वाण्यप्येकदिनभोगानीति श्रीमदावश्यकबृहद्वृत्तिटिप्पनके, एषां नव्योदितचन्द्रदर्शनादावुपयोगः । तथाहि—

"बृहत्सु४५ धान्यं कुरुते समर्घं, जघन्य१५ धिष्ण्येऽभ्युदिते महार्घम् । समेषु३० धिष्ण्येषु समं हिमांशुः शुक्लद्वितीयाभ्युदयी विलोक्यः॥

इति रत्नमालायां । अत्राभ्युदित इति यन्नक्षत्रस्थश्चन्द्रो दृग्गोचरीस्यात्तन्नक्षत्रं बृहदादि विचार्यमिति तद्भाष्ये । विशेषास्तु—

" युज्यन्ते षड् द्वादश नव चेति निशाकरेण धिष्ण्यानि । प्राङ्मध्यपश्चिमार्धैः पौष्णैशाखण्डलादीनि " ॥ १ ॥

अत्र पौष्णेति रेवत्यादिषड्भानि पूर्वभागयोगीनि चन्द्र एतान्यप्राप्तो भुङ्क्त इत्यर्थः । ऐन्द्रेति आर्द्रादिद्वादशभानि मध्यभागयोगीनि एषां समेनेन्दुना भोगः स्यात् । आखण्डलेति ज्येष्ठादिनवभानि पश्चिमार्धयोगीनि चन्द्रस्य पृष्ठतो योगीनि चन्द्र एतान्यभिक्रम्य भुङ्क्ते पृष्ठं दत्वा भुङ्क्ते इत्यर्थः । प्रयोजनं तु—

" पूर्वार्धयोगिषूढस्त्रीणामतिवल्लभो भवेद्भर्ता । पश्चार्धयोगिषु स्त्रीप्रेम मिथो मध्ययोगिषु " ॥ २ ॥

अन्यत्रापि सेवाभैज्यादाविदं योज्यं कथं ? पूर्वभागयोगिषु सेवाभैज्याद्यारंभे यो मुख्यः स गौणस्य भृशं प्रियः स्यात्, पश्चार्धयोगिषु तु मुख्यस्य गौणः, मध्ययोगिषु मिथः प्रीतिरिति । तथा—

" हयवदन १ भग २ क्षुर ३ शकट ४ मृगशिरो ५ मणि ६ गृहे ७ षु ८ चक्राणाम् ९ ।
प्राकार १० शयन ११ पर्यङ्क १२ हस्त १३ मुक्ता १४ प्रवालानाम् १५ ॥ १ ॥
तोरण १६ मणि १७ कुंडल १८ सिंहविक्रम १९ स्वपन २० गजविलासानाम् २१ ।
शृङ्गाटक २२ त्रिविक्रम २३ मृदङ्ग २४ वृत्त २५ छियमलानाम् २६ ॥ २ ॥
पर्यङ्क २७ मुरज ५८ सदृशानि भानि कथितानि चाश्विनादीनि " ।

तथा चित्रास्वात्योरुदयान्तरे किल प्राची, तयोरस्तान्तरे च प्रतीची, उदीची तु ध्रुवेण सिद्धा, दक्षिणाऽपि तत्संमुखत्वेन, ततो यानि यानि भानि दक्षिणोत्तरमध्यमार्गचारीणि सन्ति तान्युच्यन्ते, तथाहि—

" दक्षिणमार्गेऽश्लेषा १ ब्राह्मत्रय ४ करयुगे ६ द्विपतिषङ्कम् १२ । उत्तरतः पुनरभिजित्त्रय ३ मश्वित्रय ६ यौनयुगलानि ॥ १ ॥

आजपादद्वयं १० स्वात्या ११ दित्ये १२ चेति भ्रमन्ति खे । मध्यमार्गे शतभिषक् १ पुष्य २ पौष्ण ३ मघा इति " ॥ २ ॥

सर्वमिदं व्यवहारप्रकाशे । तथा—

"बे फग्गुणि२ भद्दवया४ सवण५ धणिट्ठा६ य रेवई७ भरणी८ । अस्सिणि९ सयभिस१० साई११ अभिजु१२ त्तर जोइणो चंदे" ॥१॥

एतानि द्वादश भानि चन्द्रस्योत्तरेण तिष्ठन्ति एष्वेव चन्द्रो दक्षिणतो गच्छतीत्यर्थः ।

" पुणवसु१ रोहिणि२ चित्ता३ मह४ जिट्ठ५ णुराह६ कत्तिआ७ विसाहा ८ । चंदस्स उभयजोगा अह दक्खिणजोईणो चंदे " ॥ २ ॥

पुनर्वस्वाद्यष्टभान्युभययोगीनि चन्द्रो दक्षिणेनोत्तरेण च युज्यन्ते, कथञ्चिच्चन्द्रेण भेदमप्युपयान्ति, शेषाण्यष्टभानीन्दोर्दक्षिणेन युज्यन्ते, तानि चाषाढाद्वय२ हस्त३ मूला४ श्लेषा५ मृगा६ र्द्रा७ पुष्याः८ ॥ इति पा(लो)कश्रीग्रन्थे । तथा—

" तिथिर्धिष्ण्यं च पूर्वार्धे बलवद्दुर्बलं ततः । नक्षत्रं बलवद्रात्रौ दिने बलवती तिथिः " ॥ १ ॥ इति व्यवहारसारे ।

॥ इति भद्वारम् ॥ ३ ॥

॥ अथ योगः ॥ ४

तत्रादौ रव्यादिसप्तवारेषु प्रत्येकं शुभाशुभयोगवाचकाश्चतुर्दश श्लोका इमे—

भानौ भूत्यै करादित्यपौष्णब्राह्ममृगोत्तराः । पुष्यमूलाश्विवासव्यश्चैकाष्टनवमी तिथिः ॥ ३९ ॥

व्याख्या—भूत्यै शुभयोगायेत्यर्थः । करो हस्तः, पौष्णं रेवती, ब्राह्मं रोहिणी, उत्तरास्तिस्रः, वासवी धनिष्ठा । नवमीति एकाष्टनवशब्दानां

प्रथमविमर्शे
चन्द्रानुरोधेन नक्षत्रस्थितिवर्णनं
॥३१॥

द्वन्द्वं कृत्वा ततः पूरणे 'अट्'प्रत्ययः, एवमन्यत्रापि यथायोग्यं व्युत्पाद्यं । इह वारभयोर्वारतिथ्योर्वा द्विकशुभयोगः, वारभतिथीनां तु त्रिकशुभयोगः । एवं कुयोगेऽपि वाच्यम् ॥

न चार्के वारुणं याम्यं विशाखात्रितयं मघा । तिथिः षट्सप्तरुद्रा११ र्क१२ मनु१४ संख्या तथेष्यते॥४०॥

व्याख्या—याम्यं भरणी । विशाखात्रितयमिति विशाखादित्रयेण क्रमादुत्पातमृत्युकाणाः कुयोगाः स्युः एवमग्रेऽपि कुयोगश्लोकस्थत्रयशब्देषूह्यं । मनवश्चतुर्दश नेष्यते इति कुयोगोत्पत्तेरिति शेषः ॥

सोमे सिद्ध्यै मृगब्राह्ममैत्राण्यार्यमणं करः । श्रुतिः शतभिषक् पुष्यस्तिथिस्तु द्विनवाभिधा ॥ ४१ ॥

व्याख्या—मैत्रमनुराधा, न तु मृदुसंज्ञभानि पृथग्मृगशीर्षोक्तेः एवमग्रेऽपि यथासंभवं विचार्यं । आर्यमणं उत्तरफल्गुनी । श्रुतिः श्रवणः (णं) ॥

न चन्द्रे वासवासाढात्रयार्द्राश्विद्विदैवतम् । सिद्ध्यै चित्रा च सप्तम्येकादश्यादित्रयं तथा ॥ ४२ ॥

व्याख्या—अषाढात्रयं पूर्वाषाढोत्तराषाढाभिजितः, द्विदैवतं विशाखा ॥

भौमेऽश्विपौष्णाहिर्बुध्नमूलराधार्यमाग्निभम् । मृगः पुष्यस्तथाऽश्लेषा जया षष्ठी च सिद्धये ॥ ४३ ॥

व्याख्या—आहिर्बुध्नमुत्तरभद्रपदा, राधा विशाखा, अर्यमणमुत्तरफल्गुनी, अग्निभं कृत्तिका । जया तिथिः ३–८–१३ रूपा, एवमग्रेऽपि तिथिसंज्ञायाम्॥

न भौमे चोत्तराषाढामघार्द्रावामवत्रयम् । प्रतिपद्दशमीरुद्रप्रमिता च मता तिथिः ॥ ४४ ॥

बुधे मैत्रं श्रुतिज्येष्ठा पुष्यहस्ताग्निभत्रयम् । पूर्वाषाढार्यमर्क्षे च तिथिर्भद्रा च भूतये ॥ ४५ ॥

व्याख्या—अत्रापि मैत्रमनुराधैव त्रयशब्देन पृथग्मृग उक्तः ॥

न बुधे वासवाश्लेषारेवतीत्रयवारुणम् । चित्रा मूलं तिथि-श्रेष्ठा जयै ३-८-१३केन्द्र१४नवा९ङ्किता॥४६॥

व्याख्या—इन्द्राङ्किता तिथिश्चतुर्दशी ॥

गुरौ पुष्याश्विनादित्यपूर्वाऽ ३ श्लेषाश्च वासवम्। पौष्णं स्वातित्रयं सिद्ध्यै पूर्णा ५-१०-१५ श्चैकादशी तथा ॥४७॥

व्याख्या—पूर्वास्तिस्रोऽपि । एवमग्रेऽपि ॥

न गुरौ वारुणाग्नेयचतुष्कार्यमणद्वयम् । ज्येष्ठा भूत्यै तथा भद्रा २-७-१२ तुर्या षष्ठ्यष्टमी तिथिः ॥४८॥

व्याख्या—आग्नेयं कृत्तिका तच्चतुष्कं तत्र रोहिण्यादित्रयेणोत्पातादित्रयं कृत्तिकया तु यमघंटः, "गुरौ शतभिषजा यमघंटः" इति तु हर्षप्रकाशे॥

शुक्रे पौष्णाश्विनाषाढा मैत्रं मार्गं श्रुतिद्वयम् । यौनादित्ये करो नन्दा १-६-११ त्रयोदश्यौ च सिद्धये॥४९॥

व्याख्या—अषाढाशब्देन पूर्वोत्तराषाढे, मार्गं मृगशिरः, यौनं पूर्वफल्गुनी ॥

न शुक्रे भूतये ब्राह्मपुष्यं सार्पं मघाऽभिजित् । ज्येष्ठा च द्वित्रिसप्तम्यो रिक्ताख्या ४-९-१४ स्तिथयस्तथा ॥५०॥

व्याख्या—पुष्याद्यैस्त्रिभिः क्रमेणोत्पातादित्रयम् ॥

शनौ ब्राह्मश्रुतिद्वन्द्वाश्विमरुद्गुरुमित्रभम् । मघा शतभिषक् सिद्ध्यै रिक्ता ४-९-१४ ष्टम्यौ तिथी तथा ॥५१॥

व्याख्या—मरुद्भं स्वातिः, गुरुभं पुष्यः, मित्रभमनुराधा ॥

न शनौ रेवती सिद्ध्यै वैश्वमार्यमणत्रयम् । पूर्वा३मृगश्च पूर्णाख्या ५-१०-१५ तिथिः षष्ठी च सप्तमी ॥ ५२ ॥

व्याख्या—वैश्वमुत्तराषाढा । एषु विशेषः—सुयोगश्लोकेष्वादौ न्यस्तैः—

" हस्त १ सौम्या २ श्विनी ३ मैत्र ४ पुष्य ५ पौष्ण ६ विरंचितैः ७ । भवत्यमृतसिद्ध्याख्यो योगः सूर्यादिवारगैः" ॥ १ ॥

अत्रामृतसिद्ध्याख्य इति न मृता सिद्धिरमृतसिद्धिः । एष्ववश्यं कार्यसिद्धिरिति रत्नमालाभाष्ये ।

" भद्रासंवर्तकाद्यैश्चेत् सर्वदुष्टेऽपि वासरे । योगोऽस्त्यमृतसिद्ध्याख्यः सर्वदोषक्षयस्तदा ॥ १ ॥ "

इति हर्षप्रकाशे । " शुक्रस्य रेवत्या सह शत्रुयोग उत्तरभद्रपदाभिः सार्धं त्वमृतसिद्धियोगः " इति लोकश्रीग्रन्थे । केऽप्याहुः—" शर ५ तिथितः सप्ततिथिष्वेते सप्तापि मृत्युदा क्रमशः " । तत्स्थापना—

रवि	चन्द्र	मंगल	बुध	गुरु	शुक्र	शनि
हस्त	मृगशिर	अश्विनी	अनुराधा	पुष्य	रेवती	रोहिणी
५	६	७	८	९	१०	११

एतत्तिथिष्वेतेऽमृतसिद्धियोगा मृत्युदाः । तथा—

" विशाखादिचतुष्के च रविवारादिसप्तके ।
उत्पातमृत्युकाणाश्च सिद्धियोगाश्च कीर्त्तिताः ॥ १ ॥"

उत्पातादित्रयाणां प्रवास १ मरण २ व्याधि ३ संज्ञेति पूर्णभद्रः । तथा—

" मघा १ विशाखा २ र्द्रा ३ मूल ४ कृत्तिका ५ रोहिणी ६ करैः । रव्यादिवारसंयुक्तैर्यमघंटो भृशोऽशुभः ॥ १ ॥ "

पाकश्रीकृत् करस्थाने आषाढाद्वयमाह । तथा—

" भर १ चित्तु २ त्तरसाढा ३ धणि ४ उत्तरफग्गु ५ जिट्ठ ६ रेवइआ ७ । सूराइजम्मरिक्खा पपर्हिं वज्ज मुसल पुणो ॥ १ ॥

अत्र भरणीस्थानेऽश्विनीति लोकश्रियां । जम्मरिक्ख त्ति एतान्यर्कादीनां जन्मभानि, एभिरर्कादिवारेषु क्रमाद्वज्रमुसलयोगः स्यात् लोकश्रीग्रन्थे

" भर १ पुस्सु २ त्तरसाढा ३ अद् ४ विसाहा ५ य रेवई ६ समिस ७ । अक्काइआण एहिं अरिजोगा गुरुविणिद्दिट्ठा ॥ १ ॥ "
मह १ मूलु २ त्तरसाढा ३ अद् ४ विसाहा ५ य रोहिणी ६ समिसा ७ । सुक्काइआण कमसो जहाकमं अत्थिरो जोगो ॥ २ ॥ "

इत्युक्तमस्ति । तेन प्रीतिकार्येष्वरियोगाः स्थिरकार्येषु चरयोगाश्च त्याज्याः । तथा—

अक्काइसु कक्की बारसी उ पच्छक्कमेण जा छट्ठी । ककचनामा, यदुक्तम्—

" यत्र संख्यायुतौ वारतिथ्योर्जातास्त्रयोदश । ज्ञेयः क्रकचयोगोऽयं हेयश्च शुभकर्मसु " ॥ १ ॥ तथा—

" पडिवयतिज्जबुहेणं छट्ठी जीवेण विज्जसुकेण । सत्तमी सणिसूरेसुं एएसिं वया जोगा ॥ १ ॥

पडिवयबुहेण सत्तमी रविणा संवट्टओ हवइ जोगो । "

इत्येतावदेव तु हर्षप्रकाशादौ । अथैवं भानौ भूत्यै इत्यादि चतुर्दशश्लोकोक्ततिथिभानां रव्यादिवारैः सह शुभा अशुभाश्च योगा यथाविशेष-नाम कथ्यन्ते तत्रैषां प्रकाशितं । येषां तु न प्रकाशितं तेषां तिथिभानां रव्यादिवारैः सह ये शुभा योगास्ते सुयोगा इत्युच्यन्ते, ये त्वशुभास्ते सामान्ययोगा इति । सर्वेषामेषां क्रमात्स्थापना—

वार	अमृतसि०	उत्पातयोग	मृत्युयोग	काणयोग	सिद्धियोग	यमघंटयोग	वज्रमुशलयोग	शस्त्रुयोग	चरयोग	कर्कयोग	संवर्तकयोग
रवि	हस्त	विशाखा	अनुराधा	ज्येष्ठा	मूल	मघा	भरणी	भरणी	उत्तराषाढा	तिथि १२	तिथि ७
चन्द्र	मृगशिर	पूर्वाषाढा	उत्तराषाढा	अभिजित्	श्रवण	विशाखा	चित्रा	पुष्य	आर्द्रा	११	०
मंगल	अश्विनी	धनिष्ठा	शतभिषक्	पूर्वभाद्रपद	उत्तरभाद्रपद	आर्द्रा	उत्तराषाढा	उत्तराषाढा	विशाखा	१०	०
बुध	अनुराधा	रेवती	अश्विनी	भरणी	कृत्तिका	मूल	धनिष्टा	आर्द्रा	रोहिणी	९	१-३
गुरु	पुष्य	रोहिणी	मृगशिर	आर्द्रा	पुनर्वसु	कृतिका	उत्तराफाल्गुनी	विशाखा	शतभिषा	८	६
शुक्र	रेवती	पुष्य	अश्लेषा	मघा	पूर्वफाल्गुनी	रोहिणी	ज्येष्ठा	रेवती	मघा	७	२
शनि	रोहिणी	उत्तराफाल्गुनी	हस्त	चित्रा	स्वाति	हस्त	रेवती	शतभिषा	मूल	६	७

वाराः	वारतिथ्योः सुयोगाः	वारति० सामा०	वारभयोः सुयोगाः [धनिष्ठा रेवती.	वारभयोः सामा०यो०
रवि	१—८—९	६—११—१४	अश्विनी, रोहिणी, मृगशिर, पुनर्वसु, पुष्य, उत्तराफाल्गुनी, उत्तराषाढा, उत्तरभाद्रपद,	शतभिषक्
चन्द्र	२—९	१२—१३	रोहिणी, उत्तराफाल्गुनी. हस्त, अनुराधा, शतभिषा.	अश्विनी,आर्द्रा,धनिष्ठा
मंगल	३-६-८-१३	१—११	कृतिका, मृगशिर, पुष्य, अश्लेषा उत्तराफाल्गुनी, मूल, रेवती.	मघा
बुध	२—७—१२	८-१३-१४	रोहिणी, मृगशिर, पुष्य उत्तराफल्गुनी, हस्त, ज्येष्ठा, पूर्वाषाढा, श्रवण.	अश्लेषः
गुरु	५-१०-११-१५	२-४-७-१२	अश्विनी, अश्लेषा, पूर्वाफाल्गुनि, पूर्वाषाढा, पूर्वभाद्रपद, स्वाती, धनिष्ठा, रेवती.	शतभिषक्,हस्त,ज्येष्ठा
शुक्र	१-६-११-१३	४—९—१४	अश्विनी, मृगशिर, पुनर्वसु, हस्त, अनुराधा, पूर्वाषाढा, उत्तराषाढा.	अभिजित्
शनि	४-८-९-१४	५-१०—१५	अश्विनी, पुष्य, मघा, अनुराधा, श्रवण, धनिष्ठा.	मृगशिर,पूर्वाफाल्गुनी. शतभिक्,उत्तराषाढा

एवमेते विरुद्धनामानः १ सामान्ययोग २ सुयोग ३ सिद्धय ४ मृतसिद्धया ५ क्ष्याश्चेति पञ्चविधयोगा उक्ताः आलम्तिकासिद्धि १ यौदृच्छिकसिद्धि २ विलम्बितसिद्धि ३ श्चिन्तितसिद्धि ४ श्चिन्तिताधिकसिद्धि ५ श्चेति क्रमादेषां फलानीति त्रिविक्रमः ॥ पुनर्योगानाह—

योगः कुमारनामा शुभः कुजज्ञेन्दुशुक्रवारेषु । अश्व्याद्यैर्द्व्यन्तरितैर्नन्दादशपञ्चमीतिथिषु ॥ ५३ ॥

व्याख्या—कुजाद्यन्यतमवारे अश्व्याद्यैर्द्व्यन्तरितैरिति अश्विनी १ रोहिणी २ पुनर्वसु ३ मघा ४ हस्त ५ विशाखा ६ मूल ७ श्रवण ८ पूर्वभद्रपदा ९ न्यतमसेम नन्दाद्यन्यतमतिथौ कुमारयोगः । अयं विशिष्य स्थिरकर्मणि मैत्रीदीक्षाव्रतविद्याशिल्पग्रहणादौ गृहप्रवेशे च शुभः । अयं च विरुद्धयोगोत्पत्ति वर्जयता ग्राह्यः । तेन भौमे दशमी पूर्वभद्रपदा च, सोमे एकादशी विशाखा च, बुधे प्रतिपन्मूलमश्विनी वा, शुक्रे रोहिणी, एते कुमारयोगा अपि नेष्टाः यथासंभवं कर्कसंवर्तककाणयमघंटयोगोत्पत्तेरिति श्रीहरिभद्रसूरिकृते लग्नशुद्धिप्रकरणे ॥

राजयोगो भरण्याद्यैर्द्व्यन्तरैर्भैः शुभावहः । भद्रातृतीयाराकासु कुजज्ञभृगुभानुषु ॥ ५४ ॥

व्याख्या—द्व्यन्तरैरिति भरणी १ मृगशिरः २ पुष्य ३ पूर्वाफल्गुनी ४ चित्रा ५ अनुराधा ६ पूर्वाषाढा ७ धनिष्ठा ८ उत्तरभद्रपदा ९ न्यतमे भद्राद्यन्यतमतिथौ कुजाद्यन्यतमवारे राजयोगः । अयं लघुक्षिप्रमङ्गल्यधर्मपौष्टिकभूषणक्षेत्रारंभादिषु विशिष्य श्रेष्ठः, तरुणयोगनामाप्ययमिति पूर्णभद्रः । अयमपि विरुद्धयोगोत्पत्तिं वर्जयता ग्राह्य इति संभाव्यते । तेन रवौ सप्तमी द्वादशी वा भरणी च, भौमे धनिष्ठा, बुधे भरणी धनिष्ठा वा, शुक्रे द्वितीया सप्तमी वा पुष्यश्च, एते राजयोगा अपि नेष्टाः, यथासंभवं संवर्तककर्कवज्रमुसलोत्पातकाणादियोगोत्पत्तेः ॥

स्थिरयोगः शुभो रोगोच्छेदादौ शनिजीवयोः । त्रयोदश्य १३ ष्ट८ रिक्तासु ४-९-१४ द्व्यन्तरैः कृत्तिकादिभैः॥५५॥

व्याख्या—श्लोकार्थस्या उपलक्षणं, शनौ जीवे वा त्रयोदश्याद्यन्यतमतिथौ द्व्यन्तरैरिति कृत्तिका१ऽऽर्द्रा२ऽश्लेषा ३ उत्तरफल्गुनी ४ स्वाति ५ ज्येष्ठा ६

त्तराषाढा ७ शततारा ८ रेवत्य ९ न्यतमभेन स्थिरयोगः रोगोच्छेदादाविति, उक्तं च पाकश्रियां—

" अणसण-खिल-वाहि-रिण रिउ-रण-दिव्वं जलासए बंधो । कायव्वो थिरजोगे जस्स य करणं पुणो नत्थि " ॥१॥

अस्यायं भावः-स्थिरयोगे दत्तानशनो नोत्तिष्ठते, खिलं क्षेत्रं शोध्यं, व्याधिऋणरिपव उच्छेद्याः, युद्धदिव्याद्युपलक्षणत्वाग्निमग्रच्छेदस्नेहच्छेदादि च कार्यमिति । अयं च स्थविरयोगनामापि । तथाऽयं योगोऽतिदुर्बलोऽनारंभित्वात्, स्वभावादनिवर्तकश्लोककार्येष्वेव ग्राह्यो नान्येषु ॥

यमलाख्यो द्विपादर्क्षे त्रिपादर्क्षे त्रिपुष्करः । जीवारशनिवारेषु योगो भद्रातिथौ स्मृतः ॥ ५६ ॥

व्याख्या—येषां द्वौ द्वौ पादौ पूर्वोत्तरराशिस्थौ तानि मृगशीर्ष १ चित्रा २ धनिष्ठा ३ ख्यानि त्रीणि भानि द्विपादानि । येषां तु त्रयः पादाः पूर्वस्मिन्नुत्तरस्मिन् वा राशौ स्थिताः तानि कृत्तिका १ पुनर्वसू २ त्तरफल्गुनी ३ विशाखो ४ त्तराषाढा ५ पूर्वभद्रपदा ६ ख्यानि षड् भानि त्रिपादानि । जीवाद्यन्यतमवारे भद्रातिथौ चेद्द्विपादं भं तदा यमलनामा योगः । तेष्वेव वारतिथिषु चेत्त्रिपादं भं तदा त्रिपुष्करयोगः ॥

पञ्चके वासवान्त्यार्धात्तृणकाष्ठगृहोद्यमान् । याम्यदिग्गमनं शय्यां मृतकार्यं च वर्जयेत् ॥ ५७ ॥

व्याख्या—धनिष्ठायाश्चन्द्रभोगो यदा यावान् टिप्पनके लिखितः स्यात्तदा तत्पश्चार्धादारभ्य पञ्चभा-वधि पञ्चकयोगः । तत्र तृणकाष्ठादि न संग्राह्यं, गृहं नारंभणीयं न चाच्छादनीयं, दक्षिणस्यां यात्रा न कार्या, खट्वादिशय्या न कार्या न च व्यापार्या । यदुक्तं व्यवहारसारे—

" धनिष्ठा धननाशाय प्राणघ्नी शततारका । पूर्वायां दंडयेद्राजा उत्तरा मरणं ध्रुवम् ॥ १ ॥
अग्निदाहश्च रेवत्यामित्येतत्पञ्चके फलम् " इति

मृतकार्यमिति मृतक्रिया काऽपि न कार्या यदि कश्चिदकस्मात् पञ्चके मृतस्तदा छेदनसहितं करचरणबन्धनं तस्य कुर्यादिति लल्लः । तद्वहन-

विधिस्त्वयं गरुडपुराणे—" दर्भमयाश्चत्वारः पुत्तलकाः कृत्वा शवपार्श्वे स्थाप्याः, तेन सहैव च दहनीयाः, अन्यथा पुत्रगोत्रादीनां प्रत्यवायः स्यात् ॥

पञ्चकं श्रवणादीनि पञ्च ऋक्षाणि निर्दिशेत् । केचित्पुनर्धनिष्ठादिपञ्चकं पञ्चकं विदुः ॥ ५८ ॥

व्याख्या—नारचन्द्रे तु श्रवणरेवत्योः सर्वदिग्गमनमनुमन्यमानेन दक्षिणदिग्यात्राऽप्यनुमेने । तथाहि—

" सर्वदिग्गमने हस्तः श्रवणं रेवतीद्वयम् । मृगः पुष्यश्च सिध्यै स्युः कालेषु निखिलेष्वपि " ॥ १ ॥

यमलादीनां संज्ञाः सान्वर्था इत्याह—

हानिवृध्यादिकं सर्वं योगे स्याद्यमले द्विशः । त्रिशस्त्रिपुष्कराख्ये तु पञ्चशः पञ्चकेऽपि च ॥ ५९ ॥

व्याख्या—एवमिष्टमेव कार्यं कार्यं न त्वनिष्टमित्याशयः ॥

गंडान्तं च त्यजेत्त्रेधा लग्न ४-८-१२ तिथ्यु ५-१०-१५ डुषु ९-१८-२७ त्रिषु ।

प्रत्येकं त्रित्रिभागान्तरर्धे १ क२ द्विघटी ३ मितम् ॥ ६० ॥

व्याख्या—त्यजेदिति जन्माधानयात्रोद्वाहव्रतगृहनिवेशप्रवेशक्षौरादिसर्वकार्येष्वशुभो गंडान्त इति भावः । त्रेधेति लग्नगंडान्तः १, तिथिगंडान्तः २, नक्षत्रगंडान्त ३ श्चेति । कथमित्याह-त्रित्रिभागान्तरिति तृतीयस्तृतीयो भागस्त्रित्रिभागः, मयूरव्यंसकादित्वात्तीयप्रत्ययलोपः तत्सन्नियोगजतृआदेशनिवृत्तिश्च, ततोऽयमर्थः—लग्नानि द्वादश,तेषां त्रिभागे त्रिभागे चत्वारि,ततो लग्नानां चतुष्कस्यान्तरेऽर्धघटी,कथं? तुर्यं लग्नं कर्कस्तस्यान्त्यानि पञ्चदश पलानि,पञ्चम-लग्नस्य च सिंहस्याद्यानि पञ्चदश पलानीत्युभयमीलनेऽर्धघटी लग्नगंडान्तः । एवमष्टमनवमयोर्वृश्चिकधनुषोर्द्वादशाद्ययोर्मीनमेषयोश्चान्तरालेऽपि भाव्यं । तिथयः पञ्चदश, तेषां त्रिभागे पञ्च पञ्च ततः पञ्चम्या अन्त्यार्धघटी षष्ठ्या आद्यार्धघटी चेत्येका घटी तिथिगंडान्तः, एवं दशम्येकादश्योः पञ्चदशीप्रति-

पदोश्चान्तरालेऽपि भाव्यं । उडूनि सप्तविंशतिः, तेषां त्रिभागे त्रिभागे नव नव, तत्र नवममश्लेषा तस्या अन्त्या घटी, दशमं मघा तस्या आद्या घटी चेति द्वे घट्यौ नक्षत्रगंडान्तः, एवमष्टादशैकोनविंशयोर्ज्येष्ठामूलयोः सप्तविंशाद्ययो रेवत्यश्विन्योश्चान्तरालेऽपि । गंडान्तस्थापना—

लग्न गंडान्त		तिथि गंडान्त		नक्षत्र गंडान्त	
भाग ३		भाग ३		भाग ३	
४ कर्क	५ सिंह	५	६	९ अश्लेषा	१० मघा
८ वृश्चिक	९ धन	१०	११	१८ ज्येष्ठा	१९ मूल
१२ मीन	१ मे	१५	१	२७ रेवती	१ अश्विनी
अर्धं घटी		एका घटी		द्वे घट्यौ	

श्रीपतिस्तु त्रीनप्येतान् द्विगुणद्विगुणप्रमाणानाह । नक्षत्रगंडान्तोऽष्टघटीमान इति सारङ्गः । नक्षत्रगंडान्तरीत्या विष्कंभादिसप्तविंशतियोगगंडान्तोऽपि पञ्चपञ्चघटीमानो गण्य इति केशवार्कः । विशेषस्तु—

“ नक्षत्रो मातरं हन्ति तिथिजः पितरं तथा ।
लग्नस्थो बालकं हन्ति गंडान्तो बालदूषकः ” ॥ १ ॥ तथा—

“ जातो न जीवति नरो मातुरपथ्यो भवेत्स्वकुलहन्ता ।
यदि जीवति गंडान्ते बहुगजतुरगो भवेद्भूपः ” ॥ १ ॥ तथा—

“ नट्ठं न लब्भई इत्थ अहिदट्ठो न जीवई ।
आऊ वि भवई पायं पत्थिओ न निअत्तई ” ॥ १ ॥

विवाहवृन्दावने तु सन्धिनामाऽपि दोष उक्तः, तथाहि—

“ नक्षत्र १ योग २ तिथि ३ सन्धिषु नाडिकैका, तिथ्य १५ ष्ट ८ विंशति २० पलैः सहितोभयत्र ” ।

अस्य वृत्तार्धस्यायं पिंडार्थः-सर्वेषां तिथि १ नक्षत्र २ योगानां सन्धिषूभयपार्श्वमीलनेन क्रमात्त्रिभागोनत्रिघटिका १ऽर्धतृतीयघटी २ सपादद्विघटिक ३ मात्रा वेला सन्धिदोषमात्री मङ्गल्यकार्येषु त्याज्या । त्रिविक्रमस्त्वेवमप्याह—

"नक्षत्रराश्यो रविसंक्रमे स्युरर्वाक् परत्रापि रसेन्दु १६ नाड्यः । एका घटी षट्पलसंयुतेन्दोर्नाड्यश्चतस्रः सपलाः कुजस्य ॥१॥
बुधस्य तिस्रो मनवः १४ पलानि, सार्धाश्चतस्रः पलसप्त जीवे । द्व्यशीतिनाड्यः पलसप्त शौरेः, शुक्रस्य हेयाः सपलाश्चतस्रः"॥२॥

एता ग्रहाणां नक्षत्रराश्यन्तरसंक्रमेष्वप्युभयपार्श्वयोः प्रत्येकमन्तरनाड्यो माङ्गल्यकार्येषु त्याज्याः ॥

वज्रपातं त्यजेद्द्वित्रिपञ्चषट्सप्तमे तिथौ । मैत्रे२ऽथ त्र्युत्तरे ३ पैत्र्ये ५ ब्राह्मे ६ मूलकरे ७ क्रमात् ॥ ६१ ॥

व्याख्या—द्विव्यादिशब्दैः सह क्रमान्मैत्रे त्र्युत्तरे इत्यादिपदानां योगस्तथा । वज्रपातस्थापना-वज्रपातस्य फलं षण्मासैः कार्यकर्तुर्मृत्युरिति हर्षप्रकाशे । त्रयोदश्या सह चित्रास्वातियोगेऽपि वज्रपातो नारचन्द्रटिप्पनके उक्तविशेषास्तु—"सप्तनवदशमतिथिषु त्यजेत्क्रमाद्भरणिपुष्यसार्पाणि" । तथा—

२	३	५	६	७
अनुराधा	उत्तरात्रिकं	मघा	रोहिणी	मूल—हस्त

" चउरुत्तर पंच मघा कत्तिअ नवमीइ तइअ अणुराहा ।
अट्ठमि रोहिणिसहिआ कालमुही जोगि मास छगि मच्चू "॥१॥

कालमुखीस्थापना—

४	५	९	३	८
उत्तरा ३	मघा	कृत्तिका	अनुराधा	रोहिणी

इदं नारचन्द्रटिप्पनके । तथा—

" मूलद्द साइचित्ता अस्सेस सयभिसय कत्ति रेवइया ।
नंदाए १ भद्दाए भद्दवया फग्गुणी दो दो २ ॥ १ ॥
विजआए मिगसिर अभिइ पुस्सस्सिणि भरणिजिट्ठ ३ रित्ताए । आसाढदुग विसाहा अणुराह पुणव्वसुमहा य ४ ॥ २ ॥
पुन्नाइ करधणिट्ठा रोहिणि ५ इअमयगवत्थनक्खत्ता । नंदिपइट्ठापमुहे चोराउहरायपीडकरा " ॥ १ ॥

इति दिनशुद्धौ । तथा—

" कत्तिअपभिई चउरो सणि बुहि ससि सूरवार जुत्तकमा । पंचमि बिइ एगारसि बारसि अबला सुहे कज्जे " ॥ १ ॥

अबलयोगस्थापना—

कृत्तिका	रोहिणी	मृगशिर	आर्द्रा
शनि	बुध	चन्द्र	रवि
५	२	१	१२

तथा ऋतुभेदाच्छुभाशुभयोगा एवम्—

" कत्ति उ मग्गसिरेऽमि अ पंचमि गुरुवार पुणव्वसू चेव ।
सुहयाउ हुंति सरए अहा दसमी कुजे असुहा ॥ १ ॥
पोसे माहे छट्ठी भिगुत्तराफग्गु अकज्जकरा ।
असुह इगारसि गुरुणा फग्गुणि पुव्वाय हेमंते ॥ २ ॥

फग्गुण चित्ते मासे तेरसि सफला विसाहबुहवारो । बारसि सुके साई वसंतकाले विवज्जिज्जा ॥ ३ ॥
वइसाहजिट्ठ सूरो पडिवय मूलो अ उत्तराफग्गू । सुहगिम्हिअसुह तेरसि सणिवारे सवणनक्खत्तं ॥ ४ ॥
आसाढसावणबिया उत्तरभद्दवय चंद दिण सुहउ । पाउसि उ सुहो उ बुहो चउद्दसि पुव्वा य भद्दवया ॥ ५ ॥
भद्दवय आसो मासे सत्तमि सणिवार रोहिणी सफला । वासारत्ते असुहा रवि कत्तिअ पुन्नमासी अ " ॥ ६ ॥

इति पाकश्रियां । आसु गाथासु ऋतुमासानां नामसु विपर्यासोऽस्ति । कथं ? नाममालादावाश्विनकार्त्तिकादिरूपमासद्वयानां शरदादि नाम प्रसिद्धं, इह तु कार्तिकमार्गशीर्षादिरूपमासद्वयानामुक्तं । तथा शिशिरर्तुरत्र मूलतोऽपि नोक्तः, वर्षर्तोरेव प्रावृड्वर्षारात्ररूपनामद्वयमारोप्य ऋतुषट्कं पूरितमिति ज्ञेयं विपर्यासस्तद्ग्रन्थकृन्मतेनेति ज्ञेयम् ॥ रवियोगमाह—

योगो रवेर्भात् कृत ४ तर्क ६ नन्द ९ दिग् १० विश्व १३ विंशो २० ड्डुषु सर्वसिद्ध्यै ।
आद्ये १ न्द्रिया ५ श्व ७ द्विप ८ रुद्र ११ सारी १५ राजो १६ ड्डुषु प्राणहरस्तु हेयः ॥ ६२ ॥

व्याख्या—रवेरित्युभयतोऽपि योज्यं । कथं? रवेर्भादिति कोऽर्थः? रविभुज्यमानभात्तद्दिनभं चेत्तुर्यं तदा तुर्यो रवेर्योगः, षष्ठं चेत्तदा षष्ठो रवेर्योग इत्यादि । सर्वसिद्ध्यै इति । यदुक्तं हर्षप्रकाशे—

" पमाण फलं कमसो विउलं सुक्खं ४ जयं च सत्तूणं ६ । लाभं च ९ कज्जसिद्धी १० पुत्तुप्पत्तीअ १३ रज्जं च २०" ॥१॥

अत्र पुत्तुप्पत्ती अ त्ति पुत्रोत्पत्तिः । यादृशं शुद्धलग्नानां बलं तादृशमेषां रवियोगानां बलमिति यतिवल्लभे । उक्तं च—

" इक्कस्स भए पंचाणणस्स भज्जंति गयघडसहस्सा । तह रविजोगपणट्ठा गयणंमि गहा न दीसंति ॥ १ ॥
रविजोगराजजोगे कुमारजोगे अ सुद्धदिअहेऽवि । जं सुहकज्जं कीरइ तं सव्वं बहुफलं होइ " ॥ २ ॥

आद्येन्द्रियेत्यादि यत्रार्कभमेव तद्दिनभं तदा आद्यो रवियोग इत्यादि । द्विपा अष्टौ । सार्यो द्यूतोपयोगिन्यः पञ्चदश । राजानः षोडश । रवियोगेष्वभिजिन्न गण्यते, सप्तविंशतेरेव तेषां ग्रन्थान्तरे फलकथनात् । तत्र द्वितीयतृतीयद्वादशसप्तदशषड्विंशसप्तविंशानामनिषिद्धानुक्तत्वादेव मध्यमत्वमूह्यं । शेषाणां तु शुभाशुभत्वमत्रापि साक्षादेव केषाञ्चिदुक्तं केषाञ्चिद्वक्ष्यते चोपग्रहतयेति ॥

अथ सप्तविंशतौ रवियोगेषु येषामुपग्रहसंज्ञा नास्ति तानाह—

नोपग्रहास्तु भूत्यै भूपा ५ द्रि ७ फणी ८ न्द्र १४ तिथि १५ धृति १८ युगले १९ ।
रविभात्तथैकविंशादिषु पञ्चसु २१-२२-२३-२४-२५ चरति मेष्विन्दौ ॥ ६३ ॥

व्याख्या—धृतियुगकं धृत्यतिधृती अष्टादशैकोनविंश्योश्छन्दोजाती । चरतीति रविभादेतावत्सु धिष्ण्येषु दिनभेषु सत्सु क्रमादेते द्वादशोपग्रहाः स्युरित्यर्थः एषामष्टानां संज्ञा उद्वाहादौ फलं चैवं नारचन्द्रे उक्तम्—

" विद्युन्मुख १ शूला २ शनि ३ केतू ४ ल्का ५ वज्र ६ कम्प ७ निर्घाताः ८ ।
क ५ ज ८ ढ १४ द १८ ध १९ फ २२ ब२ ३ भ २४ संख्ये रविपुरत उपग्रहा धिष्ण्ये ॥ १ ॥
फलमङ्ग १ पतिमरणे २ दशमदिनान्तस्तथाऽशनिनिपातः ३ । सानुजपति ४ धननाशौ ५ दौःशील्यं ६ स्थान ७ कुलघातौ८" ॥२॥

शेषास्तु चत्वार उपग्रहाः सामान्येनानिष्टफलदाः एकाशीतिपदाख्यवेधचक्रादावप्येतदनुसारेणोपग्रहफलं ज्ञेयं । विशेषस्तु आडकयोगविचारणेऽग्रिमेऽपि गण्यते ।

---

४ ३ २ १ २८ २७ २६

५ ६ ७ ८ ९ १० ११

आडलोऽयं

२५ २४ २३ २२ २१ २० १९

आडलस्थापना यथा इह च—

"द्वि२ हया७ ङ्के९ न्द्र१४ भूपै१६ क२१ त्र्य२३ ष्टयुग्विंशति२८ प्रमे ।
सूर्यभाच्चन्द्रमे स्यादा×डलस्त्याज्यः सदा बुधैः " ॥ १ ॥

शेषाङ्कास्तु स्थापनायामर्थव्यक्तीकरणार्थमेव लिखिताः, आडलेऽनुपयोगित्वात् । नरपतिजयचर्यायां त्वाडलानयनोपाय एवमूचे—

" सूर्यभाद्गुणयेन्दोभ सप्तभिर्भागमाहर ।
शून्यं द्वौ वा न शेषौ चेदाडलो नास्ति निश्चितम् " ॥ १ ॥

अयं च योगः प्रायः सुरगिरिदिशि व्याप्रियते, एतद्गणने च नवमो रवियोगो यात्रादौ नेष्ट इत्यागतम् ॥

अथ प्रत्यहभाविन उपयोगानाह—

उपयोगास्त्वश्वि१मृगा२श्लेषा३कर४मैत्र५वैश्व६वारुणतः७।
रव्यादिषु तद्दिनभप्रमिताः क्रमतोऽभिधानफलाः ॥ ६४ ॥

व्याख्या—रव्यादिष्विति रविवारेऽश्विनीतो गण्यं, सोमवारे मृगशीर्षात्,

---

× डलो यात्रासु रोधकृत् इति वा पाठः,

भौमवारेऽश्लेषात इत्यादि । अत्रामिविल्लण्यते । एवं च गणने इष्टदिनभं यावतिथं स्यात्तावतिथस्तद्दिने उपयोगः ॥ तन्नामान्याह—

आनन्दः१ कालदंडश्च२ प्राजापत्यः३ सुरोत्तमः४ ।
सौम्यो५ ध्वांक्षो६ ध्वजश्चैव७ श्रीवत्सो८ वज्र९ मुद्गरौ१० ॥ ६५ ॥
छत्रं११ मित्रं१२ मनोज्ञश्च१३ कंपो१४ लुंपक१५ एव च ।
प्रवासो१६ मरणं१७ व्याधिः१८ सिद्धिः१९ शूला२०मृतौ२१ तथा ॥ ६६ ॥
मुसलो२२ गज२३ मातङ्गौ२४ राक्षसो२५ऽथ चरः२६ स्थिरः२७ ।
वर्धमान२८ श्चेति नाम्ना स्युरष्टाविंशतिः क्रमात् ॥ ६७ ॥

प्रथमविमर्शे आनन्दा-योगानाह ॥४६॥



व्याख्या—उपयोगानां क्रमात्स्थापना यथा—

	रवि	सोम	मंगल	बुध	गुरु	शुक्र	शनि
१ आनंद	अश्विनी	मृगशिर	अश्लेषा	हस्त	अनुराधा	उत्तराषाढा	शतभिषा
२ काळदंड	भरणी	आर्द्रा	मघा	चित्रा	ज्येष्ठा	अभिजित्	पूर्वाभाद्रपद
३ प्राजापत्य	कृत्तिका	पुनर्वसु	पूर्वाफाल्गुनी	स्वाति	मूल	श्रवण	उत्तराभाद्रपद
४ सुरोत्तम	रोहिणी	पुष्य	उत्तराफाल्गुनी	विशाखा	पूर्वाषाढा	धनिष्ठा	रेवती
५ सौम्य	मृगशिर	अश्लेषा	हस्त	अनुराधा	उत्तराषाढा	शतभिषा	अश्विनी
६ ध्वांक्ष	आर्द्रा	मघा	चित्रा	ज्येष्ठा	अभिजित्	पूर्वाभाद्रपद	भरणी
७ ध्वज	पुनर्वसु	पूर्वाफाल्गुनी	स्वाति	मूल	श्रवण	उत्तराभाद्रपद	कृत्तिका
८ श्रीवत्स	पुष्य	उत्तराफाल्गुनी	विशाखा	पूर्वाषाढा	धनिष्ठा	रेवती	रोहिणी
९ वज्र	अश्लेषा	हस्त	अनुराधा	उत्तराषाढा	शतभिषा	अश्विनी	मृगशिर
१० मुद्गर	मघा	चित्रा	ज्येष्ठा	अभिजित्	पूर्वाभाद्रपद	भरणी	आर्द्रा
११ छत्र	पूर्वाफाल्गुनी	स्वाति	मूल	श्रवण	उत्तराभाद्रपद	कृत्तिका	पुनर्वसु
१२ मित्र	उत्तराफाल्गुनी	विशाखा	पूर्वाषाढा	धनिष्ठा	रेवती	रोहिणी	पुष्य
[illegible]	[illegible]	अनुराधा	उत्तराषाढा	शतभिषा	अश्विनी	मृगशिर	अश्लेषा

१४ कंप	चित्रा	ज्येष्ठा	अभिजित्	पूर्वाभाद्रपद	भरणी	आर्द्रा	मघा
१५ लुंपक	स्वाति	मूल	श्रवण	उत्तराभाद्रपद	कृत्तिका	पुनर्वसु	पूर्वाफाल्गुनी
१६ प्रवास	विशाखा	पूर्वाषाढा	धनिष्ठा	रेवती	रोहिणी	पुष्य	उत्तराफाल्गुनी
१७ मरण	अनुराधा	उत्तराषाढा	शतभिषा	अश्विनी	मृगशिर	अश्लेषा	हस्त
१८ व्याधि	ज्येष्ठा	अभिजित्	पूर्वाभाद्रपद	भरणी	आर्द्रा	मघा	चित्रा
१९ सिद्धि	मूल	श्रवण	उत्तराभाद्रपद	कृतिका	पुनर्वसु	पूर्वाफाल्गुनी	स्वाति
२० शूल	पूर्वाषाढा	धनिष्ठा	रेवती	रोहिणी	पुष्य	उत्तराफाल्गुनी	विशाखा
२१ अमृत	उत्तराषाढा	शतभिषा	अश्विनी	मृगशिर	अश्लेषा	हस्त	अनुराधा
२२ मुसल	अभिजित्	पूर्वाभाद्रपद	भरणी	आर्द्रा	मघा	चित्रा	ज्येष्ठा
२३ गज	श्रवण	उत्तराभाद्रपद	कृतिका	पुनर्वसु	पूर्वाफाल्गुनी	स्वाति	मूल
२४ मातंग	धनिष्ठा	रेवती	रोहिणी	पुष्य	उत्तराफाल्गुनी	विशाखा	पूर्वाषाढा
२५ राक्षस	शतभिषक्	अश्विनी	मृगशिर	अश्लेषा	हस्त	अनुराधा	उत्तराषाढा
२६ चर	पूर्वाभाद्रपद	भरणी	आर्द्रा	मघा	चित्रा	ज्येष्ठा	अभिजित्
२७ स्थिर	उत्तराभाद्रपद	कृत्तिका	पुनर्वसु	पूर्वाफाल्गुनी	स्वाति	मूल	श्रवण
२८ वर्धमान	रेवती	रोहिणी	पुष्य	उत्तराफाल्गुनी	विशाखा	पूर्वाषाढा	धनिष्ठा

एषां फलं नामभिरेव व्यञ्जितमिति न पृथक् प्रतन्यते । केचित् प्राजापत्य १ सुरोत्तम २ मनोज्ञादिषट्क८ शूल९ गजानां१० क्रमेण धूम्र१ प्रजापति२ मानस३ पद्म४ लंबको५ त्पात६ मृत्यु७ काण८ शुभ९ गद१० संज्ञाः प्राहुः । उपयोगसंज्ञा चान्वर्था अमीषां विष्कंभाद्यहर्योगसमीप एव सदाभावात् ॥ कुयोगेष्वपवादमाह—

यत्प्रातिकूल्यं वाराणां तिथिनक्षत्रसंभवम् । हूणवंगखसेष्वेव तत्त्यजेदिति केचन ॥ ६७ ॥

व्याख्या—तिथिसंभवं यथा संवर्तककर्कयोगादौ । नक्षत्रसभवं यथा उत्पातमृत्युकाणोपयोगादौ । हूणाद्या देशविशेषाः । केचनेति अयं भावः— एकान्तिककार्यं विना शेषेष्वपि देशेष्वेते त्याज्याः ॥ शुभाशुभयोगसंकरे शुभयोगबलमाह—

सिद्धियोगः कुयोगश्च जायेतां युगपद्यदि । कुयोगं तत्र निर्जित्य सिद्धियोगो विजृम्भते ॥ ६८ ॥

व्याख्या—यौगिकनामाश्रयणाच्छुभयोगः सर्वोऽपि सिद्धियोगशब्देनात्र ग्राह्यः ॥ अथ दिनयोगानाह—

विष्कंभः१ प्रीति२ रायुष्मान्३ सौभाग्यः४ शोभन५ स्तथा । अतिगंडः६ सुकर्मा७ च धृतिः८ शूलं९ तथैव च ॥६९॥

गंडो१० वृद्धि११ र्ध्रुव१२ श्चैव व्याघातो१३ हर्षण१४ स्तथा ।
वज्रं१५ सिद्धि१६ र्व्यतीपातो१७ वरीयान्१८ परिघः१९ शिवः२० ॥ ७० ॥
सिद्धः२१ साध्यः२२ शुभः२३ शुक्लो२४ ब्रह्मा२५ चैन्द्रो२६ऽथ वधृतः२७ ।
इति सान्वयनामानो योगाः स्युः सप्तविंशतिः ॥ ७१ ॥

व्याख्या—स्पष्टाः । विशेषस्तु

"विक्खंभ१ सूल२ गंडे३ अइगंडे४ वज्ज५ तह य वाघाए६ । वइधिइ७ सुराइकमा अहुदुट्ठा मूलजोगा ओ" ॥ १ ॥

इति नारचन्द्रटिप्पनके ॥ एषु दुष्टयोगानां दुष्टघटीराह—

व्यतिपातवैधृताख्यौ सकलौ परिघस्य पूर्वमर्धं च । प्रथमः पादोऽन्येष्वपि विरुद्धसंज्ञेषु हातव्यः ॥ ७२ ॥

व्याख्या—पूर्वार्धं पादश्च टिप्पनकलिखिततादात्विकतत्प्रमाणापेक्षया निर्णेयः । विरुद्धसंज्ञेष्विति विशिष्टं कर्म जायमानं रुणद्धीति विरुद्धा दुष्टार्थमिलितेत्यर्थः, तादृशी संज्ञा येषां ते विष्कंभगंडातिगंडशूलव्याघातवज्रपातेषु ॥ प्रथमः पाद इति यदुक्तं तत्र प्रकारान्तरमाह—

त्यजेद्वा पञ्च विष्कंभे षट् तु गंडातिगंडयोः । घटिकाः सप्त शूले तु नव व्याघातवज्रयोः ॥ ७३ ॥

व्याख्या—स्पष्टः । विष्कंभादिदुष्टयोगेष्वेकार्गलवेधयोगस्योत्पत्तिमाह—

एकार्गलः कुयोगेषु चन्द्रेऽर्के च परस्परात् । गते साभिजिदोजर्क्षं त्याज्यः पादान्तरो न चेत् ॥ ७४ ॥

व्याख्या—एकार्गलस्त्याज्य इति संटंकः । कुयोगेष्विति अनेन प्रीत्यायुष्मदादिसुयोगेष्वेकार्गलो न स्यादेवेति सूचितं । कुयोगेषु सत्स्वपि कदाऽस्य संभव इत्याह—चन्द्रेऽर्के चेत्यादि, साभिजिदित्यत्र सहशब्दो विद्यमानार्थे, तेनाभिजिदत्र गण्यत इत्यभिप्रायः । एवं लत्ताश्लोकेऽपि व्याख्येयं । ततोऽभिजिता सहाष्टाविंशतिनक्षत्रेषु वक्ष्यमाणरीत्या एकार्गलचक्रे क्रमान्न्यस्तेषु चन्द्रादर्कोऽर्कोच्च चन्द्रो यद्यन्योन्यस्माद्विषमे नक्षत्रे एकस्मिन्नर्गले स्थितौ स्यातां तदा एकार्गलः स्यात् स त्याज्यः, यस्मिन्नक्षत्रे एकार्गलः पतति तन्नक्षत्रं शुभकार्येषु त्याज्यमित्यर्थः । पादान्तरो न चेदिति, पादयो-र्नक्षत्रसंबन्धिनोश्चन्द्रार्काभ्यामाक्रान्तयोरन्तरं प्रक्रमान्मिथो सांमुख्यरूपो विशेषो यत्र स पादान्तर एकार्गलः, अयमनन्तरितपाद एकान्तेन त्याज्यः ।

चंद्र मृगशिर सूर्य

रोहिणी — आर्द्रा
कृत्तिका — पुनर्वसु
भरणी — पुष्य
अश्विनी — अश्लेषा
रेवती — मघा
उत्तराभाद्रपद — पूर्वाफाल्गुनी
पूर्वाभाद्रपद — उत्तराफाल्गुनी
शतभिषक् — हस्त
धनिष्ठा — चित्रा
श्रवण — स्वाती
अभिजित् — विशाखा
उत्तराषाढा — अनुराधा
पूर्वाषाढा — ज्येष्ठा

मूल

पादान्तरितस्य तु त्यागे कामचार इति भावः ॥

एतमेवस्थापनादिविधिना विशिष्याह—

तिर्यक् त्रयोदशोर्ध्वैकरेखे खर्जूरके त्यजेत् ।
कुयोगे शीर्षभादर्कचन्द्रावेकार्गलर्क्षगौ ॥ ७५ ॥

व्याख्या—तिर्यक् त्रयोदश रेखाः स्थाप्या ऊर्ध्वा चैका, खर्जूरकोऽयं, तदाकारत्वात् । शीर्षभादिति खर्जूरकस्य शीर्षे वक्ष्यमाणरीत्या भं स्थाप्यं शेषसप्तविंशतिभानि प्रादक्षिण्येन क्रमाद्रेखान्तेषु च, ततश्चैकरेखारूपार्गलप्रान्तद्वयस्थयोर्नक्षत्रयोरर्केन्दू यदि स्यातां तदा एकार्गलः स्यात् । तत्स्थापना यथा—

चं. सु

४ — — १
३ — — २
२ — — ३
१ — — ४

तत्रापि मिथः संमुखयोरेव भपादयोर्यदि तौ स्यातां तदानन्तर एकार्गलः संपूर्ण इत्यर्थः । यथा (स्थापना)—

उक्तं च—

"आद्येन विध्यते तुर्यो द्वितीयेन तृतीयकः।
तृतीयेन द्वितीयस्तु तुर्येण प्रथमस्तथा"।१।

अन्यथा त्वर्केन्दोरवस्थाने पादान्तरितोऽसौ न दोषाय । अयं भावः—यथा धानुष्कस्य लक्ष्यं विध्यतः स्वल्पमपि लक्ष्याग्राहकचलने कार्यसिद्धिर्न स्यादेव तथा वेधोऽपि पादाग्राद्भ्रिष्टो नार्थभाग्भवेत् । उक्तं च यतिवल्लभे—

" बाणाग्रदृष्टिपाताद्यद्वल्लक्ष्यं भिनत्ति धानुष्कः । तद्वत्समदृष्टिगतो वेधो धिष्ण्यं प्रदूषयति " ॥ १ ॥

एवं वक्ष्यमाणवेधेष्वप्यूह्यम् ॥ शीर्षभस्यानयनमाह—

खर्जूरकस्य शीर्षर्क्षमानमेकार्गले मतम् । योगाङ्क सैक ओजोऽन्यः साष्टाविंशतिरर्धितः ॥ ७६ ॥

व्याख्या—शीर्षर्क्षमानमिति एतावतिथं भं शीर्षे देयमिति कथ्यमानत्वान्मानशब्दोऽत्र प्रयुक्तः । योगाङ्क इति इष्टदिने यो विष्कंभादियोगस्तस्याङ्कश्चेद्विषमस्तदा सैकः कार्यः, समश्चेत्तदाऽष्टाविंशतियुतः कार्यः, पश्चादुभावप्यर्धीकार्यौ, ततो योऽङ्कः स्यात्तावतिथं भं खर्जूरकस्य शीर्षे देयं । यथा इष्टेऽह्नि मूलयोगो नवमः, सैकत्वे दश, अर्धिते पञ्च, ततः पञ्चमं भं मृगशीर्षं तद्दिने मूर्ध्नि दीयते । तथा इष्टेऽह्नि गंडयोगो दशमः, अष्टाविंशतियोगेऽष्टात्रिंशत्, अर्धिते एकोनविंशतिः, तत एकोनविंशत मूलं तद्दिने मूर्ध्नि देयं, एवमन्यकुयोगेष्वपि भाव्यं । तथा च लल्लः—

" शूले मूर्ध्नि मृगो मघा च परिघे चित्रा पुनर्वैधृते, व्याघाते च पुनर्वसू निगदितौ पुष्यश्च वज्रे स्मृतः ।
गंडे मूलमथाश्विनी प्रथमके मैत्रोऽतिगंडे तथा, सार्पश्च व्यतिपात इन्दुतपनावेकार्गलस्थौ यदा " ॥ १ ॥

अत्र प्रथमके इति विष्कंभे । सप्तशलाकचक्रेण वेधयोगमाह—

वेध ऊर्ध्वतिरःसप्तरेखे पूर्वादितोऽग्निभात् । भस्य रेखाग्रगे खेटे हेयश्चेन्न पदान्तरम् ॥ ७७ ॥

व्याख्या—सप्त रेखाः समाहृताः सप्तरेखं, तत्र पूर्वस्यामादौ न्यस्तादग्निभादारभ्य यथास्थानं लिखितस्येष्टभस्य रेखाऽग्रगे खेटे सति तेन वेधः स्यादिति सर्वसंटंकः । अयं भावः—ऊर्ध्वं तिर्यक् च सप्त रेखाः कृत्वा तासामन्तेषु पूर्वादिचतुर्दिक्षु कृत्तिकादिसप्तसप्तभान्यभिजिद्युतानि न्यस्यन्ते । तथाहि (स्थापना)—

कृ रो मृ आ पुन पुष्य अश्ले

भ								म
अ								पु
रे								उ
उ								ह
पू								चि
श								स्वा
ध								वि

श्र अ उ पू मू ज्ये अनु

ततो यो यो ग्रहो यत्र यत्र भे स्यात् स स तत्र तत्र स्थाप्यः । ततो यद्रेखायाः प्रान्ते तद्दिनभं समागतं तस्य द्वितीयप्रान्तस्थभे यदि कश्चिद्ग्रहः स्यात्तदा तेन ग्रहेणेष्टभस्य वेधः स्यात् स हेयः । यतः क्रूरवेधे मृत्युरेव, सौम्यवेधे तु सर्वथा सुखनाशः अत्रापवादमाह-चेत्रेत्यादि यदि स वेधः पूर्वोक्तरीत्या पादान्तरितः स्यात्तदा त्यागे कामचारः अयं भावः–इष्टभस्य यस्मिन् पादे कार्यं चिकीर्ष्यते तस्य संमुखे भपादे चेत्स ग्रहो नास्ति, किं तु पादान्तरेऽस्ति, तदा पादान्तरोऽसौ ग्रहवेधो न दुष्टः । यत् पूर्णभद्रः––

" विद्धं पादं परित्यज्य कुर्यात् कार्यमशङ्कितः ।
सर्पदष्टाङ्गुलिच्छेदे विष (षा) वेशोद्भवः कुतः "॥ १ ॥

केशवार्कस्तु क्रूरग्रहवेधं पादान्तरितमपि ग्रहीतुं नानुमन्यते, आह च––

" विश्लेषमायाति यथाऽसुभिः स्वैरेणः शरेणैकदिशि क्षतोऽपि ।
तथांह्रिवेधादपि तारकाणां, क्रूरस्य नश्येद्बलसत्त्वसंपत् " ॥१॥

श्रीपतिरप्याह––

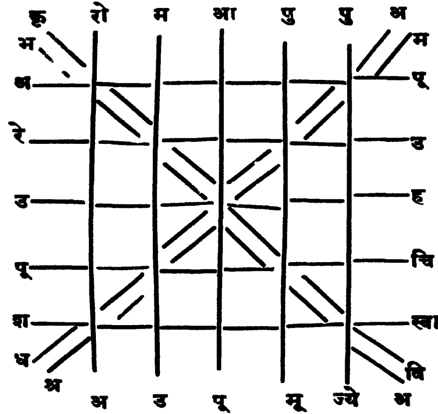
" ऋक्षं सोम्यग्रहैर्विद्धं पादमात्रं परित्यजेत् ।
क्रूरस्तु सकलं त्याज्यमिति वेधविनिश्चयः" ॥ १ ॥

विवाहे विचार्यमपरं वेधयोगं पञ्चशलाकचक्रेणाह--

विवाहे पूर्ववत्पञ्च रेखा द्वे द्वे तु कोणके। लिखित्वाग्निभतो भानि वेधं तत्रापि चिन्तयेत् ॥ ७८ ॥

व्याख्या--पूर्ववदिति तिर्यगूर्ध्वं च पञ्च पञ्च रेखाः कोणेषु द्वे द्वे च कृत्वा तासु क्रमाद्भानि, तेषु च यथासंभवं ग्रहाः स्थाप्या इत्यर्थः।

विवाहे वेधचक्रस्य पञ्चरेखनाम्नः स्थापनेयम्--



तत्रापीति अव्ययानामनेकार्थत्वादपिशब्दोऽत्रावधारणे, तेन पूर्वोक्तः सप्तरेखवेधः प्रतिष्ठादिसर्वकार्येषु वीक्ष्यः, विवाहे त्वयमेव पञ्चरेखचक्रवेधः। उक्तं च विवाहवृन्दावने-"अन्यतः परिणयादयं वेधः सप्तरेखवलये"। विलोक्यते अत्रापि पादान्तरितत्वादिप्ररूपणा प्राग्वज्ज्ञेया। अनन्तरिते ग्रहवेधे च फलमेवम्-

"रवि विहवा कुजि कुलक्खय बुहि बंझा भिगु अपुत्त सणि दासी
गुरुवेहेण तवस्सिणि विलासिणी राहुकेऊहिं" ॥ १ ॥

अयं वेधो दीक्षायामपि वीक्ष्यः इति पूर्णभद्रः। आह च-

" सूरिपयाइसु सत्तसलाय वयगहणाइसु पंचसलायं।
कत्तिअमाइ ठविज्ज हु चक्कं जो अह ससिणा तो गहवेहं ॥१॥

अत्र ससिणो त्ति चन्द्राधिष्ठितनक्षत्रस्येत्यर्थः ॥

लत्तायोगमाह--

लत्ता वर्ज्येष्टभादर्कादीनां साभिजिदीयुषाम् । धृत्या१८कृत्यु२२ड्डु२७सप्ता७र्हत्२४पञ्चा५कृत्य२२ङ्क९संख्यभं॥७९॥

व्याख्या——आकृतिर्द्वाविंशच्छन्दोजातिः । उडूनि सप्तविंशतिः । अर्हन्तश्चतुर्विंशतिः अङ्का नव । अयमर्थः—इष्टभादष्टादशे भे स्थितः सवार्क इष्टभं लत्तया हन्ति, चन्द्रस्तु द्वाविंशे भे स्थितः सप्तिस्यादि । लत्ता किल पादप्रहारः स चाश्वादीनामिव प्रायः पृष्ठतः स्यात्ततस्तथोक्तः ॥

अथ ज्योतिर्विदां नक्षत्रगणनसौकर्यार्थं यथा पुरतः स्यात्तथा पाठान्तरेणाह——

लत्तयन्ति भमर्काद्याः स्वर्क्षतः साभिजित्क्रमात् । अर्का१२ष्टा८ग्नि३ विकृत्य२३ङ्ग६ तत्त्वा२५ष्ट८ प्रकृति२१प्रमं॥८०

व्याख्या—स्वर्क्षत इति यद्येन ग्रहेण तदा आक्रान्तं स्यात्तस्य तत् स्वर्क्षं, ततो येषु येषु भेष्वर्काद्या राह्वन्ताः स्थिताः स्युस्तेभ्योऽग्रे क्रमाद्द्वादशादीनि भानि लत्तया घ्नन्ति । विकृतिप्रकृती त्रयोविंश्यैकविंश्यौ छन्दोजाती । तत्त्वानि सांख्यमते पञ्चविंशतिः । उत्तरार्धे सुखार्थं पाठान्तरं—'ः सूर्या १२ ष्ट८ त्रि३ त्रयोविंश२३ षट्६ तत्त्वा २५ ष्टै८ कविंशकः२१ । अस्मिँश्च लत्ताद्वैविध्येऽपि नार्थभेदः । तथाहि—इष्टभमश्विनी ततोऽष्टादशे भे ज्येष्ठायां स्थितोऽर्कोऽश्विनीं पृष्ठतो लत्तयति । तथार्कस्य स्वर्क्षं ज्येष्ठा तत्रस्थोऽर्कः पुरतो द्वादशं भमश्विनीं लत्तयति । एवं सर्वत्र भाव्यं । ननु यदिष्टदिनस्थभं तदेवेन्दोर्भं, तत्रस्थश्चेन्दुर्यदि द्वाविंशमष्टमं वा भं लत्तयति तदेष्टभस्य किमागतं ? ततश्चेष्टभस्येन्दुलत्ताविचारणं व्यर्थमेवापद्यते । सत्यं, परमिन्दुः परिपूर्ण एव सन् भं लत्तयति, नान्यथा, यदाह श्रीपतिः—" द्वाविंशं परिपूर्णमूर्तिरुडुपः संतापयेन्नेतरः " । ततो गतराका यत्र भे समाप्ता स्यात्तदेवेन्दोर्भं कल्पयित्वा ततो विचार्यं । उक्तं च यतिवल्लभे——

" चकार यत्र नक्षत्रे राकान्तं रजनीकरः । ततश्चाष्टमनक्षत्रं स पुरो हन्ति लत्तया " ॥ १ ॥

लत्तायां परमतमप्याह—

अग्रतो नवमे राहोः सप्तविंशे भृगोस्तु भे । केचिज्ज्योतिर्विदः प्राहुर्लत्तां तामपि वर्जयेत् ॥ ८१ ॥

व्याख्या—नवमे इति, त्रिविक्रमस्तु विंशे भे राहोर्लत्तामाह, तथाहि—" नख२० संख्यं तमोहन्तीति " । लत्ताफलं च पौर्णभद्रज्योतिषे एवमुक्तम्—

"अणुजविणासो १ नासो २ कज्जाभावो ३ भयं ४ विहवछेऊ ५ । गुरु १ बुह २ सिअ ३ ससि ४ रवि ५ हयरिक्खेसु मरणमन्नेसु"॥१

इह च वृद्धाः प्राहुः—' सौम्यलत्ताः किल स्वल्पदोषाः, भस्य हि दौर्बल्यमेव ताः कुर्युः, क्रूरलत्तास्तु मरणदारिद्र्यादिनाऽनर्थदाः । केशवार्कोऽप्याह—

" उडुनि निर्दलिते शुभलत्तया, न फलमस्ति भस्य गलत्तया । अशुभलत्ति भमत्ति तदुद्भयोर्धनसुतानसुतापकरं परम् " ॥ १ ॥

ग्रन्थान्तरेत्वेवमूचे—

" सौम्यलत्ताहतं पातोपग्रहाद्यैश्च दूषितम् । भपादं वर्जयेदेव भश्च केन्द्रे न चेच्छुभाः " ॥ १ ॥

अस्यायं भावः- यदि तात्कालिककार्ये लग्ने केन्द्रेषु शुभग्रहाः स्युस्तदा सौम्यग्रहलत्ता पादान्तरिता न दुष्यति । केन्द्रेषु शुभग्रहाभावे तु सौम्य-लत्ताहतमपि भं संपूर्णमपि त्याज्यं, एवमुपग्रहपातादिहतेऽपि भे वाच्यम् ॥ पातयोगमाह—

पातः सूर्यर्क्षतोऽश्लेषा मघा चित्रानुराधिका । श्रुतिः पौष्णं च यत्र स्युस्त्याज्यस्तत्संख्यभेऽश्विभात् ॥ ८२ ॥

व्याख्या—इष्टदिने यत्र भेऽर्कः स्यात्तस्मादश्लेषाद्युक्तर्क्षाणि यत्र सङ्ख्यायां स्युः, कोऽर्थः ? यावतिथानि स्युः, अश्विनीतो गणनया ताव-तिथेषु षड्भेषु पातः स्यात् । अस्य त्रिशूलपात इति नामान्तरं । भावना यथा—यदा सूर्यभं ज्येष्ठा ततोऽश्लेषा एकोनविंशी, मघा, विंशी, चित्रा चतु-

विंशी, अनुराधा सप्तविंशी, श्रुतिः पञ्चमी, पौष्णं दशमं चेत्यतस्तद्दिनेऽश्विनीत एकोनविंश १ विंश २ चतुर्विंश ३ सप्तविंश ४ पञ्चम ५ दशमीषु ६ मूल १ पूर्वाषाढा २ शतभिषग् ३ रेवती ४ मृगशिरो ५ मघासु ६ पातः स्यात् । एवमन्यदपि भाव्यं । पातेऽभिजिन्न गण्यते ॥

अत्र सुखार्थमाम्नायमाह—

पातं शूलस्य गंडस्य हर्षणव्यतिपातयोः । साध्यवैधृतयोश्चान्ते धिष्ण्यं यत्तत्र वर्जयेत् ॥ ८३ ॥

व्याख्या—शूलाद्या एते षड् योगा येषु भेषु समाप्यन्ते तेषु तेष्वेते षडपि पाताः क्रमात् स्युः—

" पवनः १ पावक २ श्चैव कालः ३ किंकर ४ एव च । मृत्युकृत् ५ क्षयकृ ६ च्चेति पाता नामसदृक्फलाः " ॥ १ ॥

एताः संज्ञा नरपतिजयचर्यायाम् ॥

॥ इति योगद्वारम् ॥ ४

इति श्रीमति आरंभसिद्धिवार्त्तिके तिथि १ वार २ भ ३ योग ४ परीक्षात्मकः प्रथमो विमर्शः ॥ १

श्रीसूरीश्वरसोमसुन्दरगुरोर्निःशेषशिष्याग्रणीर्गच्छेन्द्रप्रभुरत्नशेखरगुरुर्देदीप्यते साम्प्रतम् ।
तच्छिष्याश्रवहेमहंसरचितस्यारंभसिध्धेः सुधी शृङ्गाराभिधवार्तिकस्य समभूदाद्यो विमर्शोऽर्थतः ॥ १ ॥

॥ द्वितीयो विमर्शः ॥ ५

॥ अथ राशिद्वारम् ॥ ५

राशिरथ तत्र मेषोऽश्विनी च भरणी च कृत्तिकापादः। वृषभस्तु कृत्तिकांह्रित्रयान्विता रोहिणी समार्गार्धा ॥१॥
मिथुनो मृगार्धमार्द्रा पुनर्वसोश्चांह्रयस्त्रयः प्रथमे। कर्की च पुनर्वस्वोः पादः पुष्यस्तथाऽश्लेषा ॥ २ ॥
सिंहस्तु मघाः पूर्वाफल्गुन्यः पाद उत्तराणां च। कन्योत्तरात्रिपादी हस्तश्चित्रार्धमाद्यं च ॥ ३ ॥
तौली चित्रान्त्यार्धं स्वातिः पादत्रयं विशाखायाः। स्याद्वृश्चिको विशाखाचतुर्थपादोऽनुराधिका ज्येष्ठा ॥४॥
धन्वी मूलं पूर्वाषाढाऽपि च पाद उत्तराषाढः। स्यान्मकर उत्तराषाढांह्रित्रितयं श्रुतिर्धनिष्ठार्धम् ॥ ५ ॥
कुंभोऽन्त्यधनिष्ठार्धं शततारा पूर्वभाद्रपात्रिपदी। मीनो भाद्रपदांह्रिस्तथोत्तरा रेवती चेति ॥ ६ ॥

व्याख्या—एषां भावना–राशिकल्पनेऽभिजित् पृथग्न गण्यते, ततः सप्त विंशतौ भेषु प्रत्येकं पादचतुष्कभावाद्येऽष्टोत्तरं शतं नक्षत्रपादा वर्णैस्य-स्वकथनेन प्राक् सूचितास्तेषु नवभिर्नवभिः पादैरेकैको राशिरिति द्वादश राशयः स्युः, अत एव पुरुषादिनामसु राशिकल्पनानक्षत्रपादनियमितवर्णान् ज्ञात्वा नामाद्यवर्णाः कार्याः। अभिजितस्तु पादत्रयस्य वर्णा उत्तराषाढाया अन्त्यपादे तदन्त्यपादस्य वर्णः श्रवणस्याद्यपादे चान्तर्भाव्याः ॥

मेषादीनां वर्णानाह—

मेषाच्छोणार्जुनहरिद्रक्तश्वेतैतमेचकाः । पिंगापिंगलकल्माषकडारमलिना रुचः ॥ ७ ॥

व्याख्या—मेषादिति मेषात्प्रभृति राशीनां नवांशविचारणायां तु नवांशानामपीति शेषः । अर्जुनो धवलः । हरित् पीतनीलः शुकवर्णत्वात् । एतः कर्बुरः विचित्रवर्णत्वात् । मेचक. कृष्णः । पिंगः पिंगलश्च पीतरक्तः । कल्माषः कर्बुरः शुक्लकपिलत्वान्मिश्रवर्ण इत्यर्थः । कडारः कपिलवर्णः । मलिनो मस्त्रवर्णः । प्रयोजनं चास्य विशिष्य नवांशेषु, तच्चैवं--धातुमूलजीवरूपं द्रव्यं किल नवांशाज्ज्ञायते । उक्तं च--" अंशकाज्ज्ञायते द्रव्यं " । ततश्च तस्य धातुमूलादेर्वस्तुनो हृतनष्टादिप्रश्नेऽनेन वर्णज्ञानं स्यात् ॥ राशीनां रूपाण्याह—

उद्यद्घोषवतीगदं नृमिथुनं नौस्थाग्निसस्यान्विता, कन्या ना च तुलाधरो धृतधनुर्धन्व्यश्वपश्चार्धकः ।
एणास्यो मकरः कुटांकितशिराः कुंभो विलोमाननं, मीनो मीनयुगं च नामसदृशाः प्रोक्ताः परे राशयः ॥८॥

व्याख्या—घोषवती वीणा वीणापाणिः स्त्री, गदापाणिर्नरः, ईदृक् संमुखनिविष्टं स्त्रीपुंसयुग्मं मिथुनराशिः । नौस्थाग्नीत्यादि वामे हस्तेऽग्निं दक्षिणे च धान्यं धरन्ती नौस्थिता कन्या कन्याराशिः । ना चेति तुलाहस्तः पुमाँस्तुलाराशिः । धृतधनुरिति कट्यधोदेहपश्चार्धमश्वस्येव चतुष्पद इत्यर्थः, उपरितनं तु देहपूर्वार्धं नरस्येव, तद्धस्ते च धनुः, ईदृग्धनूराशिः । एणास्य इति मृगतुल्य मुखो मकरो मकरराशिः । शिरःस्थकुंभो नरः कुंभराशिः, "स्कन्धासक्तरिक्तघट" इति तु बृहज्जातके । विलोमेति अन्योऽन्यं पुच्छाभिमुखमुखौ यमलस्थौ मीनौ मीनराशिः, अत एवास्य शीर्ष-पृष्ठोदयित्वं । परे उक्तशेषाः पञ्च राशयो मेषवृषकर्कसिंहवृश्चिकाख्याः स्वस्वनामानुरूपरूपाः । विशेषस्तु सर्वेषां किल राशीनां चेष्टास्थानान्यपि स्वस्व-नामानुरूपमिति संप्रदायः । तथा च सारङ्गः—

" मेषो दैन्यमुपैति गर्वति वृषो नानामतिर्मन्मथः, शूरः कर्कटको धृतिश्च वनपे कन्या च मायाविनी ।

सत्यं रज्जुतुलास्वलौ मलिनता चापश्च पापाशयो, मौखर्यं मकरे घटे चतुरता मीने च धीरा मतिः" ॥ १ ॥

तथा मेषवृषौ दिवा आरण्यौ, निशि ग्राम्यौ । मिथुनो ग्राम्यः । कर्कमीनौ जले । सिंहोऽरण्ये । वृश्चिकः प्रवासी । धनुःकुंभौ ग्राम्यौ । मकरस्याद्योंऽश आरण्योऽन्यो जलचर इत्यादि । प्रयोजनं चास्य हृतनष्टादौ चौरचेष्टा- स्थानादिज्ञानं । एषु च लग्नेषूचितकर्माण्येवं दैवज्ञवल्लभे—"राज्याभिषेकविरोधसाहसकूटकर्मादि धात्वाकराद्यं च मेषे लग्ने सिध्यति १ । विवाहवेश्मप्रवेशकन्यावरणादिध्रुवं कर्म क्षेत्रारंभपशुकर्मणी च वृषे २ । वृषोक्तं विद्याशिल्पभूषणादि च मिथुने ३ । सेवाभोगौ मृदुशुभकर्म पौष्टिकं वापीकूपादिजलकर्म च कर्के ४ । मेषोक्तं वाणिज्यनृपसेवारिपुमिलनादि च सिंहे ५ । शिल्पौषधभूषणवाणिज्यादिचरस्थिरं कन्यायां ६ । कृषिसेवायात्रादि कन्योक्तं च तुलायां ७ । ध्रुवकर्म नृपसेवाचौर्यादिदारुणोग्रादिकर्म च वृश्चिके ८ । यात्रायुद्धव्रतसत्कर्माणि धनुषि ९ । क्षेत्राश्रयमम्बुयात्रा चरकर्म नीचक्रिया च मकरे १० । अम्बुया- त्रानौसज्जीकरणबीजोप्तिदंभभेदव्रतादि नीचकर्म च कुंभे ११ । विद्यालङ्कृतिशिल्पपशुकर्मनौयात्राभिषेकादि मङ्गल्यकर्म च सर्वं मीने सिध्यति १२ ।"

" एतान्युक्तानि संसिद्धिं यान्ति शुद्धेष्वजादिषु । क्रूराणि क्रूरयुक्तेषु शुभानि सशुभेषु तु " ॥ १ ॥

राशिशीलान्याह—

पूर्वादिदिक्षु मेषाद्याः पतयः स्युः पुनः पुनः । चरस्थिरद्विस्वभावाः क्रूराक्रूरा नरस्त्रियः ॥ ९ ॥

व्याख्या—पुनः पुनरिति प्रतिविशेषणं योज्यं । ततश्चायमर्थः—मेषाद्याश्चत्वारः क्रमात् पूर्वादिचतुर्दिशामीशाः । एवं सिंहाद्याश्चत्वारो धनुराद्याश्चत्वारो वाच्याः । प्रयोजनं चास्य वक्ष्यमाणं " यातव्यं दिग्मुखे लग्ने " इत्यादिकं हृतनष्टादौ चौरादेर्गमनदिग्ज्ञा नादि च । चरस्थिरेति मेषश्चरः । वृषः स्थिरः । मिथुनो द्विस्वभावः । कथं? आद्यार्धे, स्थिरं द्वितीयार्धे चरं, क्रमात् स्थिरचरयोर्वृषकर्कयोः सामीप्यादिति जातकवृत्तौ ।

पुनःपुनरित्यस्य संबन्धनादेवमेव कर्कादित्रये तुलादित्रये मकरादित्रयेऽपि च चरादित्वं वाच्यं। प्रयोजनं तु चरादिषु जातास्तच्छीलाः स्युरित्यादि क्रूराक्रूरा नरस्त्रिय इति मेषः क्रूरो नरश्च, वृषः सौम्यः स्त्री च। पुनःपुनरित्यस्यात्रापि विशेषणद्वयेऽपि प्रत्येकं संबन्धनात् मिथुनः क्रूरो नरश्च, कर्कः सौम्यः स्त्री चेत्याद्यग्रेऽप्येकान्तरं वाच्यं। एवं च मेषमिथुनाद्याः षट् ओजराशयः क्रूरा नराश्च, वृषकर्काद्याः षट् समराशयः सौम्याः स्त्रियश्च प्रयोजनं तु क्रूरेषु पुंसु च जाताः क्रूरास्तेजस्विनश्च स्युः। सौम्येषु स्त्रीषु च सौम्या मृदवश्चेत्यादि "मेषसिंहवृश्चिकमकरकुंभाः पञ्च राशयः क्रूराः क्रूरस्वामिकत्वात्, शेषाः सह सौम्येशत्वात्सौम्याः" इति तु रत्नमालायां। अपि च क्रूरोऽपि राशिः सौम्यग्रहयुतिदृष्ट्या सौम्यः स्यात्, सौम्योऽपि च क्रूरग्रहयुतिदृष्ट्या क्रूरः स्यात्। उक्तं च दैवज्ञवल्लभे—

"ग्रहयोगेक्षणाभ्यां स्याद्राशेर्भावो ग्रहोद्भवः। राशिः स्वभावमाधत्ते ग्रहयोगेक्षणोज्झितः" ॥ १ ॥

षड् निशाबलिनोऽजोक्षयुग्मकर्कधनुर्मृगाः। पृष्ठेनोद्यन्त्ययुग्मास्ते शीर्षेणान्ये द्विधा झषः ॥ १० ॥

व्याख्या—अजो मेषः। उक्षा वृषः। युग्मं मिथुनं। निशाबलिन इति शेषास्तु षट् सिंह १ कन्या २ तुला ३ वृश्चिक ४ कुंभ ५ मीना ६ दिवाबलिन इति सामर्थ्याल्लभ्यते। एषां प्रयोजनं तु हृतनष्टादौ दिनरात्रिरूपसमयज्ञानं। उक्तं च—"राशिभ्यः कालदिग्देशा" इत्यादि। तथा दिनबलिनि लग्ने दिवा यात्रादि शुभं, रात्रिबलिनि तु रात्रौ, विपर्ययस्तु न श्रेष्ठ इत्याद्यपि। पृष्ठेनोद्यन्त्ययुग्मा इति निशाबलिषट्के मिथुनवर्जाः पञ्च पृष्ठोदयिनः उदयतामेषां प्रथमं पृष्ठं प्रादुर्भवतीत्यर्थः। शीर्षेणेति अन्ये मिथुन १ सिंह २ कन्या ३ तुला ४ वृश्चिक ५ कुंभाः ६ षट् शीर्षोदयिन उदयतामेषां प्रथमं शिरःप्रादुर्भावात्। झषो मीन उभयोदयी युगपच्छिरःपृष्ठाभ्यामुदेतीत्यर्थः। प्रयोजनं तु यात्रादौ शीर्षोदये लग्ने जयः, पृष्ठोदये वैफल्यमित्यादि ॥ राशीनां विशेषानाह—

अर्काद्युच्चान्यज १ वृष २ मृग ३ कन्या ४ कर्क ५ मीन ६ वणिजो ७ ऽंशैः।

दिग् १० दहना ३ ष्टाविंशति २८ तिथी १५ षु ५ नक्षत्र २७ विंशतिभिः २० ॥ ११ ॥

व्याख्या—अजेति मेषवृषमकराद्याः क्रमात्सूर्यादीनामुच्चस्थानानि । वणिगिति उपलक्षणत्वानुक्ता । कैः कृत्वाऽजादयोऽर्काद्युच्चानीत्याह—दिग्दहनादिमितैरंशैरिति, कोऽर्थः ? दिग्मितैरंशैर्मेषो रव्युच्चं मेषस्याद्या दश त्रिंशांशा रव्युच्चमित्यर्थः । एवमग्रेऽपि यथा वृषस्याद्यास्त्रयस्त्रिंशांशा इन्दूच्चं, मकरस्याष्टाविंशतिरंशा भौमोच्चमित्यादि । अत्र संप्रदायस्त्वयम्—मेषेऽर्क उच्चस्तत्रापि दशांशान् यावत्परमोच्चः पश्चात्तूच्चः । शशी वृषे उच्चस्तत्रापि त्रीनंशान् यावत् परमोच्चः पश्चात्तूच्च इत्यादि" । लोकश्रुत्यादिग्रन्थैः सह संवादी चायं संप्रदायः । लघुबृहज्जातकनारचन्द्रादीनामभिप्रायस्त्वयं—"मेषेऽर्क उच्चस्तस्यैव दशमे त्रिंशांशे तु परमोच्चः । शशी वृषे उच्चस्तस्यैव तृतीयांशे तु परमोच्चः । भौमो मकरे उच्चः तस्यैवाष्टाविंशेंऽशे परमोच्चः" इत्यादि । ताजिके तु नास्ति परमोच्चसंज्ञा, किंतु मेषे आद्यदशभागान् यावत्सूर्य उच्चः, पश्चात्तु तेजःपतित इत्युक्तं । एवं वृषादिषु चन्द्रादीनामपि वाच्यम्॥

स्वोच्चतः सप्तमं नीचं त्रिकोणान्यथ भानुतः सिंहो ५ क्ष २ मेष १ प्रमदा ६ धनु ९ धट ७ घटाः ११ क्रमात्॥१२॥

व्याख्या—यस्य यस्य यद्यदुच्चं तस्माद्यद्यत्सप्तमं तत्तत्तस्य नीचं दिग्दहनाष्टाविंशतीत्यादिरंशसंख्याऽत्रापि योज्या । ततश्चायमर्थः उच्चवन्नीचेऽपि वाच्यः । तथाहि—मेषात्सप्तमे तुलायामाद्या दश त्रिंशांशा रवेर्नीचं, वृषात्सप्तमस्य वृश्चिकस्याद्यास्त्रयस्त्रिंशांशा इन्दोर्नीचं । अत्रापि संप्रदायस्त्वयम्—तुलायां रविर्नीचस्तत्रापि दशांशान् यावत् परमनीचः पश्चात्तु नीचः, एवं चन्द्रादिष्वपि वाच्यं । पाकश्रुत्यादिग्रन्थैः सह संवादी चायं संप्रदायः । जातकनारचन्द्राद्यभिप्रायस्त्वयम्—"तुलायामर्को नीचस्तत्रापि दशमे त्रिंशांशे परमनीचः, एवं चन्द्रादिष्वपि वाच्यं" । ताजिके तु नास्ति परमनीचसंज्ञा, किंतु तुलायामाद्यदशांशान् यावदर्को नीच इत्युक्तं, एवं चन्द्रादिष्वपि वाच्यं । विशेषस्तु—

" कन्या राहुगृहप्रोक्तं राहूच्चं मिथुनः स्मृतः । राहुनीचं धनुर्वर्णादिकं शनिवदस्य च " ॥ १ ॥

उच्चनीचस्थापना—

	रवि	चन्द्र	मंगल	बुध	गुरु	शुक्र	शनि	राहु
उच्चानि	मेष	वृष	मकर	कन्या	कर्क	मीन	तुला	मिथुन
नीचानि	तुला	वृश्चिक	कर्क	मीन	मकर	कन्या	मेष	धनुः
परमोच्चपरमनीचानि	१०	३	२८	१५	५	२७	२०	०

परमोच्चता परमनीचता च षष्टिलिप्तांशप्रमाणस्य तत्तदंशस्य मध्यभागे, कोऽर्थः ? त्रिंशल्लिप्ताभिः क्रमे स्यातामिति तज्ज्ञाः । परमोच्चनीचत्वयोः समयज्ञानोपायश्चायम्—

" मास रविबुधशुक्राः ३ सार्धं भौमश्चत्रयोदशाचार्यः ५ ।
त्रिंशन्मन्दो६ऽष्टादश राहु७श्चन्द्रः ८ सपाददिवसयुगम् " ॥ १ ॥

इदं तावद्ग्रहाणां राशिस्थितिमानं । तथा च—

" त्रिंशांशे ह्यार्कशुक्राणां ३ दिनं सार्धचतुर्घटि । इन्दोः ४ कुजे ५ सार्धदिनं मासमेकं शनैश्चरे ॥ ६ ॥
अष्टादशदिनी राहो७स्त्रयोदशदिनी गुरोः ८ " । इति

ततश्च मेषसंक्रान्तौ नवदिनेभ्योऽनु दिनमेकं परमोच्चोऽर्कः १ । वृषे नवघटीभ्योऽनु सार्धं घटीचतुष्कं चन्द्रः परमोच्चः २ । मकरे सार्धचत्वारिंशद्दिनेभ्योऽनु सार्धमेकं दिनं भोमः परमोच्चः ३ । कन्यायां चतुर्दशदिनेभ्योऽनु दिनमेकं बुधः परमोच्चः ४ । कर्के द्वापञ्चाशद्दिनेभ्योऽनु त्रयोदशदिनानि गुरुः परमोच्चः ५। मीने षड्विंशतिदिनेभ्योऽनु । दिनमेकं शुक्रः परमोच्चः ६ । तुलायामेकोनविंशतिमासेभ्योऽनु मासमेकं शनिः परमोच्चः ७ । परमनीचेऽप्येवमेव भावना । इदं च सामान्येनोक्तं द्रष्टव्यं । यतो भौमाद्याः प्रायो वक्रिता अतिचरिता वा स्युः । न च तदानीमयं परमोच्चनीचत्वसमयः संवदिति, तेन वक्रातिचारवतां ग्रहाणां वक्ष्यमाणकरणेन स्पष्टतां कृत्वा यथोक्तांशैरेव परमोच्चनीचत्वे निर्धार्ये । सहजगतीनां तु सांप्रतोक्तसमययुक्त्वेति । उच्चनीचप्रयोजनं त्वेवम्—

"इक्को जइ उच्चत्थो हवइ गहो उन्नइं परं कुणइ । किं पुण वि तिन्नि गहा कुणंति को इत्थ संदेहो" ॥ १ ॥

जन्मनि तत्फलं यथा—

"त्र्युच्चैर्नृपः पञ्चभिरर्धचक्री चक्री षडुच्चैर्मुनिभि ७ स्तथार्हन् ॥
त्रिभिर्नीचैर्भवेद्दासस्त्रिभिरुच्चैर्नराधिपः । त्रिभिः स्वस्थानगैर्मंत्री त्रिभिरस्तमितैर्जडः ॥ १ ॥
अन्धं दिगम्बरं मूर्खं परपिंडोपजीविनम् । कुर्यातामतिनीचस्थौ पुरुषं चन्द्रभास्करौ" ॥ २ ॥

इत्यादि । त्रिकोणान्यथेति एतानि मूलत्रिकोणान्यप्युच्यन्ते । प्रमदा कन्या । घटस्तुला । घटः कुंभः । प्रयोजनं तु त्रिकोणग्रहा उच्चसमं किञ्चिदूनं वा फलं दद्युरिति पाकश्रियां । प्रश्नशतकवृत्तौ च त्रिकोणादीनि त्रिंशांशव्यक्त्या एवमूचिरे, तथाहि–" सिंहे विंशतिस्त्रिंशांशास्त्रिकोणं शेषा दश गृहं रवेः १ । वृषे द्वावंशावुच्चौ तृतीयः परमोच्चः शेषास्त्रिकोणमिन्दोः २ । मेषे द्वादशांशास्त्रिकोणं शेषा गृहं कुजस्य ३ । कन्यायां चतुर्दशांशा उच्चाः पञ्चदश: परमोच्च: ततः पञ्चांशास्त्रिकोणं शेषा दश गृहं बुधस्य ४ । धनुषि दशांशास्त्रिकोणं शेषा गृहं गुरोः ५ । तुलायां पञ्च दशांशास्त्रिकोणं शेषा गृहं शुक्रस्य ६ । कुंभे विंशतिरंशास्त्रिकोणं शेषा दश गृहं शनेरिति ७ ॥ राशिसंबद्धान् द्वादश भावानाह—

लग्नाद्भावास्तनु१ द्रव्य२ भ्रातृ३ बन्धु४ सुता५ रयः६ ।
स्त्री७ मृत्यु८ धर्म९ कर्मा१० य११ व्यया१२श्च द्वादश स्मृताः ॥ १३ ॥

व्याख्या—भाव्यन्ते विचार्यन्ते इति भावाः । पृच्छायां जन्मनि यात्रादौ वा यः कश्चित्तत्काले उदयन् राशिः स लग्नाख्यो द्वादशारचक्राकारं न्यस्य संमुखारविवररूपे मुख्यस्थाने देयः, शेषा एकादश राशयोऽप्रदक्षिणमेकादशस्थानेषु च, एवं कुंडलिका स्यात् । तत्स्थापना—

३ २	१ लग्न	१२ ११
४	श्री	१०
५ ६	७	८ ९

अत्र लग्नस्य तनुभावसंज्ञा इष्टनरादेस्तनुरेतदनुसारेण विचार्येत्यर्थः। ततोऽप्रदक्षिणमेकादशस्थानेषु द्वितीयादिस्थानस्थराशीनां क्रमाद् द्रव्यभाव २ भ्रातृभाव ३ बन्धुभावा४दिसंज्ञाः इष्टस्य पुंसो द्रव्यभ्रात्रादिकमेषामनुसारेण विचार्यं तथाहि—

"यो यो भावः स्वामिदृष्टो युतो वा, सौम्यैर्वा स्यात्तस्य तस्यास्ति वृद्धिः।
पापैरेवं तस्य तस्यास्ति हानिर्निर्देष्टव्या पृच्छतां जन्मतो वा" ॥१॥

नवरं षष्ठेऽरिभावे यथा क्रूरा अरिभावं घ्नन्ति तथा सौम्या अपि घ्नन्त्येव, न तु पुष्णन्ति । व्ययाष्टमयोश्च यथा सौम्या व्ययमृत्यू पुष्णन्ति तथा क्रूरा अपि पुष्णन्त्येव, न तु घ्नन्ति । अत एवोक्तं—"सौम्याः षष्ठेऽरिघ्नाः सर्वे नेष्टा व्ययाष्टमगा" इति । यवनेश्वरमते तु—"अष्टमे सौम्या आयुर्वृद्धिकरा इति । भ्रातृभावे च भगिन्योऽपि लक्ष्याः । बन्धवः स्वजना बन्धुभावे माताऽपि । सुतभावे शिष्या अपि । स्त्रीति भार्या । अत्र गमागमाद्यपि । अष्टमे रोगाद्यपि । धर्मभावे क्रमागतविद्याऽचुम्बितविद्याऽचिन्तितधनलाभाद्यपि । दशमे कर्मव्यापारः, अत्र पिताभाग्यमाश्चैश्वर्याद्यपि च । लाभे नष्टलाभाद्यपि । व्यये सदसद्व्ययादि च विचार्याणि (यं) द्वादशेति यथा लग्नादारभ्य द्वादश भावा उक्तास्तथा चन्द्रादपि ज्ञेयाः, लग्नचन्द्रयोर्मध्ये यस्तदानीं बलवान् स्यात्तस्माद्द्वादश भावा विचार्यन्त इत्याम्नायः ॥ भावानां नामान्तराण्याह—

सुहृन्मन्दिरपातालहिबुकाम्बुसुखाभिधम् । चतुर्थमष्टमं छिद्रं चतुरस्रे उभे पुनः ॥ १४ ॥

स्वपि च वाच्यं । चतुर्थमिति स्थानमिति शेषः । छिद्रमिति छिद्रशब्दः क्षतपापपर्यायः । अष्टमं मृत्युस्थानमनायुःसंज्ञमपि ॥

त्रित्रिकोणं च नवमं त्रिकोणे नव पंचमे । सप्तमं कामजामित्रद्युनद्यूनास्तसंज्ञकम् ॥ १५ ॥

व्याख्या—कामेत्यादि कामो मदनः, जामित्रशब्दो विवाहपर्याय: जामिं भगिनीं त्रायति त्यज्यतीति कृत्वा । तथा सर्वोऽपि ग्रहो यस्मिन् राशावुदितस्तस्मात्सप्तमेऽदर्शनं याति ततोऽस्तसंज्ञा ॥

स्यातां तृतीये दुश्चिक्यविक्रमे पञ्चमे तु धीः । मध्यमेषूरणव्योमान्याहुर्दशमधामनि ॥ १६ ॥

व्याख्या—इह किल तुर्यस्य पातालाम्बुसंज्ञे दशमस्य मध्यव्योमसंज्ञे च भूगोलकल्पनयेत्यूह्यं, भूगोलमते ह्यर्कः प्रातः प्राच्यामुदीय प्रदक्षिणं भ्रमन्मध्याह्ने दशमधामनि व्योममध्यमागत्य सायं सप्तमेऽस्तमेति, तथैव च रात्रावपि भ्रमन्मध्यरात्रे तुर्यधाम्नि पाताले भूत्वा पुनः प्रातः प्राच्यामुदेतीत्याहु: । पातालं च स्वभावादम्बुस्थानमिति प्रतीतमेव—

" उपान्त्यं ११ सर्वतोभद्रमन्त्यं १२ रिष्पमुदीरितम् । वदन्त्युपचयाह्वाँस्त्रिषड्दशैकादशान् पुनः ॥ १७ ॥ "

व्याख्या—उपान्त्यमेकादशं सर्वतोभद्रमिति तत्रस्थग्रहस्य सर्वथाऽपि शुभप्रदत्वात् । अन्त्यं द्वादशं रिष्पशब्दः पकारोपान्त्यः । उपचयेत्यादिल-ग्नाच्चन्द्राच्च त्रिषडादिस्थानान्युपचयसंज्ञानि, यत एषु स्थितः पापग्रहोऽपि शुभफलप्रदः स्यात्, शेषाणि त्वपचयाह्वानीत्यर्थाल्लभ्यते । प्रयोजनं त्विदं—

कार्यं यदुक्तं तदुपैति सिद्धिं वारे ग्रहे चोपचयर्क्षभाजि । नीचर्क्षसंस्थेऽपचयस्थिते च यत्ने कृते चापि भवत्यसाध्यम् ॥१॥

केन्द्रचतुष्टयकंटकनामानि वपुः १ सुखा ४ स्त ७ दशमानि १० ।

स्यः पणफराणि परत२-५-८-११स्तेभ्योऽप्यापोक्लिमानीति ३-६-९-१२ ॥ १८ ॥

व्याख्या—प्रथमतुर्यसप्तमदशमानां प्रत्येकं केन्द्रादिसंज्ञात्रयंप्रत्येकं तेभ्योऽग्रेतनानां द्वितीयपञ्चमाष्टमैकादशानां पणफरसंज्ञा, तेभ्योऽप्यग्रेतनानां तृतीयषष्ठनवमद्वादशानामापोक्लिमसंज्ञा । केन्द्रेषु किल सर्वे ग्रहाः पूर्णवीर्याः स्युः, पणफरेष्वर्धवीर्याः आपोक्लिमेषु तु पादवीर्या इति त्रैलोक्यप्रकाशे । विशेषस्तु, संज्ञा किल द्विधा–सान्वर्था यादृच्छिकी च । तत्र दुश्चिक्य १ हिबुक २ त्रिकोण ३ द्युन ४ द्यू ५ त्रित्रिकोण ६ चतुरस्र ७ मेषूरण ८ रिष्फ ९ केन्द्र १० चतुष्टय ११ कंटक १२ पणफरा १३ पोक्लिम १४ संज्ञा वक्ष्यमाणहोरा १५ द्रेष्काण १६ संज्ञे चान्वर्थरहितत्वाद्यादृच्छिक्यो यवनाचार्यादिमते रूढत्वादुक्ताः । विक्रम १ सुख २ वेश्म ३ धी ४ जामित्र५छिद्रादि ६ संज्ञास्तु सान्वर्थाः । तेनेष्टपुंसो विक्रम सुखं गृहं बुद्धिर्विवाहो हानिश्चेत्यादीनि तत्तद्गृहेभ्योऽपि विचार्याणि । एवमेव लग्नात्प्रभृति स्थितानां प्रथमादिस्थानानां तन्वादिसंज्ञाः प्रतिनियता उक्ताः । एतदनुसारेणै-वाग्रतोऽपि सर्वत्र प्रथमादिस्थानार्थे तन्वादिशब्दव्यवहारोऽभ्यूह्यः ॥

अथ राशीनां गृह १ होरा २ द्रेष्काण ३ नवांश ४ द्वादशांश ५ त्रिंशांश ६ रूपं षड्वर्गमाह—

मेषादीशाः कुजः१शुक्रो२बुध३श्चन्द्रो४रवि५र्बुधः६शुक्रः७कुजो८गुरु९र्मन्दो१०मन्दो११जीव१२ इति क्रमात् ॥१९॥

व्याख्या—षड्वर्गाधिकारे राशीनां गृहमिति नाम, तेनैते गृहेशा उच्यन्ते । प्रयोजनं त्वेषां–"यो यो भावः स्वामिदृष्टो युतो वेत्यादि" ॥

होरा राश्यर्धमोजर्क्षेऽर्केन्द्वोरिन्द्वर्कयोः समे, द्रेष्काणा भे त्रयस्तु स्व१ पञ्चम५ त्रित्रिकोण९ पाः ॥२०॥

व्याख्या—राशेरर्धं होरा । तेन राशिषु प्रत्येकं द्वे द्वे होरे । तत ओजे राशावाद्या होरा रवेः तत इन्दोः, समे राशावाद्या होरा इन्दोः ततो रवेः । प्रयोजनं तु–सूर्येन्दुहोराजाताः क्रमात्तेजस्विनो मृदवश्च स्युरित्यादि । एवं द्रेष्काणादिष्वपि क्रूरसौम्यस्वामिवशादूह्यं । भे इति राशौ राशौ राशि-त्रिभागरूपा द्रेष्काणास्त्रयस्त्रयः स्युः । त्रित्रिकोणपा इति पातीति डप्रत्यये पः स्वामी । ततश्चोष्ट्रमुखादित्वाद्बहुव्रीहिसमासे एकस्य पशब्दस्य लोपः । ततो

ऽयमर्थः—यस्तद्राशेरीशः स आद्यद्रेष्काणस्यापि, यस्तस्मात्पञ्चमराशेरीशः स द्वितीयस्य, यो नवमराशेः स तृतीयस्य । उक्तं च हारिभद्र्यां लग्नशुद्धौ—

" दिक्काणो उ तिभागो सो पढमो निअयरासिअहिवइणो । बीओ पंचमपहुणो तइओ पुण नवमगिहवइणो " ॥ १ ॥ "

बृहज्जातकेऽप्युक्तं—" द्रेष्काणाः स्युः स्वभवनसुतत्रित्रिकोणाधिपानां " इति । तेन " द्रेष्काणा भे त्रयस्त्वाद्यपञ्चमान्त्यनवांशपाः " इति यत्केऽपि पेठुस्तच्चिन्त्यं । विशेषस्तु केचिद्राशीनां सप्तांशकानपि व्यवहरन्ति, तेषां च नाथा एवं होरामकरन्दे उक्ताः—" स्वर्क्षादोजे युग्मभे चूनगेहा-द्गण्यास्तज्ज्ञैः सप्तमांशाः क्रमेण " ॥

नवांशाः स्युरजादीनामजैणतुलकर्कतः । वर्गोत्तमाश्चरादौ ते प्रथमः पञ्चमोऽन्तिमः ॥ २१ ॥

व्याख्या—राशिषु प्रत्येकं नव नव नवांशास्ततस्तद्गणनक्रममाह—अजैणेति अश्चादित्वान्मत्वर्थीयेऽप्रत्यये तुलस्तुलावान्, मेषस्य नवांशा मेषमादौ दत्त्वा नव गुण्याः, वृषस्य तु मकरं, मिथुनस्य तुलां, कर्कस्य च कर्कं । एवमेव सिंहादिचतुष्के धन्वादिचतुष्के च वाच्यं । एषां चेशा ये मेषादीशास्त एव । प्रयोजनं स्थानबले वक्ष्यमाणमित्रस्वगृहोच्चनवांशगा इत्यादि । विशेषस्तु—

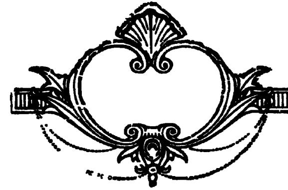
ति चउ पण सत्त नवमा रासीण नवं सया सुहा जम्मे । पढम तु अट्ठम अहमा छट्ठो पुण मज्झिमो नेओ" ॥ १ ॥

इति पूर्णभद्रः । वर्गोत्तमा इति वर्गे समूहे उत्तमाः कोऽर्थः? चरराशिष्वाद्यो नवांशो वर्गोत्तमः, स्थिरेषु पञ्चमः, द्विस्वभावेषु नवमः । सर्वस्य राशेः स्वस्वसमाननामा नवांशो वर्गोत्तम इति भावः । प्रयोजनं तु " वर्गोत्तमनवांशजाः स्वकुले मुख्याः स्युरित्यादि " । वर्गोत्तमत्ववशादन्त्योऽपि नवांशो लग्नेष्वाद्रियते, अन्यथा त्वग्राह्योऽसौ । यत्पूर्णभद्रः–लग्नस्याद्यन्तमध्येषु बलं पूर्णाल्पमध्यमं" इति । हर्षप्रकाशेऽप्युक्तं—"वग्गुत्तमं विणा दिजा नेव चरमं नवंसगं । कह मित्ति" । वर्गोत्तमनवांशस्थो ग्रहोऽपि वर्गोत्तम उच्यते, स च भृशं बलवान् । उक्तं हि दैवज्ञवल्लभे—

" बलवानुदितांशस्थः शुद्धं स्थानफलं ग्रहः । दद्याद्वर्गोत्तमांशे च मिश्रं शेषांशसंस्थितः ॥ १ ॥ "
यतो य एव राशिः स्यात्स एव च नवांशकः । प्रोक्तं स्थानफलं शुद्धमतोऽस्मिन् सोपपत्तिकम् ॥ २ ॥

स्युर्द्वादशांशाः स्वगृहादथेशास्त्रिंशांशकेष्वोजयुजोस्तु राश्योः ।
क्रमोत्क्रमादर्थ ५ शरा५ ष्ट ८ शैले ७ न्द्रियेषु ५ भौमार्किगुरुज्ञशुक्राः ॥ २२ ॥

व्याख्या—राशिषु प्रत्येकं द्वादश द्वादशांशाः स्वगृहादिति अयमर्थः-यो राशिः स एवाद्यो द्वादशांशः शेषास्त्वेकादश क्रमात्तदग्रेतनाः, तथाहि—मेषे आद्यो मेष एव, द्वितीयो वृषः, यावदन्त्यो मीन इति । वृषे आद्यो वृष एव यावदन्त्यो मेषः । एवं मिथुने आद्यो मिथुन एव यावदन्त्यो वृष इत्यादि । तेषामीशाश्च ये मेषादीशास्त एव । अथेशास्त्रिंशांशकेष्विति राशौ राशौ त्रिंशत्त्रिंशत्त्रिंशांशाः । तदीशांस्त्वाह-क्रमोत्क्रमादिति अर्था विषयाः पञ्च शब्दाद्याः । ओजे राशौ क्रमः, समराशौ तूभयत्राप्युत्क्रमः । अयं भावः-त्रिंशांशपंक्तिर्यथोक्ततदीशपंक्तिश्च यदा पूर्वानुपूर्व्या गण्यते तदा क्रमः, तयोरेव पङ्क्त्योः पश्चानुपूर्व्या गणने तूत्क्रमः सर्वराशीनां षड्वर्गस्य तत्स्वामिनां च क्रमात्स्थापना—



म्भ-
द्वेः
७०॥

राशीनां गृहाणि	गृहेशाः	होराः		द्रेष्काणेशाः			नवांशेशाः									द्वादशांशेशाः												त्रिंशांशेशाः				
१ मेष	मंगल	र	चं	मं	र	गु	मं	शु	बु	चं	र	बु	शु	मं	गु	मं	शु	बु	चं	र	बु	शु	मं	गु	श	श	गु	५मं	५श	८गु	७बु	५शु
२ वृष	शुक्र	चं	र	शु	बु	श	श	श	गु	मं	शु	बु	चं	र	बु	शु	बु	चं	र	बु	शु	मं	गु	श	श	गु	मं	५शु	७बु	८गु	५श	५मं
३ मिथुन	बुध	र	चं	श	शु	श	शु	मं	गु	श	श	गु	मं	शु	बु	बु	चं	र	बु	शु	मं	गु	श	श	गु	मं	शु	५मं	५श	८गु	७बु	५शु
४ कर्क	चंद्र	चं	र	चं	मं	गु	चं	र	बु	शु	मं	गु	श	श	गु	चं	र	बु	शु	मं	गु	श	श	गु	मं	शु	बु	५शु	७बु	८गु	५श	५मं
५ सिंह	रवि	र	चं	र	गु	मं	मं	शु	बु	चं	र	बु	शु	मं	गु	र	बु	शु	मं	गु	श	श	गु	मं	शु	बु	चं	५मं	५श	८गु	७बु	५शु
६ कन्या	बुध	चं	र	बु	श	शु	श	श	गु	मं	शु	बु	चं	र	बु	बु	शु	मं	गु	श	श	गु	मं	शु	बु	चं	र	५शु	७बु	८गु	५श	५मं
७ तुला	शुक्र	र	चं	शु	श	बु	शु	मं	गु	श	श	गु	मं	शु	बु	शु	मं	गु	श	श	गु	मं	शु	बु	चं	र	बु	५मं	५श	८गु	७बु	५शु
८ वृश्चिक	मंगल	चं	र	मं	गु	चं	चं	र	बु	शु	मं	गु	श	श	गु	मं	गु	श	श	गु	मं	शु	बु	चं	र	बु	शु	५शु	७बु	८गु	५श	५मं
९ धन	गुरु	र	चं	गु	मं	र	मं	शु	बु	चं	र	बु	शु	मं	गु	गु	श	श	गु	मं	शु	बु	चं	र	बु	शु	मं	५मं	५श	८गु	७बु	५शु
१० मकर	शनि	चं	र	श	शु	बु	श	श	गु	मं	शु	बु	चं	र	बु	श	श	गु	मं	शु	बु	चं	र	बु	शु	मं	गु	५शु	७बु	८गु	५श	५मं
११ कुंभ	शनि	र	चं	श	बु	शु	शु	मं	गु	श	श	गु	मं	शु	बु	श	गु	मं	शु	बु	चं	र	बु	शु	मं	गु	श	५मं	५श	८गु	७बु	५शु
१२ मीन	गुरु	चं	र	गु	चं	मं	चं	र	बु	शु	मं	गु	श	श	गु	गु	मं	शु	बु	चं	र	बु	शु	मं	गु	श	श	५शु	७बु	८गु	५श	५मं

द्वितीय विमर्शे द्वादशांशादिगणनप्रकारः ॥७०॥

अथ ग्रहाणां लग्नस्य च स्पष्टीकरणे तद्भुक्त्युपयोगि सर्वषड्वर्गाणां साधारणं लिप्तामानमाह—

षड्वर्गेऽष्टादश१८०० नव९०० षड्६०० द्वे२०० सार्ध१५० शतानि षष्टिश्च६० ।
क्रमशो गृहहोरादौ लिप्ताः स्युः प्रभुरिह नवांशः ॥ २३ ॥

व्याख्या—गृहाणां मेषादीनां सर्वेषां प्रत्येकं मानमष्टादशशती लिप्ताः होराणां नवशती गृहार्धरूपत्वात्, द्रेष्काणानां षट्शती गृहत्रिभागरूपत्वादित्यादि स्वयं भाव्यं । लिप्ता तु षष्टिविलिप्तात्मिकेति वक्ष्यते । विशेषस्तु—"चन्द्रबलं किल तिथ्यादिबलेभ्यः शतगुणं, ततोऽपि लग्नं सहस्रगुणबलं, ततोऽपि होराद्याः सर्वे यथोत्तरं पञ्चपञ्चगुणबला" इति बृहज्जातकवृत्तौ । अथैषु नवांशस्यैव प्राधान्यमाह—प्रभुरित्यादि इहास्मिन् गृहादिषड्वर्गेऽनतिस्थूलसूक्ष्मत्वात्प्रतिष्ठाविवाहादिसर्वकार्येष्वधिकारी नवांश एवेत्यर्थः । यल्लल्लः—

"स्वार्धे नक्षत्रफलं तिथ्यर्धे तिथिफलं समादेश्यम् । होरायां वारफलं लग्नफलं त्वंशके स्पष्टम् ॥ १ ॥

तथा अहो नवांशस्य प्राधान्यं ? तथाहि—

"लग्ने शुभेऽपि यद्यंशः क्रूरः स्यान्नेष्टसिद्धिदः । लग्ने क्रूरेऽपि सौम्यांशः शुभदोऽंशो बली यतः ॥ १ ॥

इति दैवज्ञवल्लभे । तथा क्रूरांशस्थः सौम्यग्रहोऽपि क्रूरः स्यात्, सौम्यांशस्थस्तु क्रूरोऽपि सौम्यः स्यादिति लल्लः । तथा क्रूरांशस्थस्य सौम्यग्रहस्यापि दृष्टिर्दुष्टा, सौम्यांशस्थस्य च क्रूरस्यापि दृक् शुभा । तथा ग्रहगोचरशुद्धिविचारणावसरे ग्रहो राशिगोचरेणाशुभोऽपि नवांशगोचरेण यदि शुभः स्यात्तर्हि शुभ एवेत्यादि लल्लश्रीपती ॥ अथ यथा ग्रहः स्ववर्गगोऽन्यवर्गगो वा स्यात्तथाऽऽह—

षण्णां त्र्यादिषु वर्गेषु यो ग्रहः स्वेष्ववस्थितः । स स्ववर्गगतो ज्ञेय एवमेवान्यवर्गगः॥२४॥

व्याख्या—षण्णामिति निर्धारणे षष्ठी । त्र्यादिष्विति अन्यतरेषु त्रिषु चतुर्षूत्कर्षतः पञ्चसु वा स्वकीयेषु यः स्थितः, न तु कदापि षट्सु संभवति, अर्केन्द्वोस्त्रिंशांशस्य कुजादीनां होरायाश्चाभावात्, स स्ववर्गस्थस्तत एव च सबलः । एवमेवेति यस्तु त्र्यादिषु परकीयेषु स्थितः सोऽन्यवर्गस्थस्तत एव विबलश्च । विशेषस्तु यत्र नवांशे षण्णां पञ्चानां चतुर्णां वा गृहाद्यन्यतरेषां सौम्य एव ग्रहस्वामी लभ्यते स नवांशः षड्वर्गस्य पञ्चवर्गस्य चतुर्वर्गस्य वा सौम्यत्वात् प्रतिष्ठादिलग्नेषु विशेषतो ग्राह्यः । स चैवं निर्धारितः, तथाहि—

" सत्तमनवमा मेसे १ पंचमतइआ विसे २ मिहुणि छट्ठो ३ । पढमतइआ य कक्के ४ सिंहे छट्ठो ५ कणी तइओ ६ ॥ १ ॥
अट्ठमनवमा य तुले ७ विच्छियलग्गे चउत्थय नवंसो ८ । धणुलग्गि छट्ठसत्तमनवमा ९ मयरम्मि पंचमओ १० ॥ २ ॥
छट्ठट्ठमा य कुंभे ११ पढमो तइओ अ मीणलग्गम्मि १२ । चउपणवग्गछवग्गो एएसु नवंसएसु सुहो " ॥ ३ ॥

व्याख्या—अत्र चउपणवग्गत्ति एषु नवांशेषु चतुर्वर्गशुद्धिस्तावदस्त्येव, पञ्चवर्गशुद्धिषड्वर्गशुद्धी तु केषुचिन्नवांशेषु संपूर्णेषु स्तः, केषाञ्चित्तु कियत्यपि भागे स्त, तद्व्यक्तिश्च ग्रन्थप्रान्तकाव्यवृत्तौ लिखिताऽस्ति ततोऽभ्यूह्या । इह च केचित्त्रिवर्गशुद्ध्याऽप्यन्ये तु नवांशस्यैव प्रभुत्वात्तमेवैकं सौम्यसत्कमादाय शेषवर्गशुद्धिं विनाऽपि लग्नमाद्रियन्ते, तदत्रेदं तत्त्वं—लग्ने ध्रुवग्राह्यनवांशशुद्धौ सत्यां यथा यथा शुभबहुवर्गलाभस्तथा तथा प्रतिष्ठादौ शुभकार्ये तद्विशिष्य ग्राह्यम् ॥ राशिप्रसङ्गाद्राशिभोक्तृग्रहाणां प्रभेदमाह—

ग्रहाः स्युरैन्द्र्याद्यधिपा दिनेश १ शुक्रा२र३ राहु ४ र्कि५ शशि ६ ज्ञ ७ जीवाः ८ ।
पापाः कृशेन्द्वर्कतमोऽसितारास्तैः संयुतो ज्ञश्च परे तु सौम्याः ॥ २९ ॥

व्याख्या—पूर्वाद्यष्टदिशां क्रमान्नाथा एते । स्थापना—

राशयः	मेष	वृष	मिथुन	कर्क	सिंह	कन्या	तुला	वृश्चिक	धन	मकर	कुंभ	मीन
शुभ-नवांशाः	७-९	३-१	६-	१-३	६-	३-	८-९	४	६-७-९	५-	६-८	१-३

ईशान गुरु	पूर्व रवि	अग्नि शुक्र
उत्तर बुध	दिगीश ग्रह यन्त्रं	दक्षिण मंगल
वायव्य चंद्र	पश्चिम शनि	नैऋत्य राहु

अत्र प्रयोजनं तु केन्द्रस्थे बलिनि ग्रहे चौरादेर्गमनदिग्ज्ञान । उक्तं च—" दिग्वाच्या केन्द्रमतैरसंभवे वा वदेद्विलग्नर्क्षात् " इत्यादि । कृशेन्द्वित्यादि कृष्णचतुर्दश्यादिदिनत्रयेऽकलः कृशः शशी क्रूरः, तमो राहुः, असितः शनिः । तैः कृशेन्द्वाद्यन्यतरैः संयुत एकराशिस्थो बुधोऽपि क्रूरः । परे इति अन्ये पुष्टेन्दुरक्रूरयुतो बुधो गुरुशुक्रौ च । अस्य प्रयोजनं पापसौम्यग्रहबलिष्ठत्वाजातकादेस्ताच्छील्यादि । विशेषस्तु—

" रक्तश्यामो भास्करो १ गौर इन्दु २ नात्युच्चाङ्गो रक्तगौरश्च वक्रः ३ ।
दूर्वाश्यामो ज्ञो ४ गुरुर्गौरगात्रो'५ऽश्यामः शुक्रो६ भास्करिः कृष्णदेहः ७ ॥ १ ॥ "

अस्यापि प्रयोजनं बलिनः महती जातकादेर्मूर्तिः । यद्वा लग्ने तत्कालं यो नवांशस्तत्स्वामितुल्या तन्मूर्तिरिति ॥

पृच्छादिष्वपरे केतुं तमसः सप्तमं विदुः । शुक्रेन्दू योषितौ मन्दबुधौ क्लीबौ परे नराः ॥ २६ ॥

व्याख्या—पृच्छादिष्विति अनेन जातके ग्रहगोचरे प्रतिष्ठादिलग्नेषु च केतुर्न तथोपयोगीत्यसूचि । सप्तममिति । उक्तं च भुवनदीपके—

" राहुच्छाया स्मृतः केतुर्यत्र राशौ भवेद्यम् । तस्मात्सप्तमके केतू राहुः स्याद्यन्नवांशके ॥ १ ॥
तस्मादंशे सप्तमे स्यात् केतुरंशो नवांशकः " । इति ।

अस्यायं भावः–राशेर्यत्संख्ये नवांशे राहुः स्यात्तत्संख्ये एव तत्सप्तमराशेर्नवांशे केतुरपि स्यात्, परं राह्वाक्रान्तनवांशाद् गुणने केत्वाक्रान्तनवांशः सप्तम एव जायते । यथा मेषस्याद्ये मेषांशे राहुश्चेत्तदा तुलाया आद्ये तुलांशे केतुः, मेषाच्च गुणनया तुलांशः सप्तम इति । तथा मेषस्य नवमे धनुरंशे चेद्राहुस्तदा तुलाया नवमे मिथुनांशे केतुः, धनुषश्च गुणनया मिथुनांशः सप्तम इति । शुक्रेन्दू इति परे रविकुजगुरवः । अस्य प्रयोजनं जन्मनि चिन्तायां हृतनष्टादौ वा, बलवन्तः स्ववर्गमेव ज्ञापयन्तीति । मन्दबुधावपि स्त्रियावित्येके ॥

वर्णानां जीवसितौ १ रविभौमा२ विन्दु३रिन्दुज४श्चेशाः ।
संकरजानां तु शनिर्जीव १ सिता २ रे३न्दुजाश्च ४ वेदानाम् ॥ २७ ॥

व्याख्या—विप्रवर्णस्येशौ गुरुशुक्रौ, क्षत्रियाणामर्कारौ, वैश्यानामिन्दुः, शूद्राणां तु बुध इत्यर्थः । संकरजा मिश्रजातयो मूर्धावसिक्तादिरथकारान्ता निर्धद्रूक्तत्रयोदशभेदा यथा तथा जातिद्वयजाताः । वेदा ऋ१ग्यजुः२ सामा३थर्वाण: ४ । प्रयोजनं तु जीवादीनामुदयास्तादौ तत्तज्जातीनां तत्तद्देवतां च सुखदुःखादि ॥ अथ ग्रहाणां स्थान १ दिक् २ काल ३ चेष्टा ४ दृग् ५ निसर्गबल ६ भेदात् षोढा बलमाह—

ते स्थानबलिनो मित्रस्वगृहोच्चनवांशगाः । स्त्रीराशिष्विन्दुभृगुजौ पुंराशिषु पुनः परे ॥ २८ ॥

व्याख्या—ते ग्रहा मित्रस्वयोर्गृहाद्यैः प्रत्येकं योजना कार्या, गृहस्योपलक्षणत्वान्मूलत्रिकोणेऽपि । उक्तं च त्रैलोक्यप्रकाशे–"मित्र ५ स्वर्क्ष१० त्रिकोणो१५ च्चैः २० फलं दृत्तेऽह्निवृद्धितः " इति वक्ष्यमाणाधिमित्रांशे लग्नोदितांशे वर्गोत्तमांशे वा, ग्रहो बलिष्ठ इति तु स्फुटमेव । स्त्रीराशिष्विति बलिनाविति योगः शुक्रेन्द्वोः स्त्रीत्वात् । राशीनां पुंस्त्रीत्वं प्रागेवोक्तं । परे पञ्च ग्रहाः । इदं स्थानबलम् १ ॥

लग्नाद्युत्क्रमकेन्द्राख्यदिक्षु प्राच्यादिषूद्बलाः । जीवज्ञौ १ भास्करक्ष्माजौ २ शनिः ३ सितसितद्युती ४॥ २९ ॥

व्याख्या—लग्नादारभ्योत्क्रमेण सृष्ट्या केन्द्राणि प्रथम १ दशम २ सप्तम ३ तुर्य ४ भवनानि तैराख्या कथनं यासां ताः पूर्वादयो दिशस्तासु । अयं भावः–लग्नं प्राची तत्र बुधगुरू बलिनौ । दशमं दक्षिणा तत्र रविकुजौ । सप्तमं पश्चिमा तत्र शनिः । तुर्यमुत्तरा तत्र शुक्रेन्दू च बलिन इति ।

अन्तरालस्थितत्र्यया१२या११दिग्गृहद्वयद्वयरूपमाग्नेय्यादिविदिक्चतुष्कं तु क्रमात् पूर्वादिचतुर्दिक्समफलमेव विदिशां दिगनुगामित्वात् । इदं दिग्बलम् २ ॥

बलिनोऽह्नि गुरुसितार्काः सदा बुधो निशि तु चन्द्रकुजमन्दाः ।
स्वदिनादिषु च सितासितपक्षच्छितयेषु शुभक्रूराः ॥ ३० ॥

व्याख्या—सदेति दिवा रात्रौ चेत्यर्थः स्वदिनादिष्विति स्वदिनस्ववर्षमासस्वकालहोरासु तत्तदधिपग्रहा बलिनः । ते चैवं—

" यस्य वारस्य मध्ये स्याच्छुक्लप्रतिपद् मुखम् । तन्मासेशः स विज्ञेयश्चैत्रे वर्षाधिपः पुनः " ॥ १ ॥

व्यवहारसारेऽप्युक्तम्—

" चैत्रादिमेषसंक्रान्तिकर्कसंक्रान्तिवासराः । प्रतिवर्षं क्रमाज्ज्ञेया राजानो मंत्रिसस्यपाः " ॥ १ ॥

दिनेशस्तद्दिनवार एव । कालहोरेशास्तु प्रागुक्ताः । ततश्च "वर्षमासघुटोरेशैर्वृद्धिः पञ्चोत्तरा फले" इति मुहूर्त्तसारे । अस्यार्थः-वर्षेशग्रहः किल समग्रं स्ववर्षं यावत्पादं, कोऽर्थः? पञ्च विंशोपान् फलं दत्ते । मासेशग्रहः समग्रस्वमासे दश विंशोपान् । दिनेशस्तु स्वदिनावधि पञ्चदश विंशोपान् । होरेशस्तु स्वहोरायां स्ववारयोगात् पूर्णं विंशतिविंशोपं फलं ददातीति । सितासितेति शुक्ले पक्षे सौम्या ग्रहा बलिनः, कृष्णे तु क्रूराः । इदं कालबलम्३॥

रविचन्द्रावुदगयने विपुलस्निग्धाश्च वक्रगाश्चान्ये । बलिनो युधि चोत्तरगा व्यर्केन्दुयुताश्च चेष्टाभिः ॥ ३१ ॥

व्याख्या—उदगयने उत्तरायणे मकरादिषट्के इत्यर्थः, न तु कर्कादिषट्के । विपुला बहुदिनोदिता विशालस्थूलबिम्बाश्च, न तु बाला वृद्धा अस्तमिता वा । तत्र बालत्वमुदयादनु स्यात्, वृद्धत्वं पुनरस्तमयादर्वाक् । " बाल्ये वार्धके च सर्वे ग्रहाः सप्ताहं निर्बला " इति सप्तर्षयः प्राहुः । स्निग्धा इति स्फुटकिरणाः खे लक्ष्यमाणा इत्यर्थः, तथात्वं चार्कादूरतरस्थत्वे सति स्यात् । वक्रगा इति वक्रगत्वे किल सर्वग्रहाणां मूलत्रिकोणतुल्यं बलं इति पाकश्रियां । अन्ये इति भौमाद्याः पञ्च ग्रहाः रवीन्द्वोर्वक्रगत्यभावात् । हर्षप्रकाशे तूक्तं-" वक्की पावो बली सुभो सिग्धो " इति ।

" सूर्यमुक्ता उदीयन्ते शीघ्रा अर्के द्वितीयगे । समं तृतीयगे यान्ति मन्दा भानौ चतुर्थगे ॥ १ ॥
वक्राः पञ्चमषष्ठेऽर्के तेऽतिवक्रा नगा ७ ष्ट ८ गे । नवमे दशमे मार्गाः सरला लाभ ११ रिष्प १२ गे " ॥ २ ॥

अत्र पञ्चमषष्ठेऽर्के इति शनिकुजगुरूनपेक्ष्योक्तं । बुधशुक्रौ स्वर्कस्यामग्रस्थावेव वक्री स्यातां । एवं मार्गेऽपि वाच्यं । इदं प्रश्नशतकवृत्तौ । युधि चेति खे एकस्मिन्नक्षत्रपादे मिथस्ताराग्रहाणां योगो युद्धमुच्यते । तत्रोत्तरगामिनो जयित्वाद्बलिनः, दक्षिणगामिनस्तु पराजयित्वाद्विबलाः । वराहमते तु शुक्रो दक्षिणगामी सन् बली । तथा चोक्तं वराहसंहितायां–" सर्वे बलिन उदक्स्था दक्षिणदिक्स्थो बली शुक्रः " इति । व्यर्केन्द्विति अर्कवियुताः सन्त इन्दुना युता एकराशिस्थाः । इदं चेष्टाबलम् ४ ॥

सौम्यैर्दृग्बलिनो दृष्टा बले नैसर्गिके पुनः । मन्दारज्ञेज्यशुक्रेन्दुभास्कराः स्युर्बलोत्तराः ॥ ३२ ॥

व्याख्या—सौम्यैरुपलक्षणत्वान्मित्रैश्च पादा ५ र्ध १० पादोन १५ पूर्णाभि २० र्दृग्भिर्दृष्टाः क्रमात्तावत्तावद्विंशोपान् बलिनः । इदं दृग्बलम् ५ । यदा ग्रहयोर्ग्रहाणां वाऽन्यबलसाम्यं स्यात्तदा स्वाभाविकबलेनैव सबलाबलत्वं भाव्यते इत्यतस्तदाह–बले नैसर्गिके इति नैसर्गिकं सहजं बलं तस्मिन् विचार्ये इति शेषः राहुस्त्वर्कादपि बलिष्ठः । इदं स्वाभाविकबलम् ६ ॥ सौम्यैर्दृष्टा इति यदुक्तं तत्र दृष्टिप्रकारमाह—

पश्यन्ति पादतो वृद्ध्या भ्रातृ ३ व्योम्नी १० त्रिकोणके ५–९ ।
चतुरस्रे ४–८ स्त्रियं ७ स्त्रीवन्मतेनाया ११ दिमा १ वपि ॥ ३३ ॥

व्याख्या–विंशतेः पादः पञ्च विंशोपाः, ततो वृद्ध्येति अयमर्थः–स्वस्थानाद्दशमतृतीये स्थाने ग्रहाः पञ्चविंशोपया दृष्ट्या पश्यन्ति, नवपञ्चमे दशविंशोपया, तुर्याष्टमे पञ्चदशविंशोपया, सप्तमं विंशतिविंशोपया पूर्णया । मतेनेति केषाञ्चिन्मतेनैकादशाद्ये अपि विंशतिविंशोपया दृष्ट्या पश्यन्ति । शेषगृहाणि तु द्वितीयषष्ठद्वादशानि न पश्यन्त्येवेत्यर्थाल्लभ्यते । यत्र च यावद्विंशोपा दृष्टिस्तत्र तावद्विंशोपं फलमूह्यम् ॥

ननु सर्वेषामपि स्त्रियामेव पूर्णा दृष्टिः किं वा केषाञ्चिदन्यत्रापीत्याशङ्क्याह—

पश्येत्पूर्णं शनिर्भ्रातृ३ व्योम्नी१० धर्म९ धियौ५ गुरुः । चतुरस्रे कुजोऽर्केन्दुबुधशुक्रास्तु सप्तमम् ॥ ३४ ॥

व्याख्या—अस्यायं भावः-भ्रातृव्योम्नोस्तावदन्यग्रहाणां पाददृगस्ति, शनेस्तु पूर्णा दृक् । त्रिकोण ९-५ चतुरस्र ४-८ स्त्रीषु७ तु, यथार्धं १० पादोन १५ पूर्णा २० क्रमादन्यग्रहाणां दृक्, तथा शनेरपीत्येतावता, शनेः पाददृक् क्वापि नास्तीत्यागतं । तथा धर्मधियोरन्यग्रहाणामर्धदृगस्ति, गुरोस्तु पूर्णा दृक् । भ्रातृव्योमचतुरस्रस्त्रीषु तु, यथा पादपादोनपूर्णा दृगन्यग्रहाणां तथा गुरोरपीत्येतावता, गुरोरर्धदृक् क्वापि नास्तीत्यागतं । तथा चतुरस्रेऽन्यग्रहाणां पादोनदृगस्ति कुजस्य तु पूर्णा दृक् । भ्रातृव्योमत्रिकोणस्त्रीषु तु, यथा पादार्धपूर्णा दृक् अन्यग्रहाणां तथा कुजस्यापीत्येतावता, कुजस्य पादोनदृक् क्वापि नास्तीत्यागतं । अर्केन्दुबुधशुक्रास्तु सप्तममेव पूर्णया दृशा पश्यन्ति न त्वपरं किञ्चिद्गृहं । भ्रातृव्योमादीनि तु पादादिदृशा पश्यन्तीति प्रागुक्तमेव । ज्योतिषसारे तु—" सर्वग्रहाणां द्विद्वादशयोर्न दृक्, षडष्टमयोः पाददृक्, त्र्येकादशयोरर्धदृक्, नवपञ्चमयोः पादोना दृक्, केन्द्रेषु तु चतुर्षु पूर्णा दृगित्युक्तं " ताजिके तु द्विद्वादशषडष्टमेषु दृग् मूलतोऽपि नेष्टा ॥ स्थानबलोक्तिसमये मित्रस्वगृहेत्याद्युक्तमित्यतो गृहमैत्र्याद्याह—

रवेः शुक्रशनी शत्रू ज्ञः समः सुहृदः परे । चन्द्रस्यार्कबुधौ मित्रे कुजगुर्वादयः समाः ॥ ३५ ॥

व्याख्या—समो मध्यस्थः, न रिपुर्न मित्रमुदासीन इत्यर्थः । परे चन्द्रकुजजीवाः । चन्द्रस्येति इन्दोर्नास्त्यरिः ॥

कुजस्य ज्ञो रिपुर्मध्यौ शनिशुक्रौ परेऽन्यथा । बुधस्य मित्रे शुक्रार्कौ शत्रुरिन्दुः समाः परे ॥ ३६ ॥

व्याख्या—परेऽर्केन्दुजीवा मित्राणि । शत्रुरिन्दुरित्यत्र एवेन्दुगृहे ज्ञो मित्रक्षेत्री, ज्ञगृहे त्विन्दुः शत्रुक्षेत्रीति । परे भौमगुरुमन्दाः ॥

जीवस्यार्कान्त्रयो मित्राण्यार्किर्मध्यः परावरी । कवेरमित्रौ मित्रेन्दू मित्रे ज्ञार्की समावुभौ ॥ ३७ ॥

व्याख्या—परौ ज्ञशुक्रौ । उभौ भौमगुरू ॥

मन्दस्य ज्ञसितौ मित्रे गुरुर्मध्यः परेऽरयः । तत्कालसुहृदो द्वि२ त्रि३ सुख४ लाभा११न्त्य१२कर्म१०गाः ॥३८॥

व्याख्या—परेऽर्केन्दुभौमाः । शत्रुमित्रमध्यस्थानां स्थापना यथा—

ग्रहाणां	रवि	चन्द्र	मंगल	बुध	गुरु	शुक्र	शनि
शत्रवः	शुक्र–शनि	—	बुध	चन्द्र	बु–शु	र–चं	र–चं–मं
मित्राणि	चं–मं–गु	र–बु	र–चं–गु	र–शु	र–चं–मं	बु–श	बु–शु
मध्यस्थाः	बु	मं–गु–शु–श	शु–श	मं–गु–श	श	मं–गु	गु

तत्कालेत्यादि जन्मनि पृच्छादिलग्ने वा यत्र स्थाने कश्चिदेको ग्रहोऽस्ति, तस्माद् द्वितीयादिस्थाने योऽन्यो ग्रहः स्यात्स तत्काले द्वित्र्यादिस्थानस्थितिकालावधीत्यर्थः तस्य मैत्री स्यात् । इयं तात्कालिकी मैत्रीत्युच्यते ॥ अस्याः फलमाह—

मित्रमध्यारयो येऽत्र निसर्गेणोदिताः क्रमात् । अधिमित्रसुहृन्मध्यास्ते स्युस्तत्कालमैत्र्यतः ॥ ३९ ॥

व्याख्या—अधिकं मित्रमधिमित्रं, अर्थादेव च मित्रस्थानेभ्योऽन्यानि प्रथमपञ्चमषष्ठसप्तमाष्टमनवमस्थानानि तत्कालवैरस्थानानि । तत्फलं चैवं—

" येऽत्रारिमध्यमित्राणि निसर्गेणोदिताः क्रमात् । अधिशत्रुद्विषन्मध्यास्ते स्युस्तत्कालवैरतः " ॥ १ ॥

भुवनदीपके तु ग्रहाणां मित्रशत्रुस्वरूप पक्षद्वयमेवोक्तं, तथाहि—

" रवीन्दुभौमगुरवो ज्ञशुक्रशनिराहवः । स्वस्मिन् मित्राणि चत्वारि परस्मिन् शत्रवः स्मृताः " ॥ १ ॥

राहुरव्योः परं वैरं गुरुभार्गवयोरपि । हिमांशुबुधयोर्वैरं विवस्वन्मन्दयोरपि ॥ २ ॥

अतिमैत्री राहुशन्योरिन्दुगुर्वोः कुजार्कयोः । सितज्ञयोः" इति । एवं च ग्रहाणां मित्रात्मगृहाण्युच्चानि विशेषाद्धर्षदीप्तिस्थानानि, यथा रवेर्मेषः सुहृद्गृहमुच्चं च, बुधस्य कन्यागृहमुच्चं चेत्यादि । अरिगृहाणि तूच्चान्यपि प्रभादायीनि स्युः परं नान्तःसुखदानि, यथा शुक्रस्य मीनः । नीचान्यपि च सुहृद्गृहाणि किञ्चित्प्रभादायीनि यथेन्दोर्वृश्चिकः । रिपुगृहाणि तु नीचानि नानाऽनर्थान् प्रभाहानिं च कुर्युरिति भुवनदीपकवृत्तौ ॥ अथ यवनाऽऽचार्योक्तं राशिस्थग्रहाणां मिथो वेधमाह—

स्याद्गोचरेणात्र शुभोऽपि विद्धः, खेटोऽन्यखेटैरशुभः क्रमेण ।

द्वितीय विमर्शे तात्कालिकीमैत्री शत्रुता ॥ ।।७८।।

क्रम- ...हेः ७८॥

दुष्टोऽपि चेष्टश्च म वामवेधान्मिथो न वेधः पितृपुत्रयोस्तु ॥ ४० ॥

व्याख्या—गोचरेण शुभोऽपि ग्रहो वक्ष्यमाणक्रमेणान्यग्रहैर्विद्धः सन्नशुभः स्यात् । दुष्टोऽपीत्यादि अपिचेत्यखंडमव्ययसमुदायः क्रमेणेत्येतदत्रापि योज्यं गोचरेण दुष्टोऽपि च ग्रहः क्रमेण वामवेधादिष्टः स्यात् । इह किल तृतीयादिस्थानस्थस्य रवेर्नवमादिस्थानस्थग्रहैर्यो वक्ष्यते स वेधः । यस्तु नवमादिस्थानस्थार्कस्य तृतीयादिस्थानस्थग्रहैः स्यात् स वामवेधः । कोऽर्थः ? तृतीयादिस्थानस्थोऽर्कः शुभः चेन्नवमादिस्थानस्थैरन्यग्रहैर्न विध्येत । नवमादिस्थानस्थश्चाशुभोऽप्यर्कः शुभो यदि तृतीयादिस्थानस्थैः परैर्विध्येत । एवमन्येऽपि भाव्याः । उक्तं च यतिवल्लभे—

" एभिर्वेधैर्विद्धा विफलाः स्युर्गोचरे ग्रहाः सर्वे । विपरीतवेधविद्धाः पापा अपि सौम्यतां यान्ति " ॥ १ ॥

"यत्रस्थेन ग्रहेणेष्टग्रहो विध्यते तत्रस्थस्यैव स्वस्य फलं शुभमशुभं वा स ददातीति तत्त्वं" इति रत्नभाष्ये । ये तु गोचरफलमेव प्रमाणयन्तो वेधविधौ माध्यस्थ्यमाद्रियन्ते, तन्मतं न बहुसंमतं । यदाह सारङ्गः—

"यत्र गोचरफलप्रमाणता, तत्र वेधफलमिष्यते न वा । प्रायशो न बहुसंमतं त्विदं, स्थूलमार्गफलदो हि गोचरः" ॥१॥ यतिवल्लभेऽप्युक्तं—

" अज्ञात्वा वेधविधिं ग्रहगोचरपाकजातगुणदोषम् । ये निर्दिशन्ति मूढास्तेषां विफलाः सदादेशाः " ॥ १ ॥

वेधौ च वामोऽवामश्च जन्मराशिन एव गण्यौ । मिथो न वेध इति रविशनी चन्द्रबुधौ च पितापुत्रौ । अत्र पितृपुत्रयोरिति पाठश्चिन्त्यः, ऋत आत्वभवनात्, तेन " मिथो न पित्रङ्गजयोस्तु वेधः " इति पाठोऽस्तु ॥ वेधप्रकारमेवाह—

वेधस्त्रिषड्गगनलाभगतस्य ३–६–१०–११ भानोः, खेटैः क्रमेण नवमान्त्यसुखात्मज ९–१२–४–५ स्थैः ।
इन्दोस्तनौ त्रिरिपुमन्मथखायगस्य १–३–६–७–१०–११, धीधर्मरिष्पधनबन्धुमृतौ ५–९–१२–२–४–८ स्थितैश्च ॥४१॥
स्यान्मङ्गलस्य सहजद्विषदायगस्य ३--६--११, सौरेस्तथा व्ययतपः सुखगैश्च १२–९–४ वेधः ।
चान्द्रेः स्वबन्धुरिपुमृत्युखलाभगस्य २-४-६-८-१०-११, पुत्रत्रिधर्मतनुनिर्व्ययशनान्त्यगैश्च ५-३-९-१-८-१२ ॥ ४२ ॥

व्याख्या—निर्व्यथनं छिद्रमष्टममित्यर्थः ॥

वाचस्पतेः स्वनननयास्तनवायगस्य २–५–७–९–११, वेधस्तथान्त्यसुखविक्रमखाष्टगैश्च १२–४–३–१०–८– ।
शुक्रस्य षट्खमदनान्यजुषो१-२-३-४-५-८-९-११-१२ऽष्टमसप्ताद्याकाशधर्मतनयायतृतीयषष्ठेः८-७ १-१०-९-५-११-३-६॥

व्याख्या—षट्खेत्यादि षष्ठदशमसप्तमवर्जनवस्थानजुषः । ग्रहाणां वेधस्थापना यथा—

गुरोः		शुक्रस्य		रवेः		चन्द्रस्य		भौमशन्योः		बुधस्य	
२	१२	१	८	३	९	१	५	३	१२	२	५
५	४	२	७	६	१२	३	९	६	९	४	३
७	३	३	१	१०	४	६	१२	११	४	६	९
९	१०	४	११	११	५	७	७			८	१
११	८	५	९			१०	४			१०	८
		८	५			११	८			११	१२
		९	११								
		११	३								
		१२	६								

॥ इत्युक्तं सप्रसङ्गं राशिद्वारम् ॥ ५

॥ अथ गोचरद्वारम् ॥ ६ ॥

अथ स्याद्गोचरेणेत्यत्र प्रागुपक्षिप्तं क्रमप्राप्तं च, ग्रहगोचरद्वारमाह—

श्रेयान् गोचरतोऽंशुमानुपचये ३,६,१०,११,
चन्द्रस्तु साद्यद्युने ३,६,१०,११,१,७, ।
वक्रार्कौ त्रिषडायगा ३,६,११ वथ बुधस्त्वन्त्यान्ययुग्लाभगः २,४,६,८,१०,१२ ॥
जीवः स्त्रीधनधर्मलाभसुतगः ७,२,९,११,५, शुक्रोऽरिखास्तान्यगो १,२,३,४,५,८,९,११,१२ ।
जन्मेन्दोर्ग्रहणे तमोऽप्युपचये ३,६,१०,११, ऽन्येषां त्वनाद्येन्दुवत् ३,६,७,१०,११ ॥ ४४ ॥

जन्मादि द्वादशगृहगत गोचरफलयन्त्रं वराहसंहितानुसारेण ॥

गृहं	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२
ग्रहाः रवि	स्थान भ्रंश	भय	श्रीः	परिभव	दैन्य	अरिहति	पथः	अंगार्त्तिः	क्षान्तिक्षय	सिद्धिः	धन	व्यय
चन्द्र	तुष्टिः	आधिः	धन	आजिः	अर्थ भ्रंश	श्रीः	सार्थ युवतिः	मृति	भीतिः	सुखं	जय	सरुग् धन क्षयः
मंगल	रुग्	धन नाश	धन	अरिभीः	अर्थ क्षय	धन	शुग्	अस्त्र घात	आर्त्तिः	शुग्	लाभ	विविध दुःख
बुध	बन्ध	अर्थ	वध	अर्थ	हृतिः	स्थान	वपुर्बाधा	धन	महापीडा	सौख्य	अर्थ	वित्त नाश
गुरु	रोग	अर्थ	क्लेश	व्यय	सुख	भीः	नृपमान	धनागम	श्रीदः	अप्रीति	लाभ	हृद्दुःख
शुक्र	अरि नाश	अर्थ	सुख	श्रीः	सुत	अरि वृद्धिः	शुग्	अर्थ	वस्त्र	असुख	आय	लाभ
शनि	अस्थान	धन गमनं	अर्थ	अरि वृद्धिः	सुत नाश	लाभ	दुःखभर	पीडा	अर्थ गम	आर्त्तिः	श्रीः	दुःख

व्याख्या—गवां चरणभूमि. किल गोचरः, ततो लक्षणया ग्रहाणामपि चरणभूमिः गोचरः, तमाश्रित्य रविरुपचये श्रेष्ठः। उपचयादिकं कस्मादारभ्य गण्यते इति शङ्कायामाह—जन्मेन्दोरिति, इदं सर्वग्रहेषु योज्यते। इष्टपुंसो जन्मसमये यत्र राशाविन्दुः स्यात्स राशिर्जन्मेन्दुरुच्यते, जन्मराशिरित्यर्थः, तस्मादारभ्य सर्वग्रहाणां गोचरो गण्यते इति भावः। साद्येति उपचयस्थानेषु प्रथमसप्तमयोश्च। अन्त्यान्येति द्वादशं वर्जयित्वा सर्वसमस्थानेषु। अरिखास्तेति षष्ठदशमसप्तमवर्जसर्वस्थानेषु गोचरेणागतः शुक्रः शुभः। पूर्णभक्त्रेण स्वष्टममपि वर्जितं। ग्रहणे इति अर्केन्द्वोर्ग्रहणदिने राहुर्जन्मराशित उपचयस्थः शुभः। अन्येषामिति ते प्राहुः आद्यं विना चन्द्रवद्राहुः उपचयेषु स्मरे च शुभ इत्यर्थः। ग्रहणे इति कथनेनान्यदा राहुगोचरो न गण्यते इत्यसूचि। नक्षत्रगोचरमाश्रित्यान्यदाऽपि गण्यते इति ज्योतिषसारे। विशेषस्तु जन्मलग्नादप्येषु स्थानेष्वेव शुभा इति रत्नभाष्ये। जन्मराशितस्तु शुभा एव। गोचरफलानि चैवम्—

" स्थानभ्रंश १ भय २ श्री ३ परिभव ४ दैन्या ५ रिहति ६ पथा ७ ऽऽर्तीः ८ ।
क्षान्तिक्षय ९ सिद्धि १० धन ११ व्ययाँ १२ श्च जन्मादिगो रविः कुरुते ॥ १ ॥
तुष्ट्या १ धि २ धना ३ ज्य ४ र्थभ्रंश ५ श्री ६ सार्थयुवति ७ मृति ८ भीतीः ९ ।
सुख १० जय ११ सरुग्धनक्षय १२ मिन्दुर्जन्मादिगो दत्ते ॥ २ ॥
रुग् १ धननाश २ धना ३ रिभ्य ४ र्थक्षय ५ धन ६ शुग ७ ऽघाता ८ र्तीः ९ ।
शुग् १० लाभ ११ विविधदुःखानि १२ दिशति जन्मादिगो वक्रः ॥ ३ ॥
बन्धा १ र्थ २ वधा ३ र्थ ४ हृति ५ स्थान ६ वपुर्बाध ७ धन ८ महापीडा ९ ।
सौख्या १० र्थ ११ वित्तनाशाः १२ स्युर्ज्ञे जन्मादिगे क्रमशः ॥ ४ ॥
रोगा १ र्थ २ क्लेश ३ व्यय ४ सुख ५ भी ६ नृपमान ७ धनागम ८ श्रीदः ९ ।
अप्रीति १० लाभ ११ हृद्दुःखदश्च १२ जन्मादिगो जीवः ॥ ५ ॥
अरिनाश १ र्थ २ सुख ३ श्री ४ सुता ५ रिवृद्धी (द्धि) ६ शुग ७ र्थ ८ वस्त्राणि ९ ।
असुखा १० य ११ लाभ १२ मुशना सनापि जन्मादिगस्तनुते ॥ ६ ॥
अस्थान १ धनगमा २ र्था ३ रिवृद्धि ४ सुतनाश ५ लाभ ६ दुःखभरान् ७ ।
पीडा ८ र्थगमा ९ र्त्ति १० श्री ११ दुःखानि १२ शनिस्तनोति जन्मादौ " ॥ ७ ॥ इदमर्थतो वराहसंहितायां ।

" गहणे तमरासीओ नियरासी ति चउ अट्ठिगार सुहा । पण नव दहंन १२ मज्झिम छ सत्त इग दुन्नि अइअहमा " ॥ १ ॥

इति ज्योतिषसारे । तथा—

" यादृशेन शशाङ्केन सङ्क्रान्तिर्जायते रवेः । तन्मासि तादृशं प्राहुः शुभाशुभफलं नृणाम् " ॥ १ ॥

एतेनार्को द्वादशाष्टमाद्यशुभस्थानस्थोऽपि गोचरेण ताराबलेन शुभावस्थादिना च, शुभे चन्द्रबले सति जातसङ्क्रमः शुभ एवेति रत्नभाष्ये । तथा—

" सितपक्षादौ चन्द्रे शुभे शुभः पक्षकोऽशुभे त्वशुभः । बहुले गोचरशुभदे न शुभः पक्षेऽशुभे तु शुभः " ॥ १ ॥

इति लल्लः अस्यार्थः—शुक्लपक्षस्य प्रतिपदि लगन्त्यां यदि चन्द्रः शुभस्तदा, तस्मिन् पक्षेऽपि चन्द्रः शुभ एव, यदि चाशुभस्तदा अशुभः । कृष्णपक्षस्य तु प्रतिपदि लगन्त्यां यदि चन्द्रः शुभस्तदा तस्मिन् पक्षेऽपि चन्द्रोऽशुभ एव, यदि त्वशुभस्तदा चन्द्रस्तस्मिन् पक्षेऽपि शुभ एवेति । तथा—" यादृशेन ग्रहेणेन्दोर्युतिः स्यात्तादृशो हि सः " इति दैवज्ञवल्लभे । तथा—

" अशुभोऽपि शुभश्चन्द्रः सौम्यमित्रगृहांशके । स्थितोऽथवाधिमित्रेण बलिष्ठेन विलोकितः " ॥ १ ॥

इति दैवज्ञवल्लभे । अथ सर्वग्रहसाधारणमुच्यते—

" असत्फलोऽपि यः सौम्यैर्दृष्टो यः सत्फलोऽपि वा । क्रूरेण दृष्टोऽरिणा वा स न किञ्चित्फलप्रदः ॥ १ ॥

इति दैवज्ञवल्लभे । तथा—" नीचेऽस्तेऽरिगृहे वापि निष्फलो ग्रहगोचरः " । इति लल्लः ।

चन्द्रो जन्मत्रिषट्सप्तदशैकादशगः शुभः । द्विपञ्चनवमोऽप्येवं शुक्लपक्षे बली यदि ॥ ४९ ॥

व्याख्या—जन्मेति । विशेषस्तु—

" यात्रा १ युद्ध २ विवाहेषु ३ जन्मेन्दौ रोगसंभवे ४ । क्रमेण तस्करा १ भङ्गो २ वैधव्यं ३ मरणं ४ भवेत् " ॥ १ ॥

इति नारचन्द्रटिप्पण्यां । ननु चन्द्रगोचरण्ये प्रागप्युक्ते पुनरुक्तमिदं, सत्यं, परमिन्दोः प्राधान्यज्ञप्त्यर्थत्वाददोषः । प्राधान्यं कथमिति चेत् उच्यते—यथा मनस उपयोगे सत्येव सर्वाण्यपीन्द्रियाणि स्वस्वविषयग्रहणक्षमाणि, नापरथा, तथा चन्द्रे शुभे सत्येव शेषग्रहाः शुभं फलं ददति, नापरथा । " चन्द्रे च शुभे सति शेषग्रहाः शुभफलदा एव प्रायो, न त्वशुभफलदा " इति व्यवहारप्रकाशे । हर्षप्रकाशेऽप्युक्तं—" चंदस्सेव बलाबलमासज्ज गहा कुणंति सुहमसुहं " इति । द्विपञ्चेत्यादि विशेषविध्यारोपणार्थत्वाच्च नात्र पुनरुक्तदोषः । एवमिति शुभ इत्यर्थः । शुक्लपक्षे इति प्रवर्धमान इति भावः, न तु कृष्णपक्षे, क्षीयमाणत्वात् । बली यदीति अनेन शुक्लपक्षेऽपि कृशः सन् शशी द्विपञ्चनवमो न ग्राह्यः । कृष्णपक्षे च पुष्टोऽपि सन्

द्विपञ्चनवमो न ग्राह्य इत्युक्तं, तदयं भावः—यादृशं द्विपञ्चनवमो गुरुः सदा शुभं (फलं) दत्ते, तादृशं वर्धमानतनुः शुक्लपक्षे पुष्टश्चन्द्रोऽपि द्विपञ्चनवमः शुभं दत्ते इति रत्नभाष्ये ॥ बली यदीत्युक्तत्वादिन्दोर्बलाबलमाह—

हीनमध्योच्चबलता तिथिवत्तु हिमद्युतेः । बलहानाविदं त्वस्य ग्राह्यं ताराबलं बुधैः ॥ ४६ ॥

व्याख्या—शुक्लेतरपक्षयोस्तिथिपञ्चत्रयीषु हीनमध्योत्तमता यथोक्ता तथेन्दोरपि हीनमध्योत्तमबलत्वं क्रमोत्क्रमाद्बाध्यं । जातकवृत्तौ त्वेवं—"उदयादाद्ये दशाहे शशी मध्यबलः, द्वितीयेऽधिकबलः, तृतीयेऽल्पबलः, कृष्णचतुर्दश्यादित्रिदिनीं सर्वथाऽबलः । सौम्यग्रहैर्दृष्टस्त्विन्दुः सदापि बलवानिति" । अन्ये तु कृष्णाष्टम्यर्धादनु शुक्लाष्टम्यर्धं यावच्चन्द्रः क्षीणः, शेषं पक्षं पुष्टश्चेन्त्येवमाहुः । नक्षत्रसमुच्चयग्रन्थे त्वेवम्—

"उदिते च तथा चन्द्रे शुभयोगे शुभे तिथौ । कृष्णस्य दशमीं यावत्सर्वकार्याणि साधयेत्" ॥ १ ॥

विशेषस्तु शुक्लद्वितीयायां दिवा उदितोऽपीन्दुर्न ग्राह्यः, प्रायो जगद्दृग्गोचरीभावाभावेनासांव्यवहारिकत्वात् । उक्तं च विवाहवृन्दावने—

"उदेति चायं प्रतिपत्समाप्तौ कृशोऽपि वर्धिष्णुतया प्रशस्तः । द्वीपान्तरस्थो विफलस्तु तावद्यावन्न पृथ्वीनयनाध्वनीनः" ॥ १ ॥

इदं त्विति वक्ष्यमाणं । अस्येति इन्दोः । ग्राह्यमिति तदानीं ताराबलेनैव शशिबलभवनादिति भावः । उक्तं च—

"चन्द्राद्बलवती तारा कृष्णपक्षे तु भर्तरि । विकले प्रोषिते च स्त्री कार्यं कर्तुं यतोऽर्हति" ॥ १ ॥ ततश्च—

"कृष्णस्याष्टम्यर्धादनन्तरं तारकाबलं योज्यं । प्रतिपत्प्रान्तोत्पन्नं सन्ध्याकालोदयं यावत्" ॥ १ ॥

इति व्यवहारप्रकाशे । न च ताराबलं गौणमिति चिन्त्यं, यतः स्फुटमेव ताराबलस्य प्राधान्यं । यल्लल्लः—

"ताराबले शशिबलं शशिबलसंयुतसंक्रमाद्बलं भानोः । सूर्यबले सति सर्वेऽप्यशुभा अपि खेचराः शुभदाः" ॥ १ ॥ तारा एवाह—

जनिभान्नवकेषु त्रिषु जनि १ कर्मा १० धान १९ संज्ञिताः प्रथमाः ।
ताभ्यस्त्रि ३,१२,२१ पंच ५,१४,२३ सप्तम ७,१६,२५ ताराः स्युर्न हि शुभाः क्वचन ॥ ४७ ॥

द्वितीय विमर्शे ताराबल विचारः ॥

व्याख्या—यस्य जन्मनि यत्र भे चन्द्रः स्यात्तस्य, तज्जनिभं तस्मात्तदपरिज्ञाने नामभाद्वा आरभ्य नक्षत्राणां नवकत्रयं कृत्वा, त्रिष्वपि नवकेषु या आद्यास्तिस्रस्तासां जन्मतारा १ कर्मतारा २ आधानतारेति ३ संज्ञाः । उक्तं च—" आधानाद्दशमे जन्म, दशमे कर्म जन्मभात् " इति । ताभ्यस्तिसृभ्योऽपि या यास्तृतीयाः पञ्चम्यः सप्तम्यश्च तारास्तास्त्याज्याः । द्वितीयादिताराणां नामान्येवम्—

" संपद्विपत्क्षेमसंज्ञा प्रत्यरा राधका मृतिः । मैत्री परममैत्री च स्युर्द्वितीयादिमा इमाः ॥ १ ॥

प्रत्यराया यमेति नामान्तरं । ताराणां स्थापना यथा—

मध्यमाः	मध्यमाः	अधमाः	श्रेष्ठाः	अधमाः	श्रेष्ठाः	अधमाः	मध्यमाः	श्रेष्ठाः
जन्म १	संपत् २	विपत् ३	क्षेमा ४	यमा ५	साधना ६	निधना ७	मैत्री ८	परममैत्री ९
कर्म १०	संपत् ११	विपत् १२	क्षेमा १३	यमा १४	साधना १५	निधना १६	मैत्री १७	परममैत्री १८
आधान १९	संपत् २०	विपत् २१	क्षेमा २२	यमा २३	साधना २४	निधना २५	मैत्री २६	परममैत्री २७

आसु त्रिनवसु चतुर्थ्यः३ षष्ठ्यो३ नवम्यश्च३ तिस्रस्तिस्रस्तारा: श्रेष्ठाः । यल्लः—

" ऋक्षं न्यूनं तिथिर्न्यूना क्षपानाथोऽपि चाष्टमः । तत्सर्वं शमयेत्तारा षट्चतुर्थनवस्थिता " ॥ १ ॥

आद्या३ द्वितीया३ अष्टम्यश्च३ तिस्रस्तिस्रो मध्यमाः । तृतीयाः३ पञ्चम्यः३ सप्तम्यश्च३ तिस्रस्तिस्रोऽधमा इति तूक्तमेव ॥ विशिष्य चाह—

जन्माधानान्वितास्तिस्रस्तास्त्यजेत्क्षौरयात्रयोः । शुक्लेऽप्यासूत्थिते रोगे दीर्घक्लेशोऽथवा मृतिः ॥ ४८ ॥

व्याख्या—तिस्रस्ता इति अत्र प्रत्येकं त्रित्वसद्भावाश्नवेति वक्तुं युक्तं, परं जातेरेव प्राधान्याश्रयणात्तिस्र इत्येवोक्तं । यात्रयोरिति यल्लः—

" यात्रायुद्धविवाहेषु जन्मतारा न शोभना । शुभाऽन्यशुभकार्येषु प्रवेशे च विशेषतः ॥ १ ॥
जन्मर्क्षवदाधानं कर्मसु शस्तेषु शस्तमेव स्यात् । यच्च न जन्मनि कार्यं विवर्जनीयं तदाधाने " ॥ २ ॥

शुक्लेऽपीति यद्यपि शुक्लपक्षे चन्द्र एव बली, न च तदानीं तारायाः प्राधान्यं, यदुक्तं—

" शुक्ले पक्षे बली चन्द्रस्ताराबलमकारणम् । पत्यौ स्वस्थे गृहस्थे च न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति " ॥ १ ॥

चन्द्रबलं च तदानीं वर्तते तथापीत्यपेरर्थः, आस्विति जन्माधानत्रिपञ्चसप्तमतारासु । दीर्घक्लेशोऽथवेति ग्रहान्तरप्रातिकूल्याभावे दीर्घक्लेशः तत्सद्भावे तु मृत्युरित्यर्थः । यल्लः—

" यद्यपि स्याद्बली चन्द्रस्तारा तथाप्यनिष्टदा । जन्माधाने तृतीया च पञ्चमी सप्तमी तथा ॥ १ ॥
शेषासु तु तारासु व्याधिः साध्यो नृणां भवति जातः । व्याधिवदवबोद्धव्याः सर्वारंभाश्च तारासु " ॥ २ ॥

अत्र यात्रादिषु चन्द्रः शुभावस्थो विलोक्यते, इति रत्नमालाभाष्ये उक्तमित्यतश्चन्द्रावस्थाः प्राह—

चन्द्रावस्था प्रोषित१ हत२ मृत३ जय ४ हास ५ हर्ष ६ रति ७ निद्राः८ ।
मुक्ति ९ जरा १० भय ११ सुखिता १२ राश्यंशा द्वादश यथार्थाः ॥ ४९ ॥

व्याख्याः—यदा यावद्घटीमानश्चन्द्रस्येष्टराशिभोगः स्यात्तदा तावान् टिप्पनकं विलोक्य निर्णेयः । यथा सामान्येन पञ्चत्रिंशदधिकशत १३५ मितस्येन्दो राशिभोगस्य द्वादशभिर्भागे एकादश घट्यः पञ्चदश पलानि च स्युः । इष्टसमये च पञ्चत्रिंशदधिकशतमध्ये यावत्यो घट्यो भुक्ताः स्युस्तासां सपादैरेकादशभिर्भागे यल्लब्धं ता भुक्ताः, शेषाङ्केन भुज्यमानद्वादशांशा ज्ञेयाः । अत्र च सामान्योक्तेऽप्ययं भावः—राशौ राशौ द्वादशांशरीत्या इन्दुर्द्वादशावस्था भुङ्क्ते । उक्तं च यतिवल्लभे—

" राशौ राशौ द्वादशामूर्भुङ्क्तेऽवस्थाश्च चन्द्रमाः । द्वादशांशक्रमात्सांहित्यग्रहेनाख्यासदृक्फलाः " ॥ १ ॥

ततोऽयमर्थः—मेषे स्थितस्येन्दोः प्रोषितात् आरभ्य द्वादशावस्था गण्याः । वृषस्थस्य तु हतातः, मिथुनस्थस्य मृतात इत्यादि यावन्मीनस्थस्य सुखितात इति लोकव्यवहारोक्तं रत्नमालाभाष्ये । यथार्था इति स्वस्वसंज्ञासदृक्फलदा इति भावः । तेन प्रोषित १ हत २ मृत ३ निद्रा ४ जरा ५ भया ६ ख्याः षडवस्थास्त्याज्या इति नारचन्द्रटिप्पण्यां । अत एव दिनशुद्धावप्युक्तम्—

" पइरासि बारसंसा असुहाओ चए जओ सुहो वि ससी । एआहिं होइ असुहो, सुहाहिं असुहो वि होइ सुहो " ॥ १ ॥

अथ शनेर्दुष्टत्वान्नक्षत्रगोचरं पृथगाह—

मन्दर्क्षतः प्रथम १ वेद ४ षड ६ ब्धि ४ बाण ५ त्रि ३ द्व्ये २ क १ चन्द्र १ मितभेषु यथाक्रमेण ।
पीडा १ विभूति ५ पथ ११ बन्धन १५ धर्म २० लाभ २३ पूजा २५ विभूत्य २६ पमृतीः २७ फलमूचुरुच्चैः ॥५०॥

व्याख्या—मन्दर्क्षत इति शन्याक्रान्तभात्स्वजन्मभं यावद् गण्यं । अभिभूतिः पराभवः । अपमृतिरपमृत्युः । अत्र चानुक्तोऽपि शनिर्नराकारोऽभ्यूह्यः । यदुक्तं यतिवल्लभे—

" यस्मिन् शनिश्चरति वक्रगतं तदृक्षं, चत्वारि दक्षिणकरेऽङ्घ्रियुगे च षट्कम् ।
चत्वारि वामकरगाण्युदरे च पञ्च, मूर्ध्नि त्रयं नयनयोर्द्वितयं गुदे च " ॥ १ ॥

नवरमत्र द्वितयमिति यदा नराकारः पट्टकादौ क्वचिदालिख्यते, तदा गुदगुह्ययोरैक्यमेव दृश्यत इति कृत्वाऽत्र गुद एव द्वयं विवक्षितं, सूत्रकृता तु तयोः पार्थक्यविवक्षया स्थानद्वयेऽप्येकैकं नक्षत्रमूचे । तत्स्थापना यथा—

। शनिनरः ।

मुखे	१	पीडा
दक्षिणकरे	४	लक्ष्मी
पादद्वये	६	पंथाः
वामकरे	४	बंधनं
उदरे	५	धर्मः
मस्तके	३	लाभः
नेत्रद्वये	२	पूजा
गुदे	२	मृत्युः

रुद्रयामले तु नवग्रहाणामपि नराकारस्थापनया नक्षत्रगोचरफलान्यूचिरे । तत्र रविनरं सूत्रकृदेव जातकाधिकारे वक्ष्यति । शेषग्रहनरास्त्वेवम्—

दृग ३ बाहुयुग्म ६ वक्त्रेषु ३ भानां प्रत्येकतस्त्रिकम् १२ ।
हृदि सप्त १९ तथा गुह्ये चतुष्कं २३ पञ्चकं पदोः २८ ॥ १ ॥
वक्त्रे पीडां भृशं चक्षुर्हृदयेषु शुभं सुखम् ।
बाह्वोर्लाभं मृतिं गुह्ये भ्रमं दत्ते पदोः शशी ॥ २ ॥ ॥ इति चन्द्रनरः ॥ १ ॥

त्रयं त्रयं त्रिर्मुखहृत्कुक्षिरस्सु ३-९, द्वयानि वामे २ तरबाहु २ कंठे २-१५ ।
पञ्चोरसि स्यु २० स्त्रितयं च गुह्ये २३, चत्वारि चांह्र्योः २७ कुजचक्रमेतत् ॥ १ ॥

कीर्तिं शिरसि हृन्नेत्रे लाभं चरणयोर्भ्रमम् । गुह्येऽन्यस्त्रीरतिं दत्ते कुजः शेषेषु चाशुभम् ॥ २ ॥ ॥ इति भौमनरः ॥ २

वक्त्र५ नेत्र५ गलो५ रस्सु५ पादयोः५ पञ्च पञ्च च२५ । बाहु१ युग्मे१ तथा गुह्ये१ त्रीण्यमूनि भवन्ति च २८ ॥ १ ॥

वक्त्रहृद्बाहुषु क्षान्ति गुह्यपादेषु संक्षयम् । गले सुस्वरतां दत्ते नेत्रे राज्यं बुधो ग्रहः ॥ २ ॥ ॥ इति बुधनरः ॥ ३

शीर्षे चत्वारि राज्यं युगपरिगणिता सव्यहस्ते च लक्ष्मीरेकं कंठे विभूतिं मदनशरमिते वक्षसि प्रीतिलाभम् ।

षड्भिः पीडांह्रियुग्मे जलधिपरिमिते वामहस्ते च मृत्यु-र्दृग्युग्मे त्रीणि कुर्युर्नृपतिसमसुखं वाक्पतेश्चक्रमेतत् ॥१॥ इति गुरुनरः ॥ ४

युगं शीर्षे द्वयं वक्त्रे चतुष्कं हृदयेऽपि च । दश बाह्वोर्द्वयं गुह्ये जान्वंह्रिषु द्वयं द्वयम् ॥ १ ॥

जानुमुष्ककपादेषु दुःखं बाह्वोर्नृपार्हणाम् । हृच्छीर्षे सौम्यतां वक्त्रे मरणं कुरुते सितः ॥ २ ॥ इति शुक्रनरः ॥ ५

वक्त्रे त्रीणि जयाय दक्षिणकरे चत्वारि लक्ष्म्यै पदोः, षड् भ्रान्त्यै न सुखाय वामककरे चत्वारि हृच्छं त्रयम् ।

लब्ध्यै कंठगमेकमामयकरं शीर्षे त्रयं राज्यदं, सौभाग्यं युगलेऽक्षिगे मृतिरथो गुह्यद्वये राहुभात् ॥ १ ॥ इति राहुनरः ॥ ६

वक्त्रे द्वे भयदे जयाय शिरसि स्यात् पञ्चकं पञ्चकं, भीत्यै तत्फणगं जयाय करयोर्युग्मे चतुष्कं स्थितम् ।

अंह्र्योः पञ्च सुखाय हस्तयुगलं शोकाय कंठे व्यथा । भीत्यै स्याञ्च चतुष्टयं फलमिदं केतौ तदाक्रान्तभात् ॥ १ ॥ इति केतुनरः ७

चन्द्रपुरुषः १			भौमपुरुषः २			बुधपुरुषः ३		
नेत्रयोः	३	सुख	मुखे	३	रोगः	मुखे	५	ज्ञानं
दक्षिणकरे	३	लाभः	नेत्रे	३	लाभः	नेत्रे	५	राज्यं
वामकरे	३	लाभः	मस्तके	३	यशः	कंठे	५	सुस्वरता
मुखे	३	अतिपीडा	वामकरे	२	रोगः	हृदये	५	ज्ञानं
हृदये	७	सुखं	दक्षिणकरे	२	शोकः	पादयोः	५	क्षयः
गुह्ये	४	मरणं	कंठे	२	हिक्कादि	वामकरे	१	ज्ञानं
पादयोः	५	भ्रमणं	हृदये	५	लाभः	दक्षिणकरे	१	ज्ञानं
			गुह्ये	३	परस्त्रीरतं	गुह्ये	१	क्षयः
			पादयोः	४	भ्रमणं			

गुरुपुरुषः ४			शुक्रपुरुषः ५			राहुपुरुषः ६			केतुपुरुषः ७		
मस्तके	४	राज्यं	मस्तके	४	सौम्यता	मुखे	३	जयः	मुखे	२	भयं
दक्षिणकरे	४	लक्ष्मीः	मुखे	२	मरणं	दक्षिणकरे	४	लक्ष्मीः	मस्तके	५	जयः
कंठे	१	धनं	हृदये	४	सौम्यता	पादयोः	६	भ्रमणं	फणे	५	महाभयं
हृदये	५	प्रीतिः	हस्तद्वये	१०	पूजा	वामकरे	४	क्लेशः	हस्तद्वये	४	जयः
पादद्वये	६	असुखं	गुह्ये	३	दुःखं	हृदये	३	लाभः	पादद्वये	५	सुखं
वामकरे	४	मृत्युः	जानुद्वये	२	दुःखं	कंठे	१	क्लेशः	हृदये	२	शोकः
नेत्रयोः	३	लाभः	पादद्वये	२	दुःखं	मस्तके	३	राज्यं	कंठे	४	पीडा
						नेत्रयोः	२	सौभाग्यं			
						गुह्ये	२	मरणं			

नन्वेवमन्यान्यग्रहपुरुषाणां शुभाशुभफलसंभेदे सति, कथं ग्रहसंबन्धिनो भगोचरफलस्य निर्णयं कर्तुं शक्यः? उच्यते—इष्टसमये यो ग्रहः सर्वेषामधिकबलः स तदानीं शुभाशुभं फलं दत्ते। सर्वानप्येतान् ग्रहनरान् जन्मसमय एव केचिद्विचारयन्ति। ज्योतिषसारे तु राहोर्नक्षत्रफलमेवमूचे—

" तमरिक्खंमुहि १ तिफुल्लिअ ४ चउफलिअ ८
तिअहल ११ तिझडिअ १४ गुदिकं १५।
तिअरायस १८ तिअतामस २१
चउसुह २५ तिअ असुहं २८ तमचक्कं ॥ १ ॥
फुल्लिअफलिए लाहं अपाणि लच्छी सुहं च सुहरिक्खे।
मुह अहलझडिअरायसतामसअसुहेअ असुहतमं ॥ २ ॥"

अत्रापि राह्वाक्रान्तभात्स्वभं यावद् गण्यम् ॥

अथाशुभे ग्रहगोचरे सति, तद्विफलीकारिणमष्टकवर्गमाह—

गोचरेण ग्रहाणां चेदानुकूल्यं न दृश्यते।
जन्मलग्नग्रहेभ्योऽष्टवर्गेणालोकयेत्तदा ॥ १५ ॥

व्याख्या—ग्रहाणामिति सामान्योक्तेऽपि रवीन्दुजीवानामानुकूल्याभाव इति ज्ञेयं। यदुक्तं नारचन्द्रे—

" रविशशिजीवैः सबलैः शुभदः स्याद्गोचरोऽथ तदभावे । ग्राह्याष्टवर्गशुद्धिर्जननविलग्नग्रहेभ्यस्तु ॥ १ ॥ "

जन्मेति जन्मनि यल्लग्नं चेति ये च ग्रहास्तेभ्यः । अष्टवर्गेणेति अयमर्थः—ग्रहस्य राशौ संचरतः षड्भ्योऽपरग्रहस्थानेभ्यः स्वस्थानाच्चाष्ट विचारणयाऽष्टकवर्ग उच्यते ॥ तमेवाह—

अर्कः स्वमन्दभौमेभ्यो नवद्व्यायाष्टकेन्द्रगः ९-२-११-८-१-४-७-१० ।

त्रिकोणायारिगो ९-५-११-६ जीवाच्छुक्रादन्त्यारिकामगः १२-६-७ ॥ ५२ ॥

चन्द्रादुपचयस्थो ३-६-१०-११ ज्ञाद्धीधर्मोपचयान्त्यगः ५-९-३-६-१०-११-१२ ।

पातालोपचयान्त्येषु ४-३-६-१०-११-१२ लग्नाच्च तरणिः शुभः ॥ ५३ ॥ इति रव्यष्टवर्गः ॥ १

चन्द्रश्चोपचये ३-६-१०-११ लग्ना-द्भानोः साष्टस्मरे स्थितः ३-६-१०-११-८-७ ।

स्वात्सादिसप्तमे ३-६-१०-११-१-७ स्वारा-त्सद्व्ययनवमात्मजे ३-६-१०-११-२-९-५ ॥ ५४ ॥

छिद्रत्रिलाभात्मजकेन्द्रगो ८-३-११-५-१-४-७-१० बुधाद्-

गुरोस्तु रिष्पाष्टमलाभकेन्द्रगः १२-८-११-१-४-७-१० ।

शुक्रात्त्रिपञ्चास्तनवायखांबुगः ३-५-७-९-११-१०-४,

शुभः शनेः षट्त्रिसुतायगः ६ ३-५-११ शशी ॥ ५५ ॥ ॥ इति चन्द्राष्टवर्गः ॥ २

कुज इन्दोरुपचयभे ३-६-१०-११ साद्ये ३-६-१०-११-१ लग्नात्सपञ्चमे ३-६-१०-११-५ सूर्यात् ।

द्व्यायाष्टकेन्द्रगः २-११-८-१-४-७-१० स्वात्सौम्यात्त्रिसुतारिलाभस्थः ३ ५-६-११ ॥ ५६ ॥
जीवात्खान्त्यायारिषु १०-१२-११-६, शुक्राच्छिद्रान्त्यलाभशत्रुगतः ८-१२-११-६ ।
मन्दाल्लाभनवाष्टमकेन्द्रस्थः ११-९-८-१-४-७-१० शोभनो भौमः ॥ ५७ ॥ ॥ इति भौमाष्टवर्गः ॥ ३
बुधोऽर्कतोऽन्त्यायनवारिधीषु १२-११-९-६-५, स्थितः स्वतः मन्त्रिदशादिमेषु १२-११-९-६-५-३-१०-१ ।
द्विषड्दशायाष्टसुखेषु २६-१०-११-८-४ चन्द्रा-ल्लग्नात्तु तेष्वाद्ययुतेषु २-६-१०-११-८-४-१ शस्तः ॥ ५८ ॥
कुजशनितो व्यन्त्यारिषु १-२ ३-४-५-७-८-९-१०-११, जीवादरिनिधनलाभरिष्फस्थः ६-८-११-१२ ।
शुक्रादापुत्राष्टमनवमायस्थो १-२-३-४-५-८-९-११ बुधः शुभदः ॥ ५९ ॥

व्याख्या—व्यन्त्येति द्वादशषष्ठवर्जेसर्वस्थानेषु । आपुत्रेति आद्यात्पुत्रं पञ्चमं यावत् पञ्च स्थानानीत्यर्थः ॥ इति बुधाष्टवर्गः ॥ ४

गुरुः केन्द्रस्वरन्ध्राये १-४-७-१०-२-८-११ ष्वारात्स्वात्मत्रिषूत्तमः १-४-७-१०-२-८-११-३ ।
अर्कात्सत्रिनवस्वि १, ४, ७, १०, २, ८, ११, ३, ९ न्दोः स्वधीकामनवायगः २, ५, ७, ९, ११ ॥ ६० ॥
स्वाद्यिखायसुखधीतपोऽरिषु २, १, १०, ११, ४, ५, ९, ६ ज्ञाद्गुरुः स्मरयुतेषु २, १, १०, ११, ४, ५, ९, ६, ७ लग्नतः ।
स्वत्रिकोणरिपुखायगः २, ९, ५, ६, १०, ११ सितात्, व्यन्त्यधीरिपुषु ३, १२, ५, ६ मन्दतः शुभः ॥ ६१ ॥

॥ इति गुर्वष्टवर्गः ॥ ५

शुक्रो लग्नादासुतधर्मायाष्टसु १, २, ३, ४, ५, ९, ११, ८ मतः स्वतः साम्रः १, २, ३, ४, ५, ९, ११, ८, १० ।

शशिनः सान्त्यः १,२,३,४,५,९,११,८,१२, शनितः स्वायतपञ्चिसुखधीमृतिषु १०, ११, ९, ३, ४. ५, ८, ॥ ६२ ॥

व्याख्या—आघुतेति प्राग्वत् ॥

आयव्ययाष्टगोऽर्का ११, १२, ८ दु. बुधात्त्रिकोणायषट्त्रिगः ९, ५, ११, ६, ३, शुभदः ।

व्यापोक्लिमान्तिषु ५, ३, ६, ९, १२, ११, कुजाद्, गुरोस्त्रिकोणाष्टव्ययगः ९, ५, ८, १०, ११ शुक्रः ॥ ६३ ॥

व्याख्या—आपोक्लिमानि तृतीयषड्नवमद्वादशानि । आप्तिर्लाभभवनम् ॥ इति शुक्राष्टवर्गः ॥ ६ ॥

शनिः स्वात्म्यायपुत्रारि ३, ११, ५, ६ स्वारात्सव्ययकर्मसु ३, ११, ७, ६, १२, १० ।

केन्द्राष्टायार्थगः १, ४, ७, १०, ८, ११, २ सूर्याच्चन्द्रात् षट्त्र्यायगो ६, ३, ११ मतः ॥ ६४ ॥

आद्याम्बूपचये लग्नात् १, ४, ३, ६, १०, ११, कवेरायव्ययारिषु ११, १२, ६ ।

गुरोः सधीषु ११,१२,६,५, साग्नाष्टधर्मेषु ११,१२,६,१०,८,९, ज्ञाच्छनिर्मतः ॥ ६५ ॥ ॥ इति शन्यष्टवर्गः ॥ ७

एषां चतुर्दशवृत्तानां पिंडार्थोऽयं-आद्यवृत्तेऽर्के इति, यदा यात्रादिकार्यचिकीर्षाऽस्ति तस्मिन् काले यः स तात्कालिकोऽर्कः । स्वमन्देत्यादि स्वशब्देनेह जन्मकालिकोऽर्को ग्राह्यः । एवं मन्दभौमाद्योऽपि जन्मकालिका एव, ततस्तात्कालिकार्काद्या जन्मसत्कार्कमन्दादिभ्यश्चैत्रवद्व्याद्यीनामन्यतर-स्थाने स्युस्तदा शुभाः । ते सर्वेऽपि रेखां ददतीति परिभाषा । ततश्च यावद्भ्यो लग्नग्रहेभ्य उक्तान्यतरस्थाने तात्कालिका अर्काद्याः प्राप्यन्ते तावत्यो रेखा देयाः, यावद्भ्यश्च न प्राप्यन्ते तावन्ति शून्यानि देयानि, एवमेकैकग्रहस्याष्टाष्ट रेखाः संभवेयुः, तासां मध्ये यदि चतस्रो हीना अधिका वा रेखाः स्युस्तदा मध्या अधमाः श्रेष्ठाश्च क्रमात् । एवं च यस्य ग्रहस्य रेखाबाहुल्यं स गोचरेणाशुभोऽपि शुभः, शून्यबाहुल्ये तु गोचरेण शुभोऽप्य-शुभः । केऽप्याहुः-कार्यकालेऽष्टकवर्गरेखा न मील्यन्ते, किंतु यदा तदा वा जन्मकुंडलिकामेव सम्यक् संस्थाप्य, आद्यकुंडलिकायां यत्र स्थानेऽर्कोऽस्ति,

तस्मान्नवमादिष्वष्टस्थानेष्वष्टौ रेखा देयाः । एवं मन्दभौमाभ्यामपि प्रत्येकमष्टाष्ट, गुरुतश्चतस्रः,शुक्रात्तिस्रः, बुधात्सप्त, लग्नात् षट्, एवं तस्यामर्काष्टवर्गकुंडलिकायां सर्वरेखा रवेरष्टचत्वारिंशत् । एवमेव द्वितीयादिषु चन्द्राद्यष्टवर्गकुंडलिकासु क्रमात् सर्वरेखाः, एवञ्चन्द्रस्यैकोनपञ्चाशत्, भौमस्य चत्वारिंशत्, बुधस्याष्टपञ्चाशत्, गुरोः षट्पञ्चाशत्, शुक्रस्य द्वापञ्चाशत्, शनेरेकोनचत्वारिंशच्चेति । उक्तञ्च—

" वसुवेदौ १ नन्दवेदौ २ खवेदौ ३ वसुसायकौ ४ । षड्बाणौ ५ द्विशरौ ६ नन्दवह्नी ७ रेखा इनादिजाः " ॥ १ ॥

एवं चैकैकग्रहाष्टवर्गकुंडलिकायां द्वादशस्वपि राशिस्थानेषु प्रत्येकं यावत्संभवं रेखा देयाः, शेषाणि शून्यानि च । उत्कर्षतश्चैवमेकत्र स्थाने यथायोगमष्टौ रेखाः संभवेयुः । ततः कार्यकाले यो ग्रहो यत्र राशौ स्यात्तत्स्थानं वीक्ष्यते, तत्र स्थाने रेखाधिक्ये संग्रहः शस्तः, शून्याधिक्ये त्वशुभ इति द्विधाऽपि चैकमेव तत्त्वं । अथासामुपयोग एवं—

" चतूरेखे मध्यफलं हीने हीनं ततोऽधिके श्रेष्ठम् । विफलं गोचरगणितं त्वष्टकवर्गेण निर्दिष्टम् " ॥ १ ॥

एकग्रहमाश्रित्येदमुक्तं । तात्कालिकीनां सर्वग्रहरेखाणां मीलने तु, षोडशमध्ये कदापि न स्यात्, सप्तदशाद्य आरभ्योत्कृष्टाः षट्पञ्चाशतं यावत्तु स्युः । तत्र षड्विंशतिं यावदशुभा एव, सप्तविंशत्या समता, अष्टाविंशत्यादयस्तु षट्पञ्चाशतं यावद्यथाबहुत्वं शुभशुभतरशुभतमाः ।

" रेखाधिक्यं शस्तं शून्याधिक्यं तथाऽधमं कथितम् । एतत्संयोगे स्युः षट्पञ्चाशन्न जातु अधिकास्ताः " ॥ १ ॥

अत्र षट्पञ्चाशदिति रव्यादिसप्तकस्य प्रत्येकमष्टाष्टरेखासंभवे षट्पञ्चाशदेव तासां मेलनादिति भावः । विशेषस्तु—" चतूरेखं मध्यफलं " इति यद्यप्युक्तं, तथापि यस्य ग्रहस्याष्टकवर्गशुद्धिस्तदानीं विलोक्यमानाऽस्ति, तस्य शुद्धिपतेर्ग्रहस्य स्वतः समुत्था रेखा यदि संपद्यते तदा चतूरेखमपि श्रेष्ठं, तदभावे षड्विधादिबलालङ्कृतस्य तन्मित्रग्रहस्य स्वतः समुत्था रेखा यदि संपद्यते तदापि चतूरेखं प्रशस्तं । तस्या अप्यभावे स एव शुद्धिपतिर्ग्रहो यदि बलवत्त्वेन शुभः स्यात्तदाऽपि चतूरेखं शुभं । प्रकारत्रयस्याप्यभावे त्वधिकरेखोऽपि ग्रहो न शुभ इति व्यवहारप्रकाशे । तथा षट्पञ्चाशदिति रेखासर्वाग्रं यदुक्तं, तद्राहोः सर्वथा रेखा न सन्तीति मतेन । केचित्तु राहोरपि रेखाः प्राहुः । तथाहि—

"केन्द्राष्टद्वित्रिगः १-४-७-१०-८-२-३ सूर्याद्राहु रेखाप्रदः स्मृतः । चन्द्रोऽस्तसुखधीलग्नषष्ठ धर्मकर्मव्ययेषु १-३-५-७-८-९-१०-१२ स्थितः ॥१॥

भौभात्तनुत्रिधीरिष्णं १-३-५--१२ स्वाम्बुस्त्र्यष्टान्तिमे २-४-७-८-१२ बुधात् ।
जीवात्सप्रथमे २-४-७-८-१२-१ शुक्राद्रिद्यूनायरिष्पगः ६-७-११-१२ ॥ २ ॥
शनेस्त्रिधीवधूलाभे ३-५-७-११ लग्नाद्राहुस्तु शोभनः । त्रिपञ्चसप्तनवमान्त्येषु ३-५-७-९-१२ रेखाऽस्य न स्वतः ॥ ३ ॥
त्रिचत्वारिंशदेवं स्यू रेखा राह्वष्टवर्गगाः । " अथ कस्मिन् कार्ये को ग्रहः सबलोऽन्वेष्यत इत्याह—

सर्वत्रेन्दुः कुजः संख्ये बोधे ज्ञः स्थापने गुरुः । याने शुक्रः शनिर्मौण्ड्ये बली भानुर्नृपेक्षणे ॥ ६६ ॥

व्याख्या—सर्वकार्येषु कार्यकर्तुश्चन्द्रो गोचरादिबली विलोक्यत इति शेषः । यदुक्तं—

" एग १ चउ २ अट्ठ ३ सोलस ४ बत्तीसा ५ सट्ठि ६ सयगुण ७ फलाइं ।
तिहि १ रिक्ख २ वार ३ करण ४ जोगो ५ तारा ६ ससंकबलं ७ " ॥ १ ॥ अत एवोक्तं—

" कर्तुरनुकूलयोगिनि शुभेक्षिते शशिनि वर्धमाने च । तारायोगेऽभीष्टे सर्वेऽर्थाः सिद्धिमुपयान्ति " ॥ १ ॥ तत्र चायं विभागः—

" ग्रामे नृपतिसेवायां संग्रामव्यवहारयोः । चतुर्षु नामभं योज्यं शेषं जन्मनि योजयेत् " ॥ १ ॥

इदं नरपतिजयचर्यायां । तात्कालिकलग्नेऽपि च सर्वकार्येषु चन्द्रबलं नियमेन प्रकल्पयेत् । यत्सारंगः—

" लग्नं देहः षट्कवर्गोऽङ्गकानि, प्राणश्चन्द्रो धातवः खेचरेन्द्राः । प्राणे नष्टे देहधात्वङ्गनाशो, यत्नेनातश्चन्द्रवीर्यं प्रकल्प्यम् " ॥ १ ॥

संख्यं युद्धं । बोधो विद्या । स्थापनं पदप्रतिष्ठाविवाहादि । यानं प्रस्थानं । मौण्ड्यं दीक्षा । नृपेक्षणे इति यो यस्य स्वामी स तस्य नृपः तस्य दर्शने । अयं भावः—यदैतानि कार्याणि लग्नबलात् क्रियन्ते तदैषां ग्रहाणामुदितत्वेन वा लग्नस्थत्वेन वा लग्नाधिकृतषड्वर्गाधिपत्वेन वा केन्द्रोपचयस्थत्वेन वा षड्विधादिबलालङ्कृतत्वेन वा सबलत्वं लग्ने कार्यं, कार्यकर्तुश्चैषां गोचरबलं ग्राह्यं । यदा तु मुहूर्त्तमात्रबलात् क्रियन्ते तदैषां गोचरबलं वारहोरादि च ग्राह्यम् ॥ अथ राशावागतः को ग्रहः कदा फलद इत्याह—

ज्ञोऽखिले फलदो राशावादावादित्यमंगलौ । मध्ये सुरासुराचार्यौ प्रान्ते त्विन्दुशनैश्चरौ ॥ ६७ ॥

व्याख्या—फलद इति शुभगोचरस्थः शुभं फलं दत्ते, अशुभगोचरस्त्वशुभमिति भावः । राशाविति यस्तेन स्वयमाक्रान्तोऽस्ति तस्मिन् । आदाविति आद्यद्रेष्काणे । मध्ये इति द्वितीयद्रेष्काणे । प्रान्ते इति तृतीयद्रेष्काणे । इदं च मध्जगतौ वर्तमानानां ग्रहाणामुक्तं । यदा तु वक्रेणातिचारेण वा ग्रहा राश्यन्तरं गताः स्युस्तदैवम्—

" पक्षं १ दशाहं २ मासं ३ च दशाहं ४ मासपञ्चकम् ५ । वक्रेऽतिचारे भौमाद्याः पूर्वराशिफलप्रदाः ॥ १ ॥ " इति लल्लः ।

अत्र पूर्वराशीति वक्रे सत्यग्रेतनराशेः अतिचरितास्तु पाश्चात्यराशेः फलं ददतीत्यर्थः । प्रश्नप्रकाशकरस्त्वाह—

" वक्रेऽतिचारे भौमाद्याः पूर्वराशिफलप्रदाः । जीवः शनिश्च यत्रस्थौ तस्य राशेः फलप्रदौ ॥ १ ॥ " विशेषस्तु—

" राश्यन्तगतः खेटः परभावफलं ददाति पृच्छासु । अन्त्यघटीं यावदसावासीनफलं विवाहादौ ॥ १ ॥ "

अत्र राश्यन्तोऽन्त्यत्रिंशांशरूपः ॥ विरुद्धे ग्रहगोचरे पुंसा विशिष्य सत्कर्मनिरतेन भाव्यं, सुदूरयात्राहयवाहनविकालचर्यासाहसादि च त्याज्यं, सदापि चैवं न निर्वहतीत्यत- स्तच्छान्तिकमाह—

अर्कारयो १ र्ज्ञस्य २ गुरोः ३ सितेन्द्वो ४ र्मन्दस्य ५ राहूरगयो ६ श्च तुष्ट्यै ।
सदा वहेद्विद्रुम १ हेम २ मुक्ता ३ रूप्याणि ४ लोहं ५ च विराटजं ६ च ॥ ६८ ॥

व्याख्या—विद्रुमादीनां षण्णां पूर्वार्धस्थैरर्कारयोरित्यादिपदैर्यथासंख्यं योगः । उरगः केतुः । विराटजो राजावर्तमणिः । ननु सप्तानां ग्रहाणां सर्वदा विचार्यं गोचरफलमुक्तं, दिनमासवर्षहोराधिपत्यमप्येषामेव, तत्कथं राहुकेत्वोर्ग्रहत्वं, कथं वा तयोः प्रतिकूलगोचरत्वं, यच्छान्त्यर्थं विराटजादिवहनं क्रियते ? उच्यते—तयोर्दिनाधिपत्याद्यभावोऽस्तु, ग्रहत्वं त्वस्त्येव, राश्यादिचारस्यान्यथाऽनुपपत्तेः । राहुगोचरश्च ग्रहणदिने विचार्यः इत्युक्तं, ततस्तदा तत्प्रतिकूलत्वे तच्छान्तिकमुपयुज्यते । केतुरपि यदोदितः स्यात्तदा तदुत्थारिष्टशान्तये तच्छान्तिकस्योपयोगः ॥ तथा—

पूषादितोषाय च पद्मराग १ मुक्ता २ प्रवालानि ३ सगारुडानि ४ ।

सपुष्परागं ५ कुलिशं ६ च नील ७ गोमेद ८ वैडूर्य ९ मणीन् वहेत ॥ ६९ ॥

व्याख्या—स्पष्टा ॥ तदर्थमेव स्नानान्याह—

एलाशिलापद्मकयष्टयुशीरसुराह्वकश्मीरजशोणपुष्पैः ।
अर्के विधौ कैरवपञ्चगव्यैः, सशंखशुक्तिस्फटिकेभदानैः ॥ ७० ॥

व्याख्या—शिला मनःशिला । यष्टिर्यष्टीमधुराह्वो देवदारुः । शोणेति रक्तकणवीरपुष्पैरिति । स्नायादितिपदेन त्रिसप्ततितमवृत्तस्थेन सह योजनीयमिदं । भावश्चायं—एतानि जलमध्ये प्रक्षिप्य मंत्रपूर्वं स्नानं कार्यं रविवारे । एवमग्रेऽपि तत्तद्ग्रहस्य वारोऽनुक्तोऽप्यूह्यः । पञ्चगव्यं चैवं पराशरोक्तम्—
" कृष्णाया गोमयं मूत्रं नीलायाः कपिलाघृतम् । सुरमेर्दधि शुक्लायास्ताम्रायाः क्षीरमाहरेत् " ॥ १ ॥इभानां दानः मदवारि ॥

भौमे बलाहिंगुलबिल्वकेसरैर्मांस्या फलिन्याऽरुणपुष्पचन्दनैः ।
सुवर्णमुक्तामधुगोमयाक्षतैः, सरोचनामूलफलैर्बुधे पुनः ॥ ७१ ॥

व्याख्या—बलेति बलधान्यं । बिल्वेति बिल्वफलं । केसरो बकुलद्रुः । मांसी मुरमांसिनाम्नी । फलिनी प्रियंगुः । अरुणपुष्पं । जपाकुसुमं । चन्दनं रक्तचन्दनं । मूलफलैरिति नारंगस्येति वसिष्ठः ॥

जीवे सजातिकुसुमैः सितसर्षपयष्टिमल्लिकापत्रैः । मूलफलकुंकुमैलामनःशिलाभिस्तु दैत्यगुरौ ॥ ७२ ॥

व्याख्या—मल्लिकेति विचकिलपत्रैः । मूलफलेति बीजपूर्या इति वसिष्ठः ॥

कृष्णतिलाञ्जनलाजैः शतपुष्पीरोध्रमुस्तकबलाभिः । तरणितनये च गोचरविरुद्धराशिस्थिते स्नायात् ॥ ७३ ॥

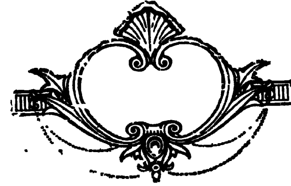
व्याख्या—अञ्जनं सौवीराञ्जनं । लाजा व्रीहिधानाः । शतपुष्पीति सोआ नाम । भास्करस्त्विदमप्याह—

"रोध्रगर्भतिलपत्रकमुस्ताहस्तिदानमृगनाभिपयोभिः । स्नानमेतदपरोधति राहोः, साजमूत्रमिदमेव च केतोः" ॥ १ ॥ पीडामिति शेषः ॥
" सप्रियंगुरजनीद्वयमांसीकुष्ठलाजसितसर्षपचन्द्रैः । वारिभिः सह वचैः सह रौध्रैः, स्नानमत्ति निखिलग्रहपीडाम् " ॥ २ ॥
स्नानं च नृपादीनामेवोचितं । अन्यो जनस्तु—
"रत्तं १ सेयं २ रत्तं ३ नीलं ४ पीअं ५ सिअं ६ तिसु अ किन्हं ९ । पूअं बलिं च कुज्जा सूराईणं विरुद्धाणं" ॥१॥ इति हर्षप्रकाशे ॥

॥ इति गोचरद्वारम् ॥ ६

॥ इति श्रीमति आरंभसिद्धिवार्तिके राशि १ गोचर २ परीक्षात्मको द्वितीयो विमर्शः संपूर्णः ॥ २

श्रीसुरीश्वरसोमसुन्दरगुरोर्निःशेषशिष्याग्रणी गच्छेन्द्रः प्रभुरत्नशेखरगुरुर्देदीप्यते साम्प्रतम् ।
तच्छिष्याश्रवहेमहंसरचितस्यारंभसिद्धेःसुधी-शृङ्गाराभिधवार्तिकस्य किल हक् २ संख्यो विमर्शोऽभवत् ॥ १ ॥



॥ तृतीयो विमर्शः ॥ ३

॥ अथ कार्यद्वारम् ॥ ७

अथ कार्यद्वारमाह—

कार्यं वितारेन्दुबलेऽपि पुष्ये, दीक्षां विवाहं च विना विदध्यात् ।
पुष्यः परेषां हि बलं हिनस्ति, बलं तु पुष्यस्य न हन्युरन्ये ॥ १ ॥

व्याख्या—कार्यं प्रस्तावात्सौम्यं । वितारेन्दुबलेऽपीति गोचरेणाष्टकवर्गेण वा विरुद्धे चन्द्रे, जन्मप्रत्यरानैधनादितारासु चेत्यर्थः । सतारेन्दुबले तु विशेष्येति भावः । अपिशब्दात् पुष्यः, पञ्चरेखे सप्तरेखे वा चक्रे दुष्टग्रहेण विद्धो यदि स्यात्, पापग्रहेणाक्रान्तो वा भुक्तो वा भोग्यो वा, पश्चिमायां दक्षिणस्यां वा गमनेऽन्तरा परिघदंडपातेन तद्दिग्विपरीतो वा तथापि, पुष्ये चन्द्रयुक्ते सति पुष्यस्योदयसमये, पुष्यसत्के मुहूर्ते वा, प्रतिष्ठायात्राक्षौरान्नप्राशनोपनयनविद्यारंभश्वेतवस्त्रपरिधानादि सर्वं शुभकार्यं कुर्यादिति रत्नमालाभाष्ये । दीक्षां च विवाहं च विनेति उपलक्षणत्वात्कन्यावरणाद्यपि पुष्ये न कार्यं । पुरा किल प्रजापतिः पुष्यनक्षत्रे प्रेयसीमुदूढवान्, नक्षत्राशुभावादतीव कामार्त्या पीडितस्तां सोढुमशक्नुवन् "आः पापाऽतः परं विवाहकार्येष्वनधिकारी भूया" इति पुष्यं शप्तवान् इति श्रुतिः । उक्तञ्च विवाहवृन्दावने—"पुष्यः स पुष्यत्यतिकाममेव, प्रजापतेः प्राप स शापमस्मात् " कामपोषकत्वादेव दीक्षायामप्यनधिकारी पुष्य इत्युक्तं । परेषामिति कुतिथिकुवारकुयोगादीनां । अन्ये इति वारतिथ्यादयः । ते किल यथा पुष्यस्य बलं न हन्युस्तथा ग्रहवेधपापयुक्तत्वादिरूपं पुष्यस्य दोषमपि न हन्युः । पुष्यस्तु स्वबलेन स्वदोषं हन्तीति भावः । अत एवाहुः—

" सिंहो यथा सर्वचतुष्पदानां तथैव पुष्यो बलवानुडूनाम् " ॥ अथ कार्येषु नक्षत्राणां भेदमाह—

अधोमुखानि पूर्वाः स्युर्मूलाश्लेषामघास्तथा । भरणीकृत्तिकाराधाः सिद्ध्यै खातादिकर्मणाम् ॥ २ ॥

व्याख्या — आदिपदाद्वापीकूपतटाकपरिखादिखननिधानोद्धारक्षेपद्यूतबिवरप्रवेशधातुकर्मनृपविग्रहगणितारंभादीनि ॥

तिर्यङ्मुखानि चादित्यं मैत्रं ज्येष्ठा करत्रयम् । अश्विनीचान्द्रपौष्णानि कृषियात्रादिसिद्धये ॥ ३ ॥

व्याख्या — आदेरश्वगजगवादितिर्यग्दमनवाणिज्यनृपसन्धिप्रवहणनौकर्मशकटरथयंत्रप्रवाहादीनि ॥

ऊर्ध्वास्यान्युत्तराः पुष्यो रोहिणी श्रवणत्रयम् । आर्द्रा च स्युर्ध्वजच्छत्राभिषेकतरुकर्मसु ॥ ४ ॥

व्याख्या — कर्मस्विति बहुवचनाद् दुर्गप्राकारतोरणोच्छ्रयारामविधिपट्टाभिषेकादिष्वपि ॥ सामान्येन कार्यमुक्त्वाऽथ स्वस्वस्थाने नामप्रकाशनपूर्वमुपयोगिनः कियतोऽपि कार्यविशेषानाह —

ऋत्वाद्ययुग्चतुष्टयवर्जी विषमासु रात्रिषु न योषाम् । सेवेत पुत्रकामः पौष्णमघामूलभेष्वपि च ॥ ५ ॥

व्याख्या — वर्जीति । उक्तञ्च विवेकविलासे —

" निशाः षोडश नारीणामृतुः स्यात्तासु चादिमाः । तिस्रः सर्वैरपि त्याज्याः प्रोक्ता तुर्यापि केनचित् ॥ १ ॥ " यतः —

" चतुर्थ्यां जायते पुत्रः स्वल्पायुर्गुणवर्जितः । विद्याचारपरिभ्रष्टो दरिद्रः क्लेशभाजनम् ॥ २ ॥ " विषमास्विति । यतः —

" समायां निशि पुत्रः स्याद्विषमायां च पुत्रिका । "

न योषामिति निषेधमुखेनोक्तिर्वचनयुक्तिलापनार्थं । एवमग्रेऽपि निषेधमुखोक्ती विचार्य पौष्णेति, उक्तञ्च —

" गर्भाधाने मघा वर्ज्या रेवत्यपि यतोऽनयोः । पुत्रजन्मदिने मूलाश्लेषे स्तस्ते च दुःखदे ॥ १ ॥ "

अत्र मूलाश्लेषे स्त इति " आधानाद्दशमे जन्मेति " वचनात् ।

" रत्नानीव प्रशस्तेऽह्नि जाताः स्युः सूनवः शुभाः । अतो मूलमपि त्याज्यं गर्भाधाने शुभार्थिभिः ॥ २ ॥ "

सीमन्तः स्यान्नृवारेषु मासि षष्ठेऽष्टमेऽपि वा। हस्तमूलमृगादित्यपुष्यश्रुतिषु योषिताम् ॥ ६ ॥

व्याख्या—नृवारा रविकुजजीवाः। हस्तेत्यादि त्रिविक्रमेण तु पुंनक्षत्रेष्वित्युक्तं, तत्राप्येतान्येव भानि संगृहीतानि, एषामेव पुंस्त्वात्, शेषाणां तु स्त्रीत्वात्। विशेषस्तु—

"अर्वाग्विवाहकालाच्च पितृचन्द्रबलं सदा। स्त्रीणां सीमन्त उद्वाहे ग्राह्यमन्यत्र तत्पतेः ॥ १ ॥" इति व्यवहारप्रकाशे ॥

विषकौमारजन्म स्याद् द्वितीयाशनिसार्पभैः। सप्तम्यारशतक्षैश्च द्वादश्यर्काग्निभैस्तथा ॥ ७ ॥

व्याख्या—एभिर्यथोक्ततिथिवारभयोगैर्जातं विषापत्यं स्यात्।

"विषकन्याख्या प्रथमं पित्रोर्वंशक्षयंकरी। हन्ति पश्चात् पतिं श्वश्रूं श्वशुरं देवरं तथा ॥ १ ॥"

विशेषस्तु—अभिजिति कृतं सर्वं कार्यं शुभं स्यात्, जातमपत्यं तु प्रायो न जीवतीति व्यवहारप्रकाशे ॥ मूलजाताश्रित्याह—

मूलस्यांह्रिचतुष्के पितृ १ मातृ २ द्रव्यनाश ३ सौख्यानि।
बालस्य जन्मनि स्युः क्रमतः सार्पस्य तूत्क्रमतः ॥ ८ ॥

व्याख्या—सौख्यानीति, वराहस्तु मूलतुर्यपादफलमेवमाह—

"क्षेत्राधिपसंदृष्टे शशिनि नृपस्तत्सुहृद्भिरर्थपतिः। द्रेष्काणांशकपैर्वा प्रायः सौम्यैः शुभं नान्यैः" ॥ १ ॥

इदं तात्कालिकजन्मलग्ने विचार्यं। अत्र क्षेत्राधिपेति तदानीं यत्र राशौ चन्द्रोऽस्ति, तद्राशीशो यदीन्दुं पश्येत्तदा मूलतुर्यपादजो नृपः स्यात्, तद्राशीशस्य सुहृदः पश्येयुस्तदाऽर्थपतिः स्यात्; चन्द्राक्रान्तस्य द्रेष्काणस्य नवांशस्य वा स्वामी यदि सौम्यश्चन्द्रं पश्येत्तदा शुभं क्रूरेण त्वशुभमिति। बालस्येति, केऽप्याहुः—

"मूलस्यांह्रिचतुष्के क्रमेण पशुनाशिनी १ सुखकरी २ च। पितृपक्षमथ क्षपयति ३ मातुलपक्षं च ४ जाता स्त्री ॥ १ ॥

मूले जातोऽधमः स्यान्ना, स्त्री तु पुण्यवती भवेत् । ज्येष्ठा मघा विपरीताऽश्लेषा तदुभयेऽधमा ॥ २ ॥

तृतीया दशमी कृष्णा शनिभौमज्ञसंयुता । शुक्लचतुर्दशीमूलजातः संहरते कुलम्" ॥ ३ ॥ सार्पस्य तूत्क्रमत इति । यदुक्तम्—

"सार्पांशे प्रथमे राजा, द्वितीयांशे धनक्षयः । तृतीये जननीं हन्ति चतुर्थे पितृघातकः" ॥ १ ॥ मूलपुरुषमाह—

मूर्धा ५ स्य ५ स्कन्ध ८ बाहा ८ कर २ हृदय ८ कटी २ गुह्य १० जानु ६ क्रमेषु ६,

स्युर्घट्यः पञ्च पञ्चोरगकरटिकराष्टद्विदिक्तर्कतर्काः ।

बालश्छत्री १ पितृघ्नो २ ऽसलहृढबलवान् ३ राक्षसो ४ ब्रह्मघाती ५,

राजा ६ नाशी ७ स्वसौख्यावह ८ इह चपलो ९ नश्वर १० श्चासु जातः ॥ ९ ॥

व्याख्या—स्कन्धेति द्वयोः स्कन्धयोः प्रत्येकं चतस्रश्चतस्र इति घट्यष्टकं द्वैधीकृत्य स्थाप्यं, एवं करजानुपादेष्वपि । अन्यत्रापि यथायोगमूह्यं । अंसलहढबलवानित्यखंडं । आसु मूर्धादिन्यस्तपञ्चादिघटीषु । केऽप्याहुः—

मस्तके	५	राजा	मूल–पुरुष	हृदये	८	राज्यधरः
मुखे	५	पितृहन्ता		कट्यां	२	अल्पायुः
स्कन्धयोः	८	स्कन्धिबलः		गुह्ये	१०	सुखी
बाह्वोः	८	दैत्यः	स्थापना	जान्वोः	६	चपलः
हस्तयोः	२	ब्रह्मघ्नः		पादयोः	६	अल्पायुः

"ब्रह्महत्याकरः पाणौ यद्वा मातुलघातकः ।
गुह्यजातो धनं हन्याद् वृद्धत्वे च सुखी भवेत् ॥ १ ॥
न जीवेद्वामजंघायां पान्थो वा जायते नरः ।
दक्षिणस्यां तु जंघायां जातकः स्यान्महाधनी ॥ २ ॥
कृच्छ्राज्जीवति वामेऽङ्घ्रौ दक्षिणे धनपुण्यवान् ।" इति, अन्ये मूलं वृक्षरूपमेवमाहुः—

"मूल १ स्तम्ब २ च्छलि ३ शाखा ४ दल ५ कुसुम ६ फले ७ स्युः शिखायां ८ च घट्यो,

मूलद्रोर्वाधि ४ सप्ता ७ ष्टक ८ दशाक १० नवे ९ ष्व ५ ऋ ६ रुम ११ प्रमाणाः ।
मूला १ र्थं २ भ्रातृ ३ मातॄन् ४ क्षपयति पतति ५ प्रौढमंत्री ६ नृपश्च ७,
स्यादेनासु प्रसूतः श्रयति कृशतरं चायुरेतच्छिखायाम् ८ ॥ १ ॥

मूलवृक्षस्थापना—

मूले	४	मूलपातः
स्थुडे	७	अर्थहानिः
त्वचि	८	भ्रातृनाशः
शाखायां	१०	मातृनाशः
पत्रे	९	म्रियते
पुष्पे	५	मंत्री स्यात्
फले	६	राज्याप्तिः
शिखायां	११	स्वल्पायुः

केचिच्छिखायां परमायुराहुः । शास्त्रान्तरे तु मूलनराद्विपरीतोऽश्लेषानरोऽप्येवमूचे, तथाहि—

"अश्लेषार्घटिकाषष्टिरेवं स्थाप्या नराकृतिः । आदौ पादद्वये पञ्च जान्वोः पञ्च गुदेऽष्ट च ॥ १ ॥
नाभावष्टौ हृदि द्वौ च पाण्योरष्टौ द्वयं भुजे । स्कन्धयोर्दशकं वक्त्रे षट् शीर्षे षडितिक्रमात् ॥ २ ॥
मृति १ र्भ्रमः २ सुखं ३ व्याधी ४ राज्यं ५ हत्या ६ च दैत्यता ७ ।
स्कन्धिलः ८ पितृहा ९ नेता १० फलं ज्ञेयं यथाक्रमम् ॥ ३ ॥

एवमेव मूलवृक्षाद्विपरीतोऽश्लेषावृक्षोऽपि शास्त्रान्तरोक्तोऽभ्यूह्यः । नवरं घटीक्रमस्तत्रापि मूलवृक्षवदेव ।

पादयोः	५	मरणं	अश्लेषानर-	हस्तयोः	८	हत्याकृत्
जान्वोः	५	भ्रमणं		बाह्वोः	२	दैत्य
गुदे	८	सुखं		स्कन्धयोः	१०	स्कंधिल
नाभौ	८	व्याधिः	स्थापना	मुखे	६	पितृघ्नः
हृदये	२	राज्यं		मस्तके	६	राजा

शिखायां	४	स्वल्पायुः	अश्लेषावृक्ष	शाखायां	९	मातृनाशः
फले	७	राज्याप्तिः		त्वचि	५	भ्रातृनाशः
पुष्पे	८	मंत्री स्यात्	स्थापना	स्थुडे	६	अर्थहानिः
पत्रे	१०	मृत्युः		मूले	१०	मूलनाशः

विवेकविलासादौ तु मूलाश्लेषयोर्मुहूर्तैः फलमूचे, तथाहि—

"आद्यः षष्ठस्त्रयोविंशो द्वितीयो नवमोऽष्टमः । अष्टादशश्च मूलस्य मुहूर्ता दुःखदा जनौ ॥ १ ॥

त्रयोविंशपञ्चविंशौ द्वाविंशोऽष्टत्रयोदशौ । एकोनत्रिंशत्त्रिंशौ च सार्पे स्युरशुभाः क्षणाः ॥ २ ॥"

कुत इदमेवमिति चेदुच्यते—एषां मुहूर्त्तानां क्रूरस्वामिकत्वोक्तेः, तथाहि—

" राक्षसो१ यातुधानश्च२ सोमः३ शक्रः४ फणीश्वरः५ । पितृ६ मातृ७ यमाः८ कालो९ वैश्वदेवो१० महेश्वरः११ ॥ १ ॥
साध्यदेवः१२ कुबेरश्च१३ शुक्रो१४ मेघो१५ दिवाकरः१६ । गन्धर्वो१७ यमदेवश्च१८ ब्रह्मविष्णुमयस्ततः१९ ॥ २ ॥
ईश्वरो२० विष्णु२१ रिन्द्राणो२२ पवनो२३ मुनय२४ स्तथा । षण्मुखो२५ भृंगिरीटा२६ च गौरो२७ मातृ२८ सरस्वती२९ ॥३॥
प्रजापतिश्च३० मूलस्य त्रिंशन्मुहूर्त्तनायकाः । विपरीताः पुनर्ज्ञेया अश्लेषाजातबालके ॥ ४ ॥

त्यजेन्न वीक्षेत समाष्टकं वा, बालं पिता मूलविकारशान्त्यै ।
शतौषधीमूलमृदम्बुरत्नैः, स्नायाच्च हुत्वा सशिशुप्रसूकः ॥ १० ॥

व्याख्या—त्यजेदिति स्वगृहादिति शेषः । समा वर्षाणि । शतौषधीति मूलशतमृत्तिकासप्तकयुततीर्थोदकपञ्चरत्नैः साहचर्यात् पञ्चगव्यदन्तिमद-सबीजकषायपञ्चकसर्वौषधियुतैः सौवर्णमूलनक्षत्रेण राक्षसरूपेण सह शतच्छिद्रकुम्भमध्यक्षिप्तैस्तज्ज्ञोक्तविधिना हवनपूर्वं । सशिशुप्रसूक इति मूलजातशिशुना तज्जनन्या च सह स्नायात् । अश्लेषाजातेऽप्येवमेव, नवरं तत्र सौवर्णसर्परूपेण महेति ज्ञेयं । एतच्च मूलाश्लेषाविधानं सविस्तरं गृहस्थधर्मसमुच्चयादि-ग्रन्थेषूक्तमपि बहुसावद्यत्वान्नेह प्रतन्यते । बहुसावद्यारंभपातकभीरुणा तु मूलाश्लेषाजाते बालके सति, सर्वनक्षत्रभोक्तृनवग्रहसततसेव्यमानपादपीठस्य श्रीमदर्हतो विशिष्य च, मूलनक्षत्रजातस्य श्रीसुविधिजिनस्याष्टोत्तरशतीयविधिना शास्त्रोक्तेन ममहोत्सवं स्नात्रं कार्यं । एवमपि सकलक्षुद्रोपद्रवोपशमस्य सर्वत्र साक्षाद्दर्शनात् । अत्र केऽप्याहुः—

"विष्कंभादिकुयोगेषु कुलिके सत्रिपुष्करे । संक्रान्तौ दुर्दिने विघ्नौ मूलाश्लेषाजबालके ॥१॥ गणकैर्नैव कर्तव्यं पौष्टिकं मूलसार्पयोः" इति॥

जन्मादौ नक्षत्रभेदानाह—

कुलभान्यश्विनी पुष्यो मघा मूलोत्तरात्रयम् । द्विदैवत मृगश्चित्राकृत्तिकावासवानि च ॥ ११ ॥

उपकुल्यानि भरणी ब्राह्मं पूर्वात्रयं करः। ऐन्द्रमादित्यमश्लेषा वायव्यं पौष्णवैष्णवे ॥ १२ ॥

व्याख्या—वैष्णवं श्रवणम् ॥

पूर्वेषु जाता दातारः संग्रामे स्थायिनां जयः। अन्येषु त्वन्यसेवाता यायिनां च सदा जयः ॥ १३ ॥

व्याख्या—स्थायिनामिति एषु भेषु यदि युद्धं स्यात्तदा स्वस्थानस्य राज्ञो जयः स्यात्, चाटित्वाऽऽयातस्य तु राज्ञः पराजयः स्यात्। अन्येषूपकुल्येषु जाता अन्यसेवकाः स्युः, युद्धे च यायिनां जयः, नागराणां पराजयः, येन प्रथमं यात्रोद्यमः कृतः स यायी, येन पश्चात् स नागरः ॥

कुलोपकुलभान्यार्द्राऽभिजिन्मैत्राणि वारुणम्। फलन्त्येतानि पूर्वोक्तद्वयसाधारणं फलम् ॥ १४ ॥

व्याख्या—साधारणमिति, जाता दातारोऽपि स्युरन्यसेवकाश्च, युद्धे च सन्धिः स्यात्। उक्तं च—"कुलोपकुलभे सन्धिरिति" ॥

वाराणां कुल्यादित्वमाह—

गुर्वर्कार्कीन्दवः कुल्या उपकुल्याः कुजः सितः। तमश्चाथ बुधो मिश्रस्तत्र नक्षत्रवत्फलम् ॥ १५ ॥

व्याख्या—तमो राहुः। अयं वारत्वाभावेऽपि ग्रहप्रसङ्गादुक्तः। मिश्रः कुलोपकुलः। केचित्तिथिवारवेलाराशियोगेन कुल्यत्वमाहुः, तथाहि—

"सूर्योदये कुजस्याह्नि नन्दा वृश्चिकमेषयोः १। कुलीरयुग्मकन्यानां भद्रायामे बुधाहनि२ ॥ १ ॥"

अत्र यामे इति प्रहरदिनघटनसमये इत्यर्थः।

"चापसिंहघटानां च मध्याह्ने वाक्पतौ जया३। वणिग्वृषभयो रिक्ता त्रियामान्ते भृगोर्दिने४ ॥ २ ॥"

त्रियामान्ते इति तृतीयप्रहरप्रान्ते।

"सूर्यास्ते शनिवारे तु पूर्णा स्यान्नक्रमीनयोः ५। कुलजास्तिथयो वारे वेलायां राशिषु क्रमात् ॥ ३ ॥"

एभिर्योगैर्जाताः कुल्यास्तत एव चोत्तमाः स्युरित्याशयः ॥ रविनरमाह—

मूर्धा ३ स्यां ३ स २ भुजा २ करो २ र ५ उदरा १ धोभाग १ जानु २ क्रमे ६-
ष्वग्नित्रिद्वियमद्विपञ्चकुकुद्दक्तर्केषु भेष्वर्कभात्।
भूपः १ स्वादुशनो २ ऽमलो ३ ऽधिकबल ४ श्चौरो ५ धनी ६ शीलवान् ७,
जारः ८ स्यात्पथिकश्च ९ भिक्षु १० रपि चोत्पन्नः क्रमाद् बालकः ॥ १६ ॥

व्याख्या—अर्कभादित्यर्काक्रान्तभं रविनरस्य मूर्धिन दत्वा, क्रमाज्जातकस्य जन्मभं यावद् गण्यं।
बाहुद्वये स्थानभ्रष्टः स्यादित्यपि क्वचित्। विशेषस्तु—

मस्तके	३	राजा	रविनर-	हृदये	५	धनवान्
मुखे	३	मिष्टाशी		नाभौ	१	सुशीलः
स्कन्धयोः	२	स्कन्धिवलः		गुह्ये	१	परदाररतः
बाह्वोः	२	बलवान्	स्थापना	जान्वोः	२	विदेशगमनः
हस्तयोः	२	चौर्यरतः		पादयोः	६	भिक्षाचरः

" शतं मूर्ध्नि मुखे स्कन्धे चाशीतिर्भुजहस्तयोः।
सप्तसप्ततिवर्षाणि हृन्नाभ्योरष्टषष्टिका ॥ १ ॥
गुह्ये षष्टिस्तथा जान्वोरष्ट षट् पादयोस्तथा।
रविचक्रे क्रमेणैवमायुर्ज्ञेयं विचक्षणैः ॥ २ ॥

जातकर्माद्याश्रित्याह—
स्याज्जातकर्म चरलघुमृदुध्रुवर्क्षेष्वमीषु नामापि। तच्चाविरुद्धमुभयोर्योनी१ गण२ राशि३ तारका४ वर्गैः५॥ १७ ॥

व्याख्या—जातकर्म षष्ठीजागरादि। चरेत्यादि एषु चन्द्रयुक्तेषु वा एषामुदयसमये वा एतत्संबन्धिषु मुहूर्तेषु वा कार्यं। अस्मिन् प्रकारत्रये-
ऽपि पूर्वपूर्वस्यालाभे, उत्तरोत्तरः प्रकार आदरणीयो न त्वन्यथा। यदुक्तं व्यवहारप्रकाशे—"धिष्ण्यानां मौहूर्तिकमुदयात् शीतरश्मियोगाच्च अधिकबलं
यथोत्तरमिति"। यदि च तदेव दिनभं क्षणेऽपि च तस्यैव कार्यं क्रियते तदा शुभतरं यच्छौनकः—
" नक्षत्रवत्क्षणानां बलमुक्तं द्विगुणितं स्वनक्षत्रे " इति।

एवं सर्वकार्ये भेषु वाच्यं । अभीष्वितिति नामाप्येषु स्थाप्यं । उभयोरिति प्रस्तावाद्दम्पत्योः गुरुशिष्ययोः स्वामिभृत्ययोश्चेत्यापूह्यम्—

अथाष्टाविंशतेर्भानां योनीराह—

उडूनां योन्योऽश्व १ द्विप २ पशु ३ भुजङ्गा ४ हि ५ शुनकौ ६-
त्व ७ जा ८ मार्जारा ९ खुद्वय १०-११ वृष १२ मह १३ व्याघ्र १४ महिषाः १५ ।
तथा व्याघ्रै १६ णै १७ ण १८ श्व १९ कपि २० नकुलद्वन्द्व २१-२२ कपयो २३,
हरि २४ वाजी २५ दन्तावलरिपु २६ रऽजः २७ कुञ्जर २८ इति ॥ १८ ॥

व्याख्या—योन्य इति उत्पत्तिस्थानानि, एताश्च गुरुशिष्यदम्पत्यादियोगार्थं पूर्वाचार्यैः कल्पिता एव, न तु पारमार्थिक्य इति रत्नमालाभाष्ये । पशुरजः । ओतुर्मार्जारः । द्वयेति मघापूर्वाफल्गुन्योराखुः । एवमग्रेऽपि ॥ योनिवैरमाह—

श्वैणं हरीभमहिबभ्रु पशुप्लवङ्गं, गोव्याघ्रमश्वमहमोतुकमूषकं च ।
लोकास्तथाऽन्यदपि दम्पतिभर्तृभृत्य-योगेषु वैरमिह वर्ज्यमुदाहरन्ति ॥ १९ ॥

व्याख्या—श्वा च एणश्चेति नित्यवैरस्येत्यनेनान्यमते वैरे वाच्ये समाहारद्वन्द्वे श्वैणं, यत्रैकस्य जन्मभस्य श्वा योनिरन्यस्य च मृगयोनिः तयोः श्वैणं वैरमित्यर्थः । प्लवङ्गो मर्कटः । अन्यदपीति व्याघ्रैणं श्वमार्जारमित्यादि । भर्तृभृत्येत्युपलक्षणत्वाद् गुरुशिष्यादियोगेऽपि । विशेषस्तु—

" विहाय जन्मभं कार्ये नामभं न प्रमाणयेत् । जन्मभस्यापरिज्ञाने नामभस्य प्रमाणता ॥ १ ॥ " तथा—

" द्वयोर्जन्मभयोर्मेलो द्वयोर्नामभयोस्तथा । जन्मनामभयोर्मेलो न कर्तव्यः कदाचन ॥ २ ॥ "

अस्यार्थः—द्वयोर्जन्मभज्ञाने तयोरेव मेलश्चिन्त्यते । एकस्यापि जन्मभापरिज्ञाने तु द्वयोर्नामभयोरेव चिन्त्यः, परमेकस्य जन्मभमन्यस्य च नामभं एवं मेलो न विलोक्यः । एवमेव गणराश्यादिसर्वप्रकारेषु ज्ञेयं । एतौ व्यवहारप्रकाशे ॥ सप्तविंशतेर्भानां गणानाह—

दिव्यो गणः किल पुनर्वसुपुष्यहस्तस्वात्यश्विनीश्रवणपौष्णमृगानुराधाः ।
स्यान्मानुषस्तु भरणीकमलासनर्क्षपूर्वोत्तरात्रितयशंकरदैवतानि ॥ २० ॥

व्याख्या—कमलासनर्क्षं रोहिणी, पूर्वाणामुत्तराणां च त्रितयम् ॥

रक्षोगणः पितृभराक्षमवासवेन्द्रचित्राद्विदैववरुणाग्निभुजंगभानि ।
प्रीतिः स्वयोरति, नरामरयोस्तु मध्या, वैरं पलादसुरयोर्मृतिरन्त्ययोस्तु ॥ २१ ॥

व्याख्या—पितृभं मघा, राक्षसं मूलं । स्वयोरिति आत्मीययोः । अतीति अतिशयेन । यत्रोभयोरेक एव गणः स्यात्, तयोर्भृशं प्रीतिरित्यर्थः । अन्त्ययोर्नृरक्षसो । उक्तञ्च—

" स्वकुले परमा प्रीतिर्मध्यमा देवमर्त्ययोः । देवराक्षसयोर्वैरं मरणं मर्त्यरक्षसोः ॥ १ ॥ "

अभिजिद्विद्याधरगणे इति कश्चित् । विशेषस्तु–मुख्यस्य वरादे रक्षोगणे, गौणस्य च कन्यादेर्नृगणस्तदाप्युभयोः सद्राशिकूटत्वे १ तत्स्वामिमैत्र्ये २ योनिशुद्धौ ३ नाडीवेधशुद्धौ ४ च सत्यां सुयोग एव । यद् गर्गः—

" रक्षोगणो यदा पुंसः कुमारी नृगणा भवेत् । सद्भकूटं १ खगप्रीति २ र्योनिशुद्धि ३ स्तदा शुभम् ॥ १ ॥ "

अथ राशिकूटं, राशीनां मिथो वैरमैत्र्यादि चाह—

राशेरोजान्मृतिः षष्ठे सर्वाः स्युः संपदोऽष्टमे । राशौ द्विद्वादशे नैःस्व्यं स्वामिमैत्र्ये पुनः श्रियः ॥ २२ ॥

व्याख्या—यत्र द्वयो राशी मिथः षष्ठाष्टमौ स्यातां, तयोः षडष्टमकाख्यं राशिकूटं, एवं द्विद्वादशनवपञ्चमादिष्वपि भाव्यं । मृतिरिति यत्रौजान्मेषमिथुनादितः सकाशात् षष्ठो राशिः स्यात्तत्रिकस्य शत्रुषडष्टमकं राशीशानां मिथो वैरसद्भावात् । तत्र यस्याष्टमो राशिस्तस्य मृत्युः स्यादिति रत्नमालाभाष्ये । संपद इति ओजादेव सकाशादष्टमे राशौ सति यत्स्यात्तत्प्रीतिषडष्टमकं राशीशानां मिथः प्रीतिसद्भावात् । तदयं भावः—

" मकरवृषमीनकन्यावृश्चिककर्काष्टमे रिपुत्वं स्यात् । अजमिथुनधन्विहरिघटतुलाष्टमं मित्रताऽवश्यम् ॥ १ ॥ "

ननु वैरमैत्र्यादिद्वयोर्जन्मलग्नयोर्विचारयितुमुचितं, तस्यैव सर्वत्र बलवत्त्वात्, तत्किं जन्मराश्योरिहोक्तं? उच्यते—

" जन्मलग्नमिदमङ्गमङ्गिनां, मेनिरे मन इतीन्दुमन्दिरम् । सौहृदं च मनसोर्न देहयोर्भलकस्तदयमिन्दुगेहयोः ॥ १ ॥ "

ननु यद्येवं तदाऽस्तु राशिमैत्र्यादिविचारः, परं स्थूलमानं यदस्ततो जन्मराशिस्थनवांशयोस्तद्विचारो युक्तः "प्रभुरिह नवांश" इत्युक्तेः, मैवं, स्थूलस्यैवात्र पूर्वाचार्यैः प्रमाणीकरणात्, नो चेत्कर्कस्थे मकरांशेऽपि गतोऽर्कः किं नोत्तरायणीत्युच्यते? तथा यथोक्तदैवसिकनक्षत्रविरहेऽपि तदुदये तन्मुहूर्तेषु वा, जातकर्मक्षौरादिकार्याणीव करग्रहोऽपि किमिति नानुमन्यते? अतः स्थूलस्यैवात्र प्रामाण्यं । नापि सूक्ष्मत्वमप्रमाणमेव । यतः—

" भिन्नभिन्नफलभाग्भुवि भूयानेकधिष्ण्यदिनजोऽपि जनोऽयम् । सूक्ष्मतापि ननु तेन गरिष्ठा, किंतु मलमनुरुध्य विधेया ॥ २ ॥ "

अत्र धिष्ण्यदिनेत्युपलक्षणं, तेनैकलग्नजोऽपीत्यपि ज्ञेयं । तदयमाशयः—लग्नं किल नवांशद्वादशांशत्रिंशांशकलाविकलादीनि यथोत्तरं सूक्ष्माणि सन्ति ततः—

" अत्यन्तसूक्ष्मः स कलैकदेशो, येनाखिलानां भिदुरा फलर्द्धिः । नास्मादृशां दृग्विषयः स तस्मान्मूलानुकूला व्यवहारसिद्धिः ॥३॥ "

इदं विवाहवृन्दावने । अत्र मूलानुकूलेति पूर्वाचार्यैर्यत्र यत्प्रमाणीकृतं तत्तत्र मूलं, ततो जन्मादिलग्नेषु कलादिकं यावद्विचार्यते, इह तु राशेरेव मैत्री विचार्या, तथैव पूर्वाचार्यैः प्रमाणीकरणात्, इत्यलं प्रसङ्गेन । द्विविधषडष्टमकस्थापना यथा—

६	८			६	८
वृष	धनुः	[illegible]	[illegible]	मेष	वृश्चिक
कर्क	कुंभ			मिथुन	मकर
कन्या	मेष			सिंह	मीन
वृश्चिक	मिथुन			तुला	वृष
मकर	सिंह			धनुः	कर्क
मीन	तुला			कुंभ	कन्या

नैःस्व्यमिति द्विद्वादशं तावत्स्वभावतो दारिद्र्यकरं । स्वामिमैत्र्य इति तद्राशिस्वामिनोर्यदि मिथो मैत्री, उक्तलक्षणत्वाद्राश्योरेकस्वामिकत्वं वा तदा द्विद्वादशं शुभतरं । यदि चैकस्य माध्यस्थ्ये सतीतरस्य मैत्री तदापि द्विद्वादशं शुभमेव । पारिशेष्याद्यदि राशीशयोर्मिथो वैरं, यद्वैकस्य माध्यस्थ्ये सतीतरस्य वैरं यद्वोभयोर्मिथो माध्यस्थ्यमेव तदा न शुभं । यत्सारंगः—

" प्रीतिरायुर्मिथो मैत्र्यां सुखं स्यात्समभित्रयोः ।
द्वयोः समत्वे न स्नेहो न सुखं समवैरिणोः ॥ १ ॥ "

एषां स्थापना यथा—

२	१२
मेष	मीन
मिथुन	वृष
सिंह	कर्क
तुला	कन्या
धनुः	वृश्चिक
कुंभ	मकर
एतानि षड् द्विद्वादशानि श्रेष्ठानि	

२	१२
कन्या	सिंह
इदमपि शुभम्	
वृश्चिक	तुला
मकर	धनुः
मीन	कुंभ
वृष	मेष
एतान्यशुभानि	
कर्क	मिथुन
इदमशुभतरम्	

अत्राद्येषु पञ्चसु राशीशग्रहयोर्मिथो मैत्री, षष्ठे एकस्वामिकत्वं, सप्तमे त्वेकस्य माध्यस्थ्यमितरस्य मैत्री, तेनैतानि सप्त प्रीतिद्विद्वादशानि । शेषे स्वाद्यचतुष्के स्वामिनोर्मिथो माध्यस्थ्यं, पञ्चमे त्वेकस्य माध्यस्थ्यमन्यस्य वैरं, "हिमांशुबुधयोर्वैरं" इति मते मिथो वैरं वा, तेनैतानि पञ्च शत्रुद्विद्वादशानि । त्रिविक्रमोऽप्याह—" सिंहवर्जविषमराशितो द्वितीयत्वे सति यानि द्विद्वादशानि स्युस्तान्यशुभानि, यानि तु समात्सिंहाच्च द्वितीयत्वे सति स्युस्तानि शुभान्येवेति " । केचिन्नाड्यादिचतुष्कानुकूल्ये सति मिथो माध्यस्थ्यमपि शुभमाहुः । यस्मारंग:—

" नाडी१ योनि२ गणा३ स्तारा४ चतुष्कं शुभदं यदि ।
तदौदास्येऽपि नाथानां भकूटं शुभदं मतम् ॥ १ ॥ "

अत्रौदास्यमुदासीनता माध्यस्थ्यमिति यावत् । नाडीताराःस्वरूपं त्वग्रे वक्ष्यते । सिंहद्विद्वादशं मुक्त्वा शेषाणि सर्वाणि द्विद्वादशान्यशुभानीति तु व्यवहारप्रकाशे ॥

श्रेयो मैत्र्यात् परे त्वाहुः कलिकृन्नवपञ्चमम् । एकर्क्षे च भिन्नांशे श्रेयः शेषेषु च द्वयोः ॥ २३ ॥

व्याख्या—कलिकृदिति नवपञ्चमं स्वभावात् कलहहेतुः । विवाहे त्वपत्यहानिकरमिति व्यवहारसारे । श्रेयोमैत्र्यादित्यन्ये त्वाहुः–राशीशयोर्मिथो यमैत्र्यां तु सत्यां श्रेष्ठमेव । यत्र त्वेकस्य मैत्री, अन्यस्य तु माध्यस्थ्यं तन्मध्यमं । (स्थापना पृ. ११० विलोक्या)

विशेषस्तु—प्रीतिनवपञ्चमात् प्रीतिद्विद्वादशकमुत्तमं, ततोऽपि प्रीतिषडष्टमकं । तथा—

" आसन्नस्तु वरो ग्राह्यो नासन्ना कन्यका पुनः । मृतैकमातापितरं संग्राह्यं नवपञ्चकम् ॥ १ ॥ "

श्रेष्ठानि नवपंचमानि

९	५
मेष	सिंह
वृष	कन्या
मिथुन	तुला
सिंह	धनुः
तुला	कुंभ
वृश्चिक	मीन
धनुः	मेष
मकर	वृष

एतानि मध्यमानि

९	५
कुंभ	मिथुन
मीन	कर्क
कर्क	वृश्चिक
कन्या	मकर

अस्यार्थः—यदि कन्याया राशितो गणने वरस्य राशिरासन्नो, वरराशितश्च गणने कन्याया राशिर्दूरः, एवं सति नवपञ्चमादीनि सर्वाणि शुभानि । मृतैकेति वरकन्ययोर्मध्यैकस्य मातापितरौ मृतौ, तदा नवपञ्चमं शुभमेवेति नारचन्द्रटिप्पण्यां । एकऋक्षे चेति ऋक्षशब्दोऽत्र राश्यर्थे, ततो द्वयोरपि यद्येक एव जन्मराशिस्तदा नवांशभेदाच्छुभमेव, द्वयोरप्येकं यदि जन्मभं तदा तु न शुभं । यत्त्रिविक्रमः—

" एकर्क्षे जायते यत्र विवाहे वरकन्ययोः । मूलवेधस्तु स प्रोक्तो महादुष्टफलप्रदः ॥ १ ॥ " कल्लोऽप्याह—

" एकनक्षत्रजातानां परेषां प्रीतिरुत्तमा । दम्पत्योस्तु मृतिः, पुत्रा भ्रातरो वाऽर्थनाशकाः ॥ १ ॥ "

अपि च ऋक्षशब्दो नक्षत्रार्थेऽप्यस्ति, तेनैकनक्षत्रेऽपि पादभेदाच्छुभमेव, एकपादत्वे तु न शुभं । यदुक्तम्—

"नक्षत्रमेकं यदि भिन्नराश्योरभिन्नराश्योरपि भिन्नमृक्षम् । प्रीतिस्तदानीं निबिडा नृनार्योश्चेत्कृत्तिकारोहिणीवन्न नाडिः ॥ १ ॥ "

अत्र कृत्तिकारोहिणीवदिति, यथा कृत्तिकारोहिण्योर्मिथो नाडीवेधोऽस्ति, तथा नाडीवेधो यदि स्यादित्यर्थः । तथा—

" नाग्निर्दहत्यात्मतनुं यथा वा, द्रष्टा स्वदृष्टेर्न हि दर्शनीयः । एकांशकत्वे समतैव तद्वन्न भर्तृभार्याव्यवहारसिद्धिः ॥ २ ॥ "

एकपादत्वेऽपि शुभमेवेत्यन्ये । यदुक्तम्—

" पराशरः स्माह नवांशभेदादेकर्क्षराश्योरपि सौमनस्यम् । एकांशकत्वेऽपि वशिष्ठशिष्यो नैकत्र पिंडे किल नाडिवेधः ॥ ३ ॥ "

शेषेषु च द्वयोरिति शेषेषूभयसप्तम १, दशमचतुर्थ २, तृतीयैकादशेषु ३, द्वयोरपि संबन्धिनोः श्रेय एव । राश्योरेवात्र मैत्रीत्यतो न तदीशयोर्मैत्री विचार्या । यद्गदाधरः—

" राशिकूटे शुभे लब्धे ग्रहमैत्रीं न चिन्तयेत् । अलाभे राशिकूटस्य ग्रहमैत्री तु चिन्तयेत् ॥ १ ॥ "

तत्रापि स्वामिमैत्र्ये एकस्वामिकत्वे च श्रेष्ठतरमेव । सर्वेषामेषां क्रमात् स्थापना यथा—

३	११		३	११
मेष	कुंभ		तुला	सिंह
वृष	मीन		वृश्चिक	कन्या
मिथुन	मेष	शुभं	धन	तुला
कर्क	वृष		मकर	वृश्चिक
सिंह	मिथुन		कुंभ	धन
कन्या	कर्क		मीन	मकर

उभयसप्तमं		दशमचतुर्थश्रेष्ठतरं		दशमचतुर्थश्रेष्ठं	
७	७	१०	४	१०	४
मेष	तुला	वृष	कुंभ	मेष	मकर
वृष	वृश्चिक	कर्क	मेष	मिथुन	मीन
मिथुन	धन	वृश्चिक	सिंह	सिंह	वृष
कर्क	मकर	मेष	तुला	तुला	कर्क
सिंह	कुंभ	कन्या	मिथुन	धनुः	कन्या
कन्या	मीन	मीन	धनुः	कुंभ	वृश्चिक

अत्रोभयसप्तमेषु तृतीयैकादशेषु च स्वामिमैत्र्यचिन्ता नास्त्येव । दशमचतुर्थेषु त्वाद्ये चतुष्टये मैत्री अन्त्यद्वयोरेकेशत्वं, तेनैतानि षट् श्रेष्ठतराण्युक्तानि । शेषाणि षट् स्वभावादेव श्रेष्ठानि । विशेषस्तु–आदौ तावद्वयोन्यादिशुद्धिर्बलिनी, ततोऽपि राश्योर्वश्यत्वं वक्ष्यमाणं, ततोऽपि राशीशग्रहयोर्मैत्री, ततोऽपि राश्योः स्वभावमैत्री बलिनी यदुक्तम्—

"स्वभावमैत्री१ सखिता स्वपत्योर२ वंशित्व३ मन्योऽन्यभयोनिशुद्धिः ४ ।
परः परः पूर्वगमे गवेष्यो, हस्ते त्रिवर्गी युगपद्युतिश्चेत् ॥ १ ॥"

परं तारामैत्री नाडीवेधशुद्धिश्च सर्वत्र विलोक्ये एवेति, ग्रामधारणागर्तिकेऽप्येवमाहुः—

"जन्मराशिस्थितो ग्रामस्त्रिषष्ठः सप्तमोऽपि वा ।
स्वकीयो द्रव्यनाशाय आपदा च पदे पदे ॥ १ ॥
चतुर्थोऽष्टमको ग्रामो द्वादशो यदि वा भवेत् ।
यत्रैवोत्पद्यते अर्थस्तत्रैवार्थो विलीयते ॥ २ ॥
पञ्चमो नवमो ग्रामो द्वितीयो यदि वा भवेत् ।
दशमैकादशश्चैव शुभदः स फलप्रदः ॥ ३ ॥"

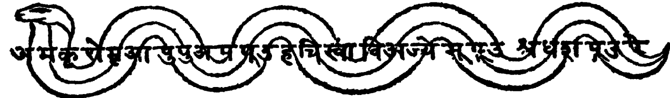
अथ तारासु वाच्यासु पूर्वं तत्संबद्धं नाडीवेधमाह—

चक्रे त्रिनाडिके धिष्ण्यमेकनाडीगतं शुभम् । गुरुशिष्यवयस्यादेर्न वधूवरयोः पुनः ॥ २४ ॥

[...]रम्भ-
भेदे:
॥११२॥

व्याख्या—नाड्योऽत्र रेखारूपा लक्ष्याः, ततो येषां जन्मभानि नामभानि वा एकनाडीगतानि स्युस्तेषां नाडीवेधोऽस्ति । भिन्नभिन्ननाडीगतत्वे तु स नास्तीति भावः । त्रिनाडिकचक्रस्थापना यथा—

वयस्यादेरिति, आदिपदात्प्रभुभृत्यादिमर्वद्वयेष्वपि संबन्धिनोर्मिथो नाडीवेधः शुभः । वधूवरयोरिति, दम्पतियोगे तु नाडीवेधो न शुभः ।



उक्तञ्च हर्षप्रकाशे—

" सुअसुहि सेवयसिस्सा घरपुरदेस सुह एगनाडीआ। कन्ना पुण परिणीआ हणइ पइं ससुरं सासुं च ॥ १ ॥ "

विशेषस्तु—सुतसुहृदादीनां नाडीवेधसद्भावे विरुद्धयोनिकभयोगोऽपि न दुष्यति । दम्पत्योर्नाडीवेधे तु फलमेवम्—

" हृन्नाडीवेधतो भर्तुर्मध्यनाड्यां व्यधे द्वयोः । पृष्ठनाडीव्यधे नार्या मृत्युः स्यान्नात्र संशयः ॥ १ ॥ " आद्यनक्षत्रसंगता या सा हृन्नाडी ।

" समासन्ने व्यधे शीघ्रं दूरवेधे चिरेण वा । वेधान्तरभमानेऽत्र वर्षे दुःखं प्रजायते ॥ २ ॥ "

अपि च यदि नक्षत्रवेधस्त्यक्तुं न शक्यते, तदाऽपि पादवेधस्त्याज्य एव । उक्तञ्च नरपतिजयचर्यायाम्—

" एतच्चक्रं समालिख्य अश्विन्याद्यंह्रिपङ्क्तितः । वेधो द्वादशनाडीभिः कर्तव्यः पतिकन्ययोः ॥ १ ॥
एवं निरन्तरो येषां दम्पतीनां भवेद्व्यधः । तेषां मृत्युर्न संदेहः सान्तरस्त्वल्पदुःखदः ॥ २ ॥ "

तथा तत्रैव ग्रन्थे दम्पतिवद्देवतामंत्रयोर्गुरुशिष्ययोगे च नाडीवेधो दुष्ट इत्युक्तं । तथाहि—

" एकनाडीस्थिता यत्र गुरुर्मन्त्रश्च देवता । तत्र द्वेषं रुजं मृत्युं क्रमेण फलमादिशेत् ॥ १ ॥ "

सर्वेषां चैषां मैत्रीप्रकाराणां नाडीवेधो बलिष्ठः । यदुक्तम्—

" सदा नाशयत्येकनाडीसमाजो, भकूटादिकान् सर्वभेदान् प्रशस्तान् " ॥ अथ तारामैत्रीमाह—

द्वयेषु गुरुशिष्यादेः प्रीतिहेतोः परस्परम् । त्रिपञ्चसप्तमीं तारां सर्वत्र परिवर्जयेत् ॥ २५ ॥

तृतीय
विमर्शे
गुरुशिष्या-
दीनां तारा
विचारः ॥

व्याख्या—परस्परमित्युभयतो योज्यं । परस्परं प्रीतिहेतोः, परस्परं त्रिपञ्चसप्तमी तारा त्याज्येति । कोऽर्थः ? यदि ह्येकस्यापि तारा त्रिपञ्चसप्तमी स्यात्तदा न तयोस्तादृशी प्रीतिः स्यादिति । त्रिपञ्चेति पूर्वोक्तेन ताराणां नवकत्रयकल्पनविधिना गुरुशिष्यादितारासु त्रिपञ्चसप्तमत्वं भाव्यं । विशिष्य च गुरुवरप्रभुप्रभृतीनां तारा त्रिपञ्चसप्तमी विलोक्यते । यदुक्तम्—"भीरुपादचल ७ पञ्च ५ तृतीया ३ शोकवैरविपदे वरताराः" । सर्वत्रेति सर्वेषु द्वयेष्वित्यत्र योज्यं, प्रधानं (ना) चेयं तारामैत्री । यदुक्तम्:—

" पुंस्त्रोराशीशयोर्मैत्र्यामेकेशत्वे च वश्यभे । षडष्टमादिष्वपि स्यात्तारामैत्र्या करग्रहः ॥ १ ॥ " इति दैवज्ञवल्लभे ॥ वर्गमैत्रीमाह—

चत्वारोऽकचटा वर्गाः क्रमात्तपयशास्तथा । यत्नतो वर्जनीयाः स्युरितरेतरपञ्चमाः ॥ २६ ॥

व्याख्या—अकारादयः स्वराः अवर्गः १ । ततः कवर्गाद्याः पञ्च वर्गाः ६ । अन्तस्था यवर्गः ७ । शषसहाः शवर्गः ८ इत्यष्टौ वर्गाः । इतरेति द्वयोः संबन्धिनोर्नामाद्यवर्णवर्गौ यदि मिथः पञ्चमौ स्यातां, तदा तदीशयोर्जातिवैरसद्भावात्त्याज्यौ । वर्गेशाश्चैवं हर्षप्रकाशे—

" वैनतेयौ१ तु२ सिंह३ श्वा४ ऽहि५ मूषक६ मृगो७ रणाः८ । क्रमादकचटादीनां स्वामिनोऽमी स्मृता बुधैः ॥ १ ॥ "

उरणो मेषः । एषां पञ्चमेन पञ्चमेन सह जातिवैरं, वृकसजातीयत्वात् शुनो मेषेण सह वैरं । विशेषस्तु—योनि१ गण२ राशि ३ ताराशुद्धि४ नाडिवेधा५ जन्मभे परिज्ञायमाने जन्मभेनैव विलोक्याः, अन्यथा तु नामभेन । वर्गमैत्री१ लभ्यदेयज्ञाने२ तु प्रसिद्धनाम्नैव विलोक्ये ॥

वर्गवक्तव्यतासंबद्धं मिथो लभ्यदेयज्ञानमाह—

नामादिवर्गाङ्कमथैकवर्गे, वर्णाङ्कमेव क्रमतोऽक्रमाच्च ।
न्यस्योभयोरष्टहृतावशिष्टे, ऽर्धिते विशोपाः प्रथमेन देयाः ॥ २७ ॥

व्याख्या—उभयोरिति सर्वद्वयेषु द्वयोः संबन्धिनोर्नामाद्याक्षरयोर्वर्गाङ्कौ स्थाप्यौ, द्वयोश्चेदेको वर्गस्तदाऽऽद्याक्षराङ्कावेव ताभ्यां जातस्याङ्कस्याष्टभिर्भागे यच्छेषं, तस्यार्धे जाता ये विशोपास्ते आद्याङ्कवता उत्तराङ्कवतो देयाः, तेन स्वाद्याल्लभ्याः । एवं क्रमोत्क्रमाभ्यां यथासंभवं लभ्यदेयमानीय यथायोगं वालनीयं शेषं च देयं निर्णेयं । यदि तु मिथो लभ्यदेयं नायाति, तदा यस्यैव स्यात्तस्यैव निर्णेयं । यथा कणादवल्मीकयोर्गुरुशिष्ययोर्नामव-

गांङ्कौ न्यस्तौ=(क)–२(व)–७ जाता सप्तविंशतिः, तस्या अष्टभिर्भागे शेषं त्रयः८)२७(३, आर्धंते सार्धविशोपः कणादेन कक्ष्मीकस्य देयः। तावेव विपरीतौ न्यस्तौ ८–२–जाता द्वा सप्ततः, अष्टभिर्भागे शेषाभावान्नास्ति किञ्चिद्लक्ष्मीकेन गुरोर्देयं, किंतु गुरुणैव शिष्यस्य देयमस्तीत्येतद्योगनिधानग्रन्थोक्तमुदाहरणं। तथा आदिनाथश्रीदत्तयोर्वर्गाङ्कौ स्थापितौ १–८–जाता अष्टादश, अष्टभिर्भागे शेषं द्वौ, अर्धे एको विशोपो देवेन श्रीदत्तस्य देयः। तयोरेवोत्क्रमात्स्थापने ८१ जाता एकाशीतिः, अष्टभिर्भागे शेष एकः, अर्धे–अर्धविशोपः श्रीदत्तेन देवस्य देयः। मिथो वालने शेषोऽर्धविशोपः श्रीदत्तस्य देवेन देयो निर्णीतः। एवं सर्वत्र। लभ्यं च स्तोकं वर्यं, दातुं लातुं च सुशक्यत्वादिति नारचन्द्रटिप्पण्यां। अत्र गर्गोक्तः सङ्ग्रहश्लोकोऽयम्—

> " राशि १ ग्रहमैत्री २ गण ३ योनि ४ तारै ५ कनाथता ६ ऽवश्यम् ७।
> स्त्री दूर ८ नाडियुति ९ वर्ग १० लभ्य ११ वर्ण १२ युजयो १३ द्वयेषूह्याः ॥ १ ॥ "

अस्यार्थः—द्वयेषु गुरुशिष्यदम्पतिभर्तृभृत्यादिरूपेषु एते ऊह्याः। तत्र राश्योः स्वभावजा राशिमैत्री, तृतीयैकादश १ दशमचतुर्थौ २ भयसप्तमेषु ३। ग्रहमैत्री प्रीतिषडष्टमक १ प्रीतिद्विद्वादशक २ प्रीतिनवपञ्चमेषु ३। गण १ योनि २ तारै ३ कनाथता ४ नाडीवेध ५ वर्ग ६ लभ्या ७ न्युक्तत्वात् स्फुटान्येव। वश्यत्वं तु वक्ष्यते। स्त्रीदूरति वधूराशिर्वरराशितो दूरगः शुभः, वरराशिस्तु वधूराशित आसन्नः शुभ इत्यर्थः। वर्णेति "मीनाद्याश्चत्वारश्चत्वारस्त्रिर्द्विजादिवर्णाः" इति सारावल्यां। ततश्च—

> " यत्र वर्णाधिका नारी तत्र भर्ता न जीवति। यदि जीवति भर्ता स्यात्तदा पुत्रो न जीवति ॥ १ ॥ " इति महादेवः।

युजिः प्रागुक्ता "पूर्वार्धयोगिषूडूनीणामतिवल्लभो भवेद्भर्ता" इत्यादिना। विशेषस्तु–मुनीनां किल जिनबिम्बकारयितुस्तद्वारणागतिज्ञाने शैक्षस्य नामकरणे च भयोन्यादिभिर्विशिष्योपयोगः। तत्र शैक्षस्य नाम्नि नाडीवेधो वर्ज्यः, जिनस्य तु नाम्नि त्याज्य एव। ताराविरोधश्च जिनबिम्बाधिकारे प्रायो न विचार्यः। यदुक्तम्—

> " योनि १ गण २ राशिभेदा ३ लभ्यं ४ वर्गश्च ५ नाडिवेधश्च ६। नूतनबिम्बविधाने षड्विधमेतद्विलोक्यं ज्ञैः ॥ १ ॥ "

तत्र यस्य धनिकस्य जिनस्येव जन्मभं ज्ञायते, तस्य जन्मभेन योनिगणराशयो नाडीवेधश्च विलोक्याः। न तु वर्गलभ्ये, यतो वर्गयोर्मिथः

पञ्चमत्वं मिथो लभ्यदेयं च जिनस्यैव, तस्यापि प्रसिद्धनैव नाम्ना विलोक्येते, सर्वत्रापीयं रीतिः । जन्मभापरिज्ञाने तु तस्य योन्याद्यपि सर्वं प्रसिद्धनाममेनैव विलोक्यं । तत्र पूर्वं तावज्जिनधनिकयोर्योनिगणवर्गाणां मिथो वैरं त्याज्यमेव । वैरसद्भावेऽपि वा धनिकसत्का योन्यादयो देवसत्केभ्यस्तेभ्यश्चेद्बलिष्ठाः स्युस्तदा ग्राह्या अपि । अयं भावः—अल्पबलेन बलिष्ठो नाभिभूयत इत्यभिप्रायेण धनिकस्य आखादिर्बलिष्ठो, देवस्य चोन्दुरादिरल्पबल इत्येतावता न दोषः । जातिवैराभावे च धनिकयोनिवर्गयोरबलत्वेऽपि न विशिष्य दोषः, शास्त्रे योनिवर्गयोर्जातिवैरस्यैव वर्जनात्, लोकेऽपि च तथैवादरणात् । तथा यत्र देवराशितो धनिकराशिरासन्नो, धनिकराशितस्तु देवराशिर्दूरे तत्प्रीतिषडष्टमकादि ग्राह्यं, इतरत्तु न । तथा तादृक्शुद्धापरालाभे तु तदपि क्वचिद् ग्राह्यं । देवराक्षसरूपं गणवैरमप्येवमेव, यतो लोके वरकन्यादेरपि शुद्धापरालाभे देवराक्षसरूपं गणवैरमप्याद्रियमाणा दृश्यन्ते । शिष्यनामकरणे तु गुरुशिष्ययोर्मिथस्ताराविरोधः शत्रुषडष्टमकादीनि च सर्वाणि त्याज्यानि । योनिविरोधोऽप्येवमेव । नाडीवेधसद्भावे त्वसौ न दुष्टः । उक्तञ्च हर्षप्रकाशे—

“ दुब्बारस नवपंचम छक्कट्ठग ति पण सत्तमी तारा । अन्नुन्न गुरुसीसाणं नामकरणे विवज्जिज्जा ॥ १ ॥
गुरुसीसाण करिज्जा नाम न विरुद्धजोणीए रिक्खे । जइ हुज्ज न तं रिक्खं आरूढं एगनाडीए ॥ २ ॥ ”

गणवर्गविरोधौ तु त्याज्यावेव । लभ्यदेयं च मिथो विलोक्यं, मिथो राशिमैत्र्याद्यभावे राशीनां वश्यत्वं च ग्राह्यं, तदभावे शत्रुषडष्टमकादीनामपि विशिष्टतरदौष्ट्यासंभवात् । पुत्रादिनामस्वपि सर्वं प्रायः शैक्षनामवज्ज्ञेयं । एवं च सति—

‘ जीवेन्द्वर्केषु बलिषु त्रिषु गोचरशुद्धितः । नामप्रथमवर्णस्य नृणां नाम विधीयते ॥ १ ॥ ’’ इति पूर्णभद्रः ।

अस्य श्लोकस्यान्वय एवं—नामाद्यवर्णस्य गोचरशुद्ध्या जीवेन्द्वर्केषु बलिषु सत्सु, नृणां नाम विधीयते । अयं भावः—नामकर्तुराचार्यादेर्ये केऽपि वर्णा मैत्रीभाजः सन्ति, तेषां वर्णानां मध्ये यस्य वर्णस्य जीवेन्द्वर्कगोचरशुद्ध्या बलिष्ठाः स्युरिष्टदिने तं वर्णमादौ न्यस्य, शिष्यादीनां नाम देयम् ॥ अथ कार्यान्तराण्याह—

कर्णवेधोऽह्नि सौम्यस्य मार्गे मैत्र्ये श्रुतिद्वये । हस्तचित्रोत्तरा३ पौष्णाश्विनादित्यद्वये शुभः ॥ २८ ॥

व्याख्या—सौम्यो बुधः । गुरावपीति व्यवहारसारे । उत्तरास्तिस्रः ॥

आद्याटनं प्राथमकल्पिकस्य, मृदुध्रुवक्षिप्रचरेषु भेषु ।
पूर्वाशनं मासि शिशोश्च षष्ठे, भं वारुणं स्वातिमितश्च मुक्त्वा ॥ २९ ॥

व्याख्या—आद्यं हिंडनं गोचरचर्याभ्रमणं च, प्रथमकल्प आचारंभः प्रयोजनमस्येति, "पदकृत्तलक्षणान्तकृत्वाख्यानाख्यायिकात्" इत्यनेनेकणि प्राथमकल्पिको बालः शैक्षश्च, वारे चाऽनुक्तेऽपि कुजशनी सर्वत्र त्याज्यौ। पूर्वाशनं बालस्य बोटणाख्यं । षष्ठे इति "पुंसः षष्ठे मासि, पुत्र्यास्तु पञ्चमे मासीति" भोजः । "मासनियमो न पुत्र्याः" इति तु हरिः । अरिक्तनिथाविति च सर्वत्राप्यूह्यं । विशेषस्तु—

" शशिशुक्रे च मन्दाग्निः शनिभौमे बलक्षयः । बुधार्कगुरुवारेषु प्राशनं तु हितावहम् ॥ १ ॥ "

इतः पूर्वोक्तनक्षत्रेभ्यः शतभिषक्स्वाती त्यक्त्वा, 'चो' भिन्नक्रमत्वात्स्वातिं चरेष्वेवं योज्यः ॥

पात्रभोगोऽश्विनीऽनुराधारेवतीमृगे । हस्ते पुष्ये च गुर्विन्दुवारयोश्च प्रशस्यते ॥ ३० ॥

क्षौरं शुभस्याहनि तारकाबले, तिथौ च रिक्ताष्टमीषष्ठ्यमोज्झिते ।
चित्राचरैन्द्राश्विनपुष्यरेवती-हस्तैन्दवैस्तुल्यपतौ क्षणेऽथवा ॥ ३१ ॥

व्याख्या—क्षौरमिति बालानां प्रथमं यस्य मुंडनमिति नाम । शैक्षाणां तु प्रथमलोचः, शेषक्षौराणि तु वारभमात्रशुध्यादिनाऽपि स्युः । शुभस्येति अक्रूरवारे । यतः—

" क्षौरे मासं दुनोत्यर्को भौमोऽष्टौ सप्त सूर्यजः । षट् प्रीणातीन्दुरष्टौ ज्ञो गुरुर्नव भृगुर्दश ॥ १ ॥ " इति व्यवहारसारे ।

तारकेति, उक्तं हि—"जन्माधानेत्यादि" । ताराबलं च क्षौरेऽवश्यं ग्राह्यं, यतः—"तारासुद्धं खउरं" इति हर्षप्रकाशे । चन्द्रबलमप्यवश्यं ग्राह्यमिति व्यवहारप्रकाशे । अष्टमीति "ङ्यापो बलं नाम्नि" इति ह्रस्वः । अमा अमावास्या । चरं स्वात्यादि । ऐन्दवं मृगशिरः । तुल्यपताविति यदुक्तभानि नाप्यन्ते क्षौरं चावश्यं कार्यं, तदोक्तभानां यः पतिः स एव यस्य क्षणस्य पतिः स्यात्तस्मिन् क्षणे क्षौरं कार्यं, क्षणश्च मुहूर्ताख्योऽह्नो रात्रेर्वा पञ्चदशोऽंशः । तदीशास्त्वावदेवम्—

॥११६॥

" शिव १ भुजग २ मित्र ३ पितृ ४ वसु ५ जल ६ विश्व ७ विरञ्चि ८ पङ्कजप्रभवाः ९ ।
इन्द्रा १० ग्नीन्द्र ११ निशाचर १२ वरुणा १३ र्यम १४ योनय १५ श्चाह्नि ॥ १ ॥
रुद्रा १ जा २ हिर्बुध्न्याः ३ पूषा ४ दस्रा ५ न्तका ६ ग्नि ७ धातारः ८ ।
इन्द्र ९ दिति १० गुरु ११ हरि १२ रवि १३ त्वष्टृ १४ नलाख्याः १५ क्षणाधिपा रात्रौ ॥ २ ॥" क्षणनामानि पुनरेवम्—

"आर्द्रा १ श्लेषा २ नुराधा ३ च मघा ४ चैव धनिष्ठिका ५ । पूर्वाषाढो ६ त्तराषाढे ७ अभिजि ८ द्रोहिणी ९ तथा ॥ ३ ॥
ज्येष्ठा१० विशाखिका११ मूलं१२ नक्षत्रं शततारकम्१३ । उत्तर१४ पूर्वं फल्गुन्यौ१५ क्षणास्तिथिसमा दिने ॥ ४ ॥" एषां मध्ये च—

"दक्खिणदिसि मुत्तु गमं दिक्खपइट्ठागमागमाइकयं । जं तं सव्वं सुहयं अभिजिन्मुहुत्तंमि अट्ठमए ॥ ५ ॥ " यतः हर्षप्रकाशे—

"उप्पाय विट्ठि वइवाय दड्ढतिहि पावगह विहिअदोसे । मज्झण्हगओ सूरो सव्वे वषणीय सुक्खकरो ॥ ६ ॥ " पूर्णभद्रोऽप्याह—

" ग्रसते ग्रहचक्रमसौ रविरुदये यावदेव यामयुगम् । उद्वमति वमनकाले वान्तं तद्विह्वलीभवति ॥ १ ॥
विह्वलतामुपगतवति तस्मिन् विजयाह्वयो भवति योगः । यस्मिन् विहितं कार्यं, न चलति कथमपि युगान्तेऽपि ॥२॥" लल्लोऽप्याह—

" रवौ गगनमध्यस्थे मुहूर्त्तेऽभिजिदाह्वये । छिनत्ति सकलान् दोषाँश्चक्रमादाय माधवः ॥ १ ॥ " केचित्तु—

" दुपहरघडिआ ऊणे दुपहर घडिदुग अहिअ मज्झण्हे । विजयं नाम मुहुत्तं पसाहगं सव्वकज्जाणं ॥ १ ॥ " इत्याहुः ।
सायं सन्ध्यायामपि विजययोगो हर्षप्रकाशे उक्तः, तथाहि—

" ईसि संझामइक्कंतो किंचि उब्भिन्नतारओ । विजओ नाम जोगोऽयं सव्वकज्जप्पसाहओ ॥ १ ॥ "
लल्लेन प्रातःसन्ध्यायामपि यात्रेष्टा, तथाहि—

" आवश्यके तथा याने सौम्येऽस्ते निधनेऽपि वा । व्रजेदर्कोदये वाऽपि मध्याह्ने वाऽविशङ्कितः ॥ १ ॥ "

अत्र सौम्येऽस्ते इति यच्चार्कोदयसमये मध्याह्ने वा, तात्कालिकलग्नकुंडलिकायां सप्तमेऽष्टमे वा भवने सौम्यग्रहः स्यात्तदा निःशंकं प्रयाणं कुर्यादिति । प्रातस्त्यसन्ध्याया उषाग्नितारसंज्ञेऽपि । यत्पूर्णभद्रः—

" उषाभिधानं वरयोगमेवं त्रितारमाहुर्मुनिवृन्दवन्द्याः " । इति

तथा—" उषां प्रशंसयेद् गर्गः " इति । एवं च सन्ध्यास्त्रिस्रोऽपि शस्ता इति तात्पर्यं । तथा—

" रात्रावार्द्रा १ तथैवाश्लै पूर्वभाद्रपदादयः ९ । आदित्य १० पुष्य ११ श्रुतयो १२ हस्ताद्याश्च त्रयः १५ क्रमात् ॥ १ ॥
यस्मिन् धिष्ण्ये यच्च कर्मोपदिष्टं, तद्दैवक्षैस्तन्मुहूर्त्तेऽपि कार्यम् । दिक्शूलाद्यं चिन्तनीयं समस्तं, तद्वद्दण्डः पारिघश्च क्षणेषु ॥ २ ॥"

अत्र दिक्शूलाद्यमिति नक्षत्रदिक्शूलकीलादिकं वक्ष्यमाणस्वरूपं मुहूर्त्तेष्वपि नक्षत्रवद्विचार्यं, यस्यां दिशि च तदुत्पद्यमानं स्यात् सा दिक् प्रयाणादौ त्याज्या । तथा चरस्थिरादयः सप्त धिष्ण्यभेदा धिष्ण्यसंबन्धिक्षणेष्वपि इष्टकार्यानुरूपतामपेक्ष्य विचार्याः । पारिघश्चेति वक्ष्यमाणपरिघदण्डं मुहूर्त्तेष्वपि नक्षत्रवद्विचार्य यात्राद्यं कुर्यादिति रत्नभाष्ये । पौराणिकक्षणास्त्वेवम्—

"रौद्रः १ श्वेतो २ मैत्र ३ श्चारभटः ४ पञ्चमस्तु सावित्रः ५। वैराजो ६ गान्धर्वं ७ स्तथाऽभिजि ८ द्रौहिण ९ बलौ१० च ॥१॥
विजयो११ ऽथ नैर्ऋताख्यो१२ माहेन्द्रो १३ वारुणो १४ भग१५ श्चैव । एते पुराणकथिता दिवसमुहूर्त्तास्तथाऽभिजित्कुतुपः ॥२॥"
एषु-अभिजि १ द्विजयो २ मैत्रः ३ सावित्रो ४ बलवान् ५ सितः ६ । विराज ७ श्चेति सप्त स्युः क्षणाः सर्वार्थसाधकाः ॥ ३ ॥
रौद्रो १ गन्धर्वो २ ऽर्थप ३ श्चारणाख्यो ४, वायु ५ र्वह्नी ६ राक्षसो ७ धातृ ८ सौम्यौ ९ ।
ब्रह्मा १० जीवः ११ पौष्ण १२ विष्णू १३ समीरो १४, रात्रावेते नैर्ऋताख्यः १५ क्षणोऽन्यः ॥ ४ ॥ "

इत्युक्तो बहूपयोगित्वात्प्रसङ्गः क्षणविचारः ॥ प्रथममप्रथमं च क्षौरमाश्रित्य वर्जनीयान्याह—

अभ्यक्तस्नाताशितभूषितयात्रारणोन्मुखैः क्षौरम् । विद्यादिनिशासन्ध्यापर्वसु नवमेऽह्नि च न कार्यम् ॥ ३२ ॥

व्याख्या—अशितो भुक्तः । यात्रा प्रस्थानं तदुन्मुखैः । विद्याया आदिः प्रारंभः । सन्ध्यास्त्रिस्रोऽपि । पर्व दीपोत्सवादि । नवमेऽन्हीति

रम्भ-
षेधः
॥११८॥

तृतीय
विमर्शे
क्षौर करण-
निषेध
कालः ॥

पूर्वक्षौरदिनादिति शेषः, नवम्यामिति तु न व्याख्येयं रिक्तात्वेन तद्वर्जनस्य जातत्वात्, किं तु यस्मिन् दिने प्राक्तनं क्षौरं कृतं, तस्माद् गणनया यन्नवमं दिनं तस्मिन् द्वितीयवारस्य क्षौरं न कार्यं । न च केवलं क्षौर एव, ग्रहप्रवेशादिष्वपि नवमदिवसो निषिद्ध' । यल्लल्लः—

" निर्गमान्नवमे चाह्नि प्रवेशं परिवर्जयेत् । शुभे नक्षत्रयोगेऽपि प्रवेशाद्वापि निर्गमम् ॥ १ ॥ "

इदं च मङ्गल्यक्षौरपूर्वकं, अनङ्गल्यक्षौराणि तु नवमेऽप्यह्नि स्युः । निरामनानानपि क्षौरं न कार्यमिति लल्लः ॥

षट्कृत्तिकोऽष्टवैरंचस्त्रिमैत्रश्चतुरुत्तरः । पञ्चपैत्रः सकृन्मूलः क्षौरी वर्षं न जीवति ॥ ३३ ॥

व्याख्या—यः षट् क्षौराणि संलग्नानि कृत्तिकायामेवाकारयत् स षट्कृत्तिकः । एवमन्येऽपि । गणिविद्यायां तु कृत्तिकाविशाखामघाभरणीष्वेव लोचकर्म निषिद्धं । विशेषस्तु—

" सर्वदाऽपि शुभं क्षौरं राजाज्ञामृतिसूतके । बन्धमोक्षे मखे दारकर्मतीर्थव्रतादिषु ॥ १ ॥

सर्वदापीति सर्वेषु वारनक्षत्रेष्वित्यर्थः । दारकर्मेति कुलाचारोऽयं केषाञ्चित् । तथा च दुर्गसिंहः—"मुण्डयितारः श्राविष्ठायिनो भवन्ति वधूमूढाम्" । इति ॥

श्मश्रुकर्म नरेन्द्राणां पञ्चमे पञ्चमेऽहनि । क्षौरभेषु नखोल्लेखो व्यर्के क्रूरे विशेषतः ॥ ३४ ॥

व्याख्या—क्षौरभेष्वित्यस्योभयतोऽपि योजनाद्यमर्थः—क्षौरभेषु त्रिपञ्चनसमताराद्यभावे क्रूरवारेष्वपि च शुभग्रहस्य कालहोरायां पञ्चमे पञ्चमे दिने श्मश्रुकर्म कार्यं, नखोल्लेखोऽप्येवमेव, परं व्यर्के इत्युक्तेस्तत्र रविवारस्त्याज्यः । कुजशनी तयोर्होरा च विशिष्य ग्राह्याः ॥

विद्यां सुराध्यापकराजपुत्रसितार्कवारेषु समारभेत । पूर्वाश्विनीमूलकरत्रयेषु श्रुतित्रये वा मृगपञ्चके वा ॥ ३५ ॥

व्याख्या—सुराध्यापको गुरुः । राजपुत्रो बुधः । समारभेतेति यदुक्तम्—

" विद्यारम्भे नृणां वाराः, कुर्वते भास्करादयः । आयु १ र्जाड्यं २ मृतिं ३ लक्ष्मीं ४ बुद्धिं ५ सिद्धिं ६ च पञ्चताम् ७ ॥१॥"

इति व्यवहारसारे । पूर्वास्तिस्रः । श्रुतित्रये वेति कैश्चित् श्रुतिरेवोचे, न तु तत्त्रयम् ॥

नियमालोचनायोगतपोनन्द्यादि कारयेत् । मुक्त्वा तीक्ष्णोग्रमिश्राणि वारौ चारशनैश्चरौ ॥ ३६ ॥

व्याख्या—नियमाः सम्यक्त्वद्वादशव्रताद्याश्रिताः, आलोचना धर्मगुरूणामग्रे प्रायश्चित्तमार्गणाय स्वपापप्रकाशनं, योगाः श्रुताराधनतपोविधिविशेषाः, तपः सिद्धान्तोक्तश्रेण्यादि षड्भेदं, तेषां नन्दिः प्रतिपत्तिसमयक्रियमाणो विधिविशेषो जैनर्षिप्रसिद्धः । आदेरन्यदपि धर्ममयोत्सवकार्यं गृह्यते । विशेषस्तु—" शान्तिकं पौष्टिकं कार्यं क्षेज्यशुक्रार्कवासरे । कन्याविवाहनक्षत्रे पुष्याश्विश्रवणे तथा ॥ १ ॥ " इति त्रिविक्रमः ॥

अथ प्रायो द्विजाश्रितं पञ्चदशश्लोकैराह—

मौञ्जीबन्धोऽष्टमे गर्भाज्जन्मतो वाऽग्रजन्मनाम् । राज्ञामेकादशे च स्याद्वत्सरे द्वादशे विशाम् ॥ ३७ ॥

व्याख्या—मौञ्जीबन्धो मेखलाबन्धः । अष्टमे इति यथाकुलाचारं विप्राणां गर्भाद्दशमे वर्षेऽपि अग्रजन्मानो विप्राः । विशो वैश्याः ॥

शाखाधिपे बलोपेते केन्द्रस्थेऽह्नि च तस्य वा । बले सूर्येन्दुजीवानां वर्णनाथे बलीयसि ॥ ३८ ॥
माघादौ पञ्चके मासां पौष्णाश्विन्योः करत्रये । श्रुतिद्वये मृगादित्यपुष्येषूपनयः श्रिये ॥ ३९ ॥ युग्मम् ॥

व्याख्या—शाखाधिपो वेदाधिप एव, यो जीवसितारेत्यनेन प्रागुक्तस्तस्मिन् षड्विधादिबलाढ्ये केन्द्रस्थे सत्युपनयः कार्यः । शाखाधिपे निर्बले सति वर्णसंकरसंभवात् । अह्नि चेति शाखेशग्रहस्य वारे च । तस्य वेति 'वा' शब्देनेदं सूच्यते—यदि लग्नबलादुपनयः क्रियते, तदा शाखेशग्रहस्य वारे लग्नं ग्राह्यं । लग्नकुण्डलिकायां च शाखेशो बलिष्ठः सन् केन्द्रस्थः कार्यः । यदि च दिनशुद्धिमात्रेण क्रियते, तदापि वारः शाखेशग्रहस्यैव ग्राह्य इति । वर्णनाथो वर्णानां जीवसितारविस्युक्तेः । यद्वा सूर्येन्दुजीवानां मबलत्वे, मर्वे वर्णनाथाः सबला एवेति दैवज्ञवल्लभे । उपनयो यज्ञोपवीतप्रदानम् ॥

पराजितेऽरिवेश्मस्थे, नीचस्थेऽस्तंगते गुरौ । सितेऽपि चोपनीतः स्यात्, श्रुतिस्मृतिबहिष्कृतः ॥ ४० ॥

व्याख्या—ग्रहयुतौ जातायां यो दक्षिणगामी स पराजित इति वराहः । श्रुतयो वेदाः, स्मृतयोऽष्टादश आत्रेयाद्याः ॥

क्रमादंशेषु सूर्यादेः, क्रूरो१ मन्दो२ ऽतिपातकी३ । पटु४ र्यज्वा ५ च यज्वा ६ च, मूर्खः ७ श्चोपनयाद्भवेत् ॥ ४१॥

व्याख्या—लग्नस्थेऽर्कनवांशे सत्युपनीतः क्रूरः स्यात्, चन्द्रनवांशे मन्द इत्यादि ॥

चतुष्टयेऽर्कादिषु राजसेवी १, स्याद्वैश्यवृत्तिः २ क्रमतोऽस्त्रवृत्तिः ३ ।
अध्यापकः ४ कर्मसु षट्सु विद्वान् ५, विद्यार्थयुक्तो ६ ऽन्त्यजसेवकश्च ७ ॥ ४२ ॥

व्याख्या—चतुष्टये इति अर्के केन्द्रस्थे सत्युपनीतो राजसेवी स्यात् । चन्द्रे तु वैश्यवृत्तिः कृषिपाशुपाल्यादिकर इत्यादि । बहूनां केन्द्रस्थत्वे तु, यो बलाढ्यस्तस्य फलं वाच्यं । एवमन्यत्राप्यूह्यम् ॥

लग्ने गुरौ त्रिकोणे सिते सितांशे विधौ च वेदज्ञः । भवति यमांशे गुरुसितलग्नेषु जडो विशीलश्च ॥ ४३ ॥

व्याख्या—सितांशे इति यत्र तत्र राशौ स्थितश्चन्द्रो यदि शुक्रस्यांशे स्यादित्यर्थः । एवमग्रेऽपि । यमांशे इति यमः शनिस्तस्यांशे इति चेद्गुरुशुक्रलग्नानि स्युः । विशीलश्चेति 'च' शब्दात्कृतघ्नश्च ॥

विधुगुरुशुक्रैः सार्कैर्धनगुणहीनः कुजान्वितैः क्रूरः। सबुधैर्बुधः सशौरैः स्यादुपनीतोऽलसो विगुणः ॥ ४४ ॥

व्याख्या—सार्कैरिति एषामर्कयुतो सत्यामित्यर्थः । शौरः शनिः । अयं श्लोको राज्याभिषेकलग्नेऽपि योज्यः ॥

चन्द्रे षष्ठाष्टमे मृत्युर्मूर्खत्वमथवा बटोः । व्रतमोक्षेऽथ केशान्ते चौले चैवंविधो विधिः ॥ ४५ ॥

व्याख्या—व्रतमोक्षो मौञ्जीबन्धच्छोटनादिरूपः । केशान्तो मुण्डनं । चौलं चूलाकर्म । यथा कुलाचारं प्रथमे तृतीये वा वर्षे यत्क्रियते । एवंविध इति योऽनन्तरमेव सार्धाष्टश्लोकैरुक्तः ॥

वह्नेः परिग्रहं प्राहुः कृत्तिकारोहिणीमृगैः । उत्तरात्रितयज्येष्ठापुष्यपौष्णद्विदैवतैः ॥ ४६ ॥

व्याख्या—परिग्रहः स्थापनम् ॥

केन्द्रोपचयधीधर्मेष्वर्केन्दुं ज्ञसुरार्चितैः । शेषैस्त्रिषड्दशायस्थैरादध्याज्जातवेदसम् ॥ ४७ ॥

व्याख्या—शेषैः कुजशुक्रमन्दैः ॥

उदयेऽथ नवांशे वा, राशीनां जलचारिणाम् । उदयस्थे च शीतांशौ, वह्निरह्नाय शाम्यति ॥ ४८ ॥

व्याख्या—उदयो लग्नं । जलचारिण: कर्कमकरकुंभमीनाः । ननु कुंभस्य जलचरत्वरूढिर्नास्ति, सत्यं, परमत्र जले चरतीति यौगिकव्युत्पत्तेर्विवक्षणाद् कुंभोऽपि संगृहीतः । अह्नाय शीघ्रम् ॥

क्रूराः कुर्युर्धने निःस्वमाढ्यं म-तोऽन्नदं विधुः । हन्युश्छिद्रे ग्रहाः सर्वे लग्ने च ज्ञयमौ द्विजम् ॥ ४९ ॥

व्याख्या—अग्न्याधानलग्ने धनभवने यदि क्रूराः स्युस्तदा द्विजो निःस्वः स्यात्, सन्तः सौम्यास्तदा 'आढ्यः' स्यात्, इन्दुश्चेत्तदाऽन्नदः, छिद्रेऽष्टमे चेत्कश्चिद्ग्रहस्तदा मृत्युः । अत्रायं विशेषोऽनुक्तोऽपि ज्ञेयः—"अष्टमस्थे चन्द्रे द्विजपत्न्या मृत्युः, भौमे द्विजस्यैव, रविगुरुशनिषु तु द्विजोऽसाध्यरोगार्त्तः स्यात्, बुधशुक्रयोस्त्वष्टमस्थयोर्न किञ्चित्फलमिति" । लग्ने च ज्ञयमाविति, लग्ने चकाराच्चन्द्रे च, बुधशनियुते द्विजस्य मृत्युरिति रत्नमालाभाष्ये । लल्लस्त्वाह—" लग्ने विधौ वा बुधशौरियुक्ते, लोकाग्निना वह्निरुपैति मङ्क्षु " ॥

जितैरस्तमितैर्नीचशत्रुक्षेत्रगतैरपि । सोमभौमसुराचार्यैराहिताग्निर्न नन्दति ॥ ५० ॥

व्याख्या—एषु सत्सु, आहितोऽग्निर्येन ॥

चन्द्रेऽर्के वा त्रिशत्रुस्थे लग्ने धनुषि वा गुरौ । मेषस्थेरवा १० स्त ७ गे वाऽऽरे यज्वा स्यादात्तपावकः ॥ ५१ ॥

व्याख्या—आरे भौमे । एष्वात्तः पावको येन । यज्वेति याज्ञिकः ॥ इति विप्राद्याधिकारः संपूर्णः ॥

नववाससः प्रधानं वामत्रपौष्णाश्विनादितिद्वितये । करपञ्चकध्रुवेषु च बुधगुरुशुक्रेषु परिधानम् ॥ ५२ ॥

व्याख्या—नववाससः परिधानं प्रधानं स्यादिति योगः । वासवेत्यादि, यदुक्तम्—

" नष्टप्राप्ति १ स्तदनु मरणं २ वह्निदाहो ३ ऽर्थसिद्धि ४, श्चाखोर्भीति ५ मृंति ६ रथ धनप्राप्ति ७ रर्थागमश्च ८ ।
शोको९ मृत्यु१० र्नरपतिभयं११ संपदः१२ कर्मसिद्धि१३, र्विद्यावाप्तिः १४ सदशन१५ मथो वल्लभत्वं जनानाम्१६ ॥ १ ॥

मित्राप्ति १७ रम्बरहृतिः १८ सलिलप्लुतिश्च १९, रोगो २० ऽतिमिष्टमशनं २१ नयनामयश्च २२ ।
धान्यं २३ विषोद्भवभयं २४ जलभी २५ र्धनं च २६, रत्नाप्ति २७ रम्बरधृतेः फलमश्विभात् स्यात् ॥ २ ॥ ”

न च केवलं श्वेतस्यैव, यद्रक्तस्यापि वस्त्रस्य भोगे एतान्येव भानि शुभानीति व्यवहारप्रकाशे। रक्तवस्त्रभोगे पुंसामपि तान्येव भानि शुभानि यानि योषितो वक्ष्यन्ते, इमानि तु श्वेतवस्त्रमेवाश्रित्योक्तानीति तु व्यवहारसारे । बुधेत्यादि, यदुक्तम्—

“ नवाम्बरपरीभोगे कुर्वन्त्यर्कादिवासराः । जीर्णं १ जलार्द्रं २ शोकं ३ च धनं ४ ज्ञानं ५ सुखं ६ मलम् ७ ॥ १ ॥ ”

कम्बलभोगे रविरपि शुभः तत्र तस्योक्तत्वात् । केऽप्याहुः—

“ व्यापार्यते रवौ पीतं बुधे नालं शनौ शिति । गुरुभार्गवयोः श्वेतं रक्त मङ्गलवासरे ॥ १ ॥ ”

योषिद्व्रजेन करपञ्चकवासवाश्वि-पौष्णेषु वक्रगुरुशुक्रदिनेशवारे ।
मुक्ताप्रवालमणिशङ्खसुवर्णदन्त-रक्ताम्बराण्यविधवात्वमतिः सती चेत् ॥ ५३ ॥

व्याख्या—करपञ्चकेति, विशिष्य च—

“ पुष्यं पुनर्वसुं चैव रोहिणी चोत्तरात्रयम् । कौसुंमे वर्जयेद्वस्त्रे भर्तृघातो भवेद्यतः ॥ १ ॥ ”

अत्र कौसुंभवस्त्रस्योपलक्षणत्वात्प्रवालरक्ताम्बरहेमशङ्खादिष्वपि पुष्यादिभानि त्याज्यानि ॥

वासः प्राप्तं विवाहादौ राज्ञा दत्तं च यन्मुदा । विरुद्धेऽपि हि वारर्क्षे तद्वसीताविशङ्कितः ॥ ५४ ॥

व्याख्या—वारर्क्षे इति उपलक्षणत्वाच्चन्द्रादिप्रातिकूल्येऽपि वसीत परिदधीत ॥ क्षितदग्धादिवस्त्रमाश्रित्याह—

कृतनवभागे वाससि कोणेषु सुरास्तथान्तयोर्मनुजाः । असुरास्तु मध्ययोः स्युर्मध्यतमो राक्षसो भागः ॥ ५५ ॥

व्याख्या—वस्त्रस्य नव भागान् कृत्वा तेष्वेवं सुराद्याः स्थाप्याः । तथाहि—

देव श्रेष्ठतमं	असुर	देव श्रेष्ठतमं
मनुज श्रेष्ठं	राक्षस	मनुज श्रेष्ठं
देव श्रेष्ठतमं	असुर	देव श्रेष्ठतमं

ततः—

सुर १ नर २ दनुज ३ पलादाः ४ श्रेष्ठतम १ श्रेष्ठ २ हीन ३ हीनतमाः ४ ।
अन्ताः सर्वेऽप्यशुभा एवं शयनासनाद्येऽपि ॥ ५६ ॥

व्याख्या—यदि तत् क्षितदग्धादि देवांशे स्यात्तदाऽतिश्रेष्ठं, नरांशे तु श्रेष्ठं, असुरांशेऽधमं, रक्षोंऽशेऽत्यधमं, तत्तदंशप्रान्तेषु तु सर्वेष्वपि अनिष्टमेव । यद्भल्लः—

" रुग् राक्षसांशेऽथवाऽपि मृत्युः, पुंजन्म तेजश्च मनुष्यभागे । भागेऽमराणामथ भोगवृद्धिः, प्रान्तेषु सर्वत्र भवत्यनिष्टम् ॥ १ ॥ "

अत्र राक्षसशब्देन असुरा अपि संगृहीताः, अत एव रुगथवा मृत्युरित्युक्तं असुरांशे रुग्, राक्षसांशे तु मृत्युरित्यर्थः । श्रीकल्पाख्यच्छेदग्रन्थवृत्तौ तु श्रीगुरुगच्छयोग्यवस्त्रैषणार्थनिर्गतसाधूनामादौ तादृग्वस्त्रलाभे एवमेव नवभागकल्पनया निमित्तज्ञानमुक्तं । तथाहि—

" देवेसु उत्तमो लाभो माणसेसु अ मज्झिमो । असुरेसु अ गेलन्नं (त्तं) मरणं जाण रक्खसे ॥१॥ "

एवं शयनेति शय्यादिष्वपि नवभागैरेवमेव फलमूह्यमित्यर्थः ॥

क्षिते दग्धेऽथ लिप्तेऽस्मिन् गोमयाञ्जनकर्दमैः । अभुक्ते भूरि भुक्तेऽल्पं फलमेतच्छुभाशुभम् ॥ ५७ ॥

व्याख्या—अस्मिन्निति वस्त्रे परिधीयमाने इति शेषः । भूरीति यदि तद्वासोऽनाहतं तदा शुभाशुभं फलं बहु भुक्ते स्वल्पं । विशेषस्तु—

" छेदाकृतिः श्रिये स्याच्छत्रादिसमा गतापि रक्षोंऽशे । काकोलूकादिसमा न देवभागाश्रिताऽपि पुनः ॥ १ ॥ "

सुलभं स्वं भवेन्न्यस्तं निखातं दत्तमेव वा । मृदुश्रुतित्रयादित्यलघुभेषु शुभेऽहनि ॥ ५८ ॥

व्याख्या—न्यस्तं स्थापनिकायां वाणिज्यव्यवसायादौ वा मुक्तं, निखातं भूम्यादौ, दत्तं व्याजेनार्पितं, नष्टमज्ञानादुगतं तदपि वाशब्देन संगृहीतं । शुभेऽहनीति कुजशनिवर्जवारे । विशेषस्तु—

" ऋणदानमथादानं क्षिप्रधिष्ण्यैर्विधीयते " । तथा—

" निधिलब्धिधनविवर्धनमादित्याद्ब्राह्मणः करात् पौष्णात् । द्वितये श्रवणत्रिनयोत्तरासु मित्राधिदैवे च ॥ १ ॥ "

नष्टं चतुर्भिरन्धाद्यैर्गच्छेत् पूर्वादिषु क्रमात् । तच्चाप्यते सुखाद् १ यत्ना २ त्तद्वार्तैव ३ न साऽपि ४ च ॥ ५९ ॥

व्याख्या—सुखादिति आमन्नस्थाने इति शेषः । अन्धेषु सर्वं लभते, काणेषु त्वर्धमिति केचित् । द्विपादचतुष्पादेष्वन्धेष्वपि दुःखेन लभ्यते, यानि तु त्रिपादत्वेन पादखञ्जानि तेषु सुलोचनेष्वपि लभ्यते इति त्वन्ये ॥ अन्धादित्वमेवाह—

रेवत्यादिचतुष्केषु नामानि प्रतिभं जगुः । अन्ध १ माकेकरं २ चिल्लं ३ सुलोचन ४ मिति क्रमात् ॥ ६० ॥

	अष्टाविंशति नक्षत्रनामानि							दिशा	लाभः
अन्ध	रेवती	रोहिणी	पुष्य	उ० फा०	विशाखा	पू० षा०	धनिष्ठा	पूर्व	शीघ्र
काण	अश्विनी	मृगशिर	अश्लेषा	हस्त	अनुराधा	उ० षा०	शतभि०	दक्षिण	यत्नेन
चिल्ल	भरणी	आर्द्रा	मघा	चित्रा	ज्येष्ठा	अभिजित्	पू० भा०	पश्चिम	वृत्तान्त
सुलोचन	कृत्तिका	पुनर्वसु	पू० फा०	स्वाति	मूल	श्रवण	उ० भा०	उत्तर	अभावः

व्याख्या—आकेकरं काणं । चिल्लं चिप्पटाक्षं । अत्र दिनशुद्धिकृत् प्राह—

" रविरिक्खा छ ब्बाला बारस,
तरुणा य नव परे थेरा ।
तरुणेहिं जाइ थेरेहिं न जाइ,
बाले भमइ पासे ॥ १ ॥ "

न प्रेतकर्म कुर्वीत यमले सत्रिपुष्करे । क्रूरमिश्रध्रुवार्द्रासु तथा मूलानुराधयोः ॥ ६१ ॥

व्याख्या—प्रकर्षेण इतो गतो भवान्तरं प्रेतस्तस्य कर्म लोकरूढं । यमले इति, पञ्चके तु तद्वर्जनं प्रागप्यूचे । रविकुजवारौ चात्र त्याज्याविति दिनशुद्धौ । अन्यत्र त्वेवम्—

" पुष्याश्विनीस्वातिहस्ता ज्येष्ठा श्रवणरेवती । एषु प्रेतक्रिया कार्या रविवारं विना बुधैः ॥ १ ॥ "

मृते साधौ पञ्चदशमुहूर्त्तैर्नैव पुत्रकः । एकत्रिंशन्मुहूर्त्तैस्तु क्षेप्यः शेषैस्तु भेऽद्भौ ॥ ६२ ॥

व्याख्या—भानां पञ्चदशमुहूर्त्तत्वादि प्रागुक्तं । नैवेति अभिजित्यपि न कार्यः पुत्रकः “ अवड्ढ अभिई न कायव्वो ” इत्युक्तेः । क्षेप्य इति पुत्रकः कृत्वा मृतसाधुपार्श्वे स्थाप्यः, संस्कारावसरे मध्य एव क्षेप्यश्चेति रीतिः ॥

सर्पदष्टः सुपर्णेन रक्षितोऽपि न जीवति । मूलार्द्राभरणीयुग्ममघाश्लेषाद्विदैवतैः ॥ ६३ ॥

व्याख्या—न जीवतीति शेषेषु जीवतीत्यर्थः । मूलेत्यादि, विवेकविलासे त्वेवम्—

“ मूलाश्लेषामघाः पूर्वात्रयं भरणिकाश्विनी । कृत्तिकार्द्रा विशाखा च रोहिणी दष्टमृत्युदाः ॥ १ ॥ ” तथा—

“ तिथयः पञ्चमी षष्ठ्यष्टमी नवमिका तथा । चतुर्दश्यप्यमावास्याऽहिना दष्टस्य मृत्युदाः ॥ २ ॥

दष्टस्य मृतये वारा भानुभौमशनैश्चराः । प्रातःसन्ध्यास्तसन्ध्या च संक्रान्तिसमयस्तथा ॥ ३ ॥ ” इत्यादि ॥

जातरोगस्य पूर्वार्द्रास्वातिज्येष्ठाहिभैर्मृतिः । भवेन्नीरोगता रेवत्यनुराधासु कष्टतः ॥ ६४ ॥

मासान्मृगोत्तराषाढे विंशत्यह्नां मघासु च । पक्षेण तु द्विदैवत्ये धनिष्ठाहस्तयोस्तथा ॥ ६५ ॥

व्याख्या—उत्तराषाढेति, अभिजिज्जातरोगस्य मासद्वयेन मृत्युरारोग्यं चेति वृद्धाः ॥

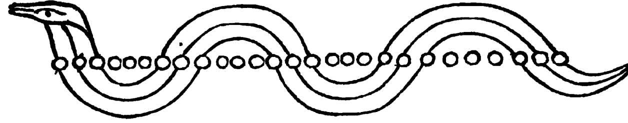
भरणीवारुणश्रोत्रचित्रास्वेकादशाहतः । अश्विनीकृत्तिकारक्षोनक्षत्रेषु नवाहतः ॥ ६६ ॥

आदित्यपुष्याहिर्बुध्नरोहिण्यार्यमणेषु तु । सप्ताहादिह ताराया यदि स्यादनुकूलता ॥ ६७ ॥

व्याख्या—ताराया इति “ शुक्लेऽप्यासुस्थिते रोगे ” इत्युक्तेः ॥ अत्र प्रसङ्गान्मृत्युज्ञानं लिख्यते—

“ आइच्चाइ धरेविभुअंगह, पनरहमाहि ठवे विणु अंगह । बारह बाहिरि तस्स य दिज्जइ, जीवियमरण फुडं जाणिज्जइ ॥ १ ॥ ”

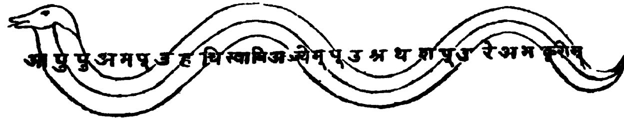
रव्याक्रान्तभमादौ दत्वा भुजङ्गस्थापना यथा—स्थापना यथा नं. २.



अत्र ये ये ग्रहा येषु येषु भेषु स्युस्ते ते तेषु तेषु भेषु देयाः, ततोऽर्कभाद्रोगिनामभं यावद् गण्यते । यद्याद्यनाडीमध्ये प्रथमं १ नवमं ९ त्रयोदशं १३ एकविंशं २१ पञ्चविंशं २५ वा स्यात्तदा मरणं । यदि द्वितीयनाडीमध्ये द्वितीयं २ अष्टमं ८ चतुर्दशं १४ विंशं २० षड्विंशं २६ वा स्यात्तदा बहुक्लेशः । यदि तु तृतीयनाडीमध्ये तृतीयं ३ सप्तमं ७ पञ्चदशं १५ एकोनविंशं १९ सप्तविंशं २७ वा स्यात्तदाऽल्पक्लेशः । शेषद्वादशभेषु आरोग्यं । शुभाशुभग्रहवेधाच्च विशिष्य शुभाशुभं वाच्यं । यतिवल्लभे त्वेवमेव चक्रमार्द्रामादौ दत्वा स्थाप्यमूचे—

" आर्द्राद्यैः पञ्चदशभिस्त्रीणि त्रीण्यन्तरा त्यजन् । त्रिनाडिचक्रे चन्द्रा १ र्क २ जन्म ३ वेधे न जीवति ॥ १ ॥ "

त्रिनाडिकचक्रस्थापना यथा—नं. ३.

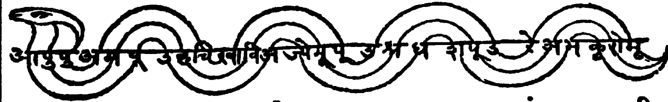


चन्द्रार्कजन्मेति, अयं भावः—'सूर्येन्द्वोर्भं रोगिणश्चैकनाड्यां चेत्स्यान्मृत्यू रोगकाले नरस्य' इति । दिनशुद्धिग्रन्थे तु त्रयत्रयत्यागं विनाऽप्यार्द्रादिचक्रस्थापनं फलं चैवमूचे, तथाहि—

" आई अद्दा मिगं अंते, मज्झे मूलं पइट्ठिअं ।
रविंदू जम्मनक्खत्तं, तिविद्धो न हु जीवई ॥ १ ॥ "

ततश्च—"रविंदुजम्मनक्खत्तं एकनाडीगयं जया ।
तया दिणे भवे मच्चू नत्रहा जिणभासिअं ॥२॥" केऽप्यत्रैवमप्याहुः—

एतत्सूचितत्रिनाडिकचक्रस्थापनेयम्—नं ४.



" रोगिणो जन्मऋक्षस्य एकनाड्यां यदा रविः ।
यावदृक्षं रवेर्भोग्यं तावत्कष्टपरंपरा ॥ १ ॥
रोगिणो जन्मऋक्षस्य एकनाड्यां यदा शशी । तदा पीडां विजानीयादष्टप्राहरिकीं ध्रुवम् ॥ २ ॥ "

क्रूरग्रहास्तदाऽन्ये तु यदि तत्रैव संस्थिताः । तदाऽकाले भवेन्मृत्युः सत्यमीशानभाषितम् ॥ ३ ॥ ”

एतैरन्यैश्च प्रकारैर्विभाव्य क्रूरग्रहदशेन्दुप्रातिकूल्यतिथ्यादिच्छेदादिभिर्यथाम्नायं रोगिणो मृत्युममयो निर्णेयः ॥

भैषज्यमिष्टं मृगवारुणानुराधाधनिष्ठाश्रुतिरेवतीषु । पुष्याश्विनीराक्षसहस्तचित्रापुनर्वसुस्वातिषु देहपुष्ट्यै ॥६८॥

व्याख्या—भैषज्यं रसायनादि । वारविशेषेऽनुक्तेऽपि सर्वत्र सौम्यवारा ग्राह्याः, इह स्वर्कोऽपि, भैषज्यस्य तन्नोक्तेः । एवं हय १ गजकर्म २ पशुविधि ३ नाटक ४ वापी ५ कूप ६ राम ७ बालनामस्थापन ८ वेश्मकरण ९ हयवाहन १० बीजोप्ति ११ नगरादितोरणोच्छ्रय १२ सुरपूजादि १३ सर्वमंगल्यकर्मस्वपि विशेषानुक्तं सौम्यवारा रविवारश्च ग्राह्या इत्यूह्यम् ॥

स्नानमुल्लाघनस्येष्टं वारयोर्नेन्दुशुक्रयोः । ब्राह्मपौषणोत्तराश्लेषादित्यस्वातिमघासु च ॥ ६९ ॥

व्याख्या-उल्लाघनं नीरुजीकरणं। वारेषु शुक्रेन्दू, भेषु ब्राह्मादीनि च त्याज्यानि । पू (पौ)र्णभद्रे बुधगुरू, हर्षप्रकाशे शनिश्च त्याज्या उक्ताः ॥

अभ्यंगमर्ककुजजीवमितेषु पर्व-संक्रान्तिविष्टिषु विवर्जितयोगयुग्मे ।
कुर्याद् द्वि२ षड्६ भुजग८ दिक्१० तिथि१५ शक्र१४ विश्व१३-संख्ये तिथौ च न कदाचन भूतिकामः॥७०॥

व्याख्या—अभ्यङ्गमिति स्वास्थ्येन तैलाभ्यङ्गयुतं स्नानमित्यर्थः । पर्वाण्यर्केन्दुग्रहणदीपोत्सवादीनि । संक्रान्तीति सूर्यसंक्रमणदिवसे । योगौ व्यतिपातवैधृत्याख्यौ, व्रणमुक्तस्य तु व्यतिपातविष्टयोरपि न स्नाननिषेधः । उक्तञ्च—

“ रविमन्दारवारेषु विष्टौ वा व्यतिपातके । स्नातव्यं व्रणमुक्तेन शशिन्यशुभतारके ॥ १ ॥ ”

भुञ्जीतान्नं नवं दत्त्वा शुभेऽह्नि ध्रुवचान्द्रभे । पुनर्वसुकरश्रोत्ररेवतीनां द्वयेषु च ॥ ७१ ॥

व्याख्या—द्वयेष्विति, एवमष्टौ भानि ॥

राजावलोकनं कुर्यान्मृदुक्षिप्रध्रुवोडुभिः । वासवश्रवणाभ्यां च सुधीः सर्वार्थसिद्धये ॥ ७२ ॥

व्याख्या—राजेति, यो यस्य स्वामी स तस्य राजा ॥

गजवाजिकर्म नेष्टं रौद्रे पूर्वा ३ त्तग ३ विशाखासु । भरणित्रिनयाश्लेषाद्विनयज्येष्ठाद्वयेषु तथा ॥ ७३ ॥

व्याख्या—गजानां कर्म शान्तिकदन्तकर्तनादि । अश्वानां शान्तिकनीराजनादि । रौद्रे इत्यादि शेषेषु तु कार्यमित्यर्थः । सामान्योक्तेऽपि चायं विशेषो ज्ञेयः—“ अश्विनी १ पुनर्वसु २ पुष्य ३ हस्तत्रयेषु ६ गजानां, तथाऽश्विनी १ मृग २ पुनर्वसु ३ पुष्य ४ हस्त ५ स्वाति ६ धनिष्ठा ७ शतभिषक् ८ रेवती ९ ष्वश्वानां च कर्म कार्यमिति ” ॥

गवां स्थानं च यानं च प्रवेशश्च न शस्यते । तिथौ भूताष्टदर्शाख्ये श्रोत्रचित्राध्रुवे च भे ॥ ७४ ॥

व्याख्या—गवामित्युपलक्षणत्वाद् गजतुरगमहिष्यादीनामपि । स्थानमिति बन्धनार्थं स्थानकरणं यानं गोचरादौ । प्रवेशो गृहादौ । भूतेति चतुर्दशी ॥

क्रयविक्रयौ न हि गवां हस्तज्येष्ठाश्विनीधनिष्ठाभ्यः । अन्यत्र पौषणवारुणराधादित्यद्वयेभ्यश्च ॥ ७५ ॥

व्याख्या—अन्यत्रेति हस्तादिष्वेव कार्यावित्यर्थः । अपि च—

“ तीक्ष्णेषु पशुं दमयेत् दारुण्यं न ध्रुवेषु संग्राह्यम् । पशुपोषणं विधेयं चरेषु दीक्षा रतं मृदुषु ॥ १ ॥ ” इति लल्लः ॥

लस्य वाहनारंभं न हि कुर्वीत कर्हिचित् । पूर्वासु कृत्तिकासार्पज्येष्ठार्द्राभरणीषु च ॥ ७६ ॥

व्याख्या—वाहनारंभमिति प्रथमं हलेन भूम्युल्लेखनम् ॥ क्षेत्रारंभदिने किं भं ग्राह्यमित्यत्रार्थे हलचक्रमाह—

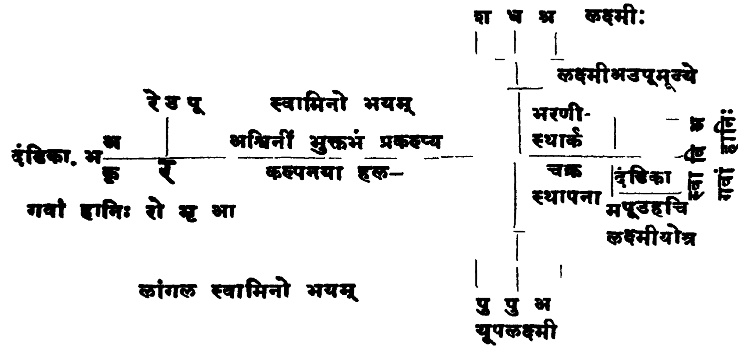
हलचक्रेऽर्कमुक्ताद्भात्रयं नेष्टं शुभं त्रयम् । त्यजेन्नव शुभाय स्युः कृषौ भानि त्रयोदश ॥ ७७ ॥

व्याख्या—अर्कमुक्तादिति अर्केण भुक्त्वा मुक्ताद्भादारभ्याष्टाविंशतिभानि हलचक्रे एवं स्थाप्यानि । तथाहि—

“ लाङ्गलं दण्डिका यूपं योत्रद्वयसमन्वितम् । हलं न्यस्य लिखेद्भानि रविणा भुक्तधिष्ण्यतः ॥ १ ॥

दण्डिकाहलयूपानां द्विद्वयन्तेषु त्रयं त्रयम् । योत्रयोः पञ्चके न्यस्य गणना चक्रलाङ्गले ॥ २ ॥ ''

अत्र चाश्विनीं भुक्तभं प्रकल्प्य, भरणीस्थार्ककल्पनया हलचक्रस्थापना यथा—



ततश्च—''दण्डिकास्थे गवां हानिर्यूपस्थे स्वामिनो भयम् ।
लक्ष्मीर्लाङ्गलयोत्रस्थे क्षेत्रारंभदिनर्क्षके ॥ १ ॥ ''

इति नरपतिजयचर्यायां । अत एव त्रयं नेष्टमिति, दण्डिकामूलस्थं त्रयं नेष्टं, तदग्रे हलाधःस्थत्रयं शुभं, दंडिकामुखयूपप्रान्तद्वयसत्कानि नव त्यजेत्, शेषाणि त्रयोदश भानि योत्रद्वयहलशीर्षस्थानि शुभानि । उक्तञ्च व्यवहारप्रकाशे—

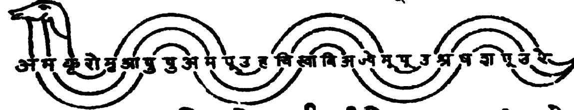
'' पूष्णो भुक्तभतस्त्रयं न शुभदं श्रेष्ठं चतुर्थात्त्रयम्,
न श्रेष्ठं त्रितयं च सप्तमभतो दिग्भाच्छुभं पञ्चकम् ।
सीरेऽग्र्यं त्रितयं न पञ्चदशतोऽप्यष्टादशात् पञ्चकं,
श्रेष्ठं नैव शुभं त्रयं च विकृतेः२३ षड्विंशतेः सत्त्रयम् ॥१॥''

बीजोप्तौ प्रतिषिद्धानि पूर्वाभरणीद्वयम् । सार्पादित्यश्रुतिज्येष्ठाविशाखावारुणान्यपि ॥ ७८ ॥

व्याख्या—प्रतिषिद्धानीति, शेषमेषु तु सर्वबीजानामुप्तिः शुभतरा स्यादित्यर्थः । परं पूर्वोक्तचक्रशुद्धेषु शेषमेष्विति ज्ञेयमिति रत्नमालाभाष्ये । विशेषस्तु—

'' स्थाप्योऽहिः सूर्यमुक्ताद्भात्रिनाड्येकान्तरक्रमात् । मुखे त्रीणि गले त्रीणि भानि द्वादश चोदरे ॥ १ ॥
वेदाः ४ पुच्छे बहिः पञ्च दिनभाच्च फलं वदेत् । क्ष्वेडमअनमन्नाप्तिः क्रमान्निष्कणतेतिभीः ॥ २ ॥ ''

मुखस्थे त्रिके क्ष्वेडं सस्यानामवृद्धिः स्यात् । गलस्थे त्रिकेऽञ्जनमञ्जारकपातः । उदरस्थे द्वादशके वृद्धिः । पुच्छस्थे चतुष्के निस्तण्डुलता बग-मरमिति यस्य नाम । बहिःस्थे पञ्चके मूषकादीतीनां भीः । त्रिनाडीकफणिचक्रस्थापना यथा—नं ५



इदं बीजोप्तिदिनर्क्षे विचार्यमिति रत्नमालाभाष्ये । व्यवहारप्रकाशेऽप्युक्तम्—

" अर्कभुक्ताष्टमात्रीणि द्वादशाद्य त्रयं शुभम् ।
बीजोप्तौ षोडशात्रीणि एकविंशात्तथा त्रयम् ॥" इदं द्वादश शुभानि शेषाण्यशुभानि॥

कृषिरूचे सूर्यक्षादिषु ५ कु १ रसे ६ न्द्व १ ग्नि ३ भू १ रसे ६ न्दु १ युगैः ४ ।
असुख १ सुख २ मध्य ३ लाभा ४ रति ५ रति ६ मध्या ७ र्थे ८ दुःख ९ कृत्क्रमशः ॥ ७९ ॥

व्याख्या—अत्र कृषिचक्रे शनिचक्रवदनुक्तोऽपि नराकारोऽभ्यूह्यः, ततो मुखादिनवस्थानेषु सूर्यभादारभ्याष्टाविंशतिभान्येवं स्थाप्यानि, यथा—

कृषिपुरुषः		
मुखे	५	असुखं
दक्षिणकरे	१	सुखं
पादद्वये	६	मध्यमं
वामकरे	१	लाभः
उदरे	३	अरतिः
मस्तके	१	रतिः
नेत्रद्वये	६	मध्यमं
गुदे	१	लक्ष्मीः
गुह्ये	४	दुःखं

जलाशयं न कुर्वीताश्विनीभरणिमिश्रभैः। आजपादश्रुतिस्वातिभाग्यदारुणभैस्तथा ॥८०॥

व्याख्या–जलाशयं वापीकूपतडागादिकं। आजपादं पूर्वभाद्रपदा। भाग्यं भगदैवतं पूर्वफल्गुनी। दारुणान्यश्लेषादीनि॥

न वृक्षरोपणं कुर्यात्क्रूरार्द्रादित्यवह्निभैः। अश्लेषामारुतज्येष्ठाधनिष्ठाश्रवणैरपि ॥ ८१ ॥

व्याख्या—आदित्यं पुनर्वसु । मारुतं स्वाति ॥

नृत्तं मैत्रे स्याद्धनिष्ठाद्वये वा, हस्तज्येष्ठापुष्यपौष्णोत्तरे ३ वा ।
संधानाद्यं नाचरेत्किं च मुक्त्वा, धिष्ण्यं क्रूरं दारुणं वारुणं वा ॥ ८२ ॥

व्याख्या–उत्तरास्तिस्रः। एषु नाटकं कर्तुं शिक्षितुं वा प्रारभ्यते । संधानाद्यमिति मदिरादिकं नाचरेत्न कार्यमित्यर्थः ॥

इत्युक्तान्यत्र विमर्शे नामग्राहमेनान्युपयोगीनि कार्याणि। सन्ति चान्यान्यपि शुभाशुभानि कार्याणि। तेषामयं संक्षेपः पूर्णभद्रोक्तः–

" रित्ततिहि असुहजोगे कूरविलग्गाइ कूरवारे अ । आयरह कसिणपक्खं असुहे अन्नत्थ विवरीअं ॥ १ ॥ "

अत्र 'कूरविलग्गाइ त्ति' यल्लग्नं क्रूरषड्वर्गं क्रूरग्रहाध्यासितं क्रूरदृष्टं वा, आदिशब्दान्नक्षत्रेष्वपि तीक्ष्णोग्रमिश्रेषु क्रूरग्रहाध्यासितेषु पातोपग्रहाविहतेषु वा । 'क्रूरवारे अ' त्ति चशब्दात् क्रूरग्रहहोरायां क्रूरकरणे च विष्ट्याख्ये । "अन्नत्थ विवरीअं ति" शुभे कार्ये तिथ्यादीनि सर्वाणि शुभान्येवादरणीयानि। लग्नमपि शुभषड्वर्गं शुभग्रहाध्यासितं शुभदृष्टं वा। भान्यपि कार्यानुसारेण चरलघुमृदुध्रुवाणि सौम्यग्रहाध्यासितानि ग्राह्याणीत्यर्थः । न चैतेषु कार्येषु कश्चिल्लग्नस्याग्रहः, "लग्नं विवाहे दीक्षायां प्रतिष्ठायां च शस्यते" इति च वक्ष्यमाणत्वात् । ये पुनरेतेष्वपि लग्नमादरीतुमिच्छन्ति, तेषां कृतेऽस्मिन् विमर्शे मौञ्जीबन्धाद्यग्निपरिग्रहान्तकार्याणामग्रेतनविमर्शे च यात्रायाः वास्तुनिवेशप्रवेशयोश्च सूत्रकृतैत्र लग्नबलान्युक्तानि । येषु तु नोक्तानि तेष्वेवं—

" शुक्रेज्ययोर्बलवतोः शेषेष्वबलेषु पुंप्रसवयोगे । द्विपदे लग्ने शीर्षोदयिनि च गुरुशुक्रयुतदृष्टे ॥ १ ॥
यद्वा त्रिकोणकेन्द्रस्थितयोरनयोः स्वजन्मलग्ने वा । लग्नोपचयगे चन्द्रे ऋतौ सुतार्थी भजेद्भार्याम् ॥ २ ॥ "

अत्र पुंप्रसवेति पुंप्रसवयोगो जातकोक्तः । स चैवम्—

" विषमर्क्षे विषमनवांशसंस्थिता गुरुशशांकलग्नार्काः । पुंजन्मकराः समभेषु योषितां समनवांशगताः ॥ १ ॥
बलिनौ विषमेऽर्कगुरू नरं स्त्रियं समग्रहे कुजेन्दुसिताः । लग्नाद्विषमोपगतः शनैश्चरः पुत्रजन्मकरः ॥ २ ॥ " इत्याधानम् १ ।
सीमन्तकर्म पुरुषे लग्नेऽंशे च त्रिकोणकेन्द्रस्थे । जीवे त्रिकोणकेन्द्रव्ययाष्टमेष्वशुभरहितेषु ॥ ३ ॥ इति सीमन्तकर्म २ ।
गुरौ भृगौ वा केन्द्रस्थे मिश्रतीक्ष्णोग्रवर्जिभे । जातकर्म शिशोः कुर्यान्नामविन्यसनं तथा ॥४॥ इति जातकर्म ३ नामस्थाने ४ ।
कर्णवेधः शुभे लग्ने सौम्यग्रहविलोकिते । क्रूरोज्झिते च लाभत्रिसंस्थैः सौम्यग्रहैः शुभः ॥ ५ ॥ इति कर्णवेधः ५ ।

अन्नप्राशनलग्ने मूर्त्यादिस्थे ग्रहे फलमेवम्—

क्षीणे चन्द्रे भिक्षुः संपूर्णे सत्रदश्च यज्वा स्यात् । ज्ञेज्यसितैर्लग्नस्थैर्नीरुक्क्रूरैर्महाव्याधिः ॥ ६ ॥
निधनत्रिकोणकेन्द्रान्त्यगैः फलं तद्वदेव तनुगेषु । लग्नात् षष्ठाष्टमगश्चन्द्रोऽनिष्टः शुभयुतोऽपि ॥ ७ ॥ इति पूर्वाशनम् ६ ।

क्षौरं शुभकर्मिष्टैः केन्द्रस्थैर्नो शुभं ग्रहैः क्रूरैः । द्वादशधनत्रिकोणाष्टगैर्भवेद्सुखवृद्धिकरम् ॥ ८ ॥ इति क्षौरम् ७ ।
चूडा शुभाय क्षुरकर्ममेषु,सौम्येषु केन्द्रे म्रियते कुजेऽब्जात् । क्षीणे क्षयायोडुपतौ जराय, भानुः सुतस्तस्य च पङ्गुताप्त्यै॥९॥इति चौलम् ८।
सौम्यैर्दशमोपगतैर्लग्ने चन्द्रात्मजे गुरौ वाऽपि । विद्याशिल्पारम्भौ जीवेन्दुजवर्गगे चन्द्रे ॥ १० ॥ इति विद्या ९ शिल्पारंभौ १० ।
बुधे विलग्ने शशिनि झराशौ गुरुवीक्षिते । हिबुकस्थैः शुभैर्नृत्यं काव्यं चारभ्यते बुधैः ॥ ११ ॥ इति नाट्य ११ काव्यारंभौ १२ ।
शीतांशौ बुधराशिस्थे शुभेषूदयवर्तिषु । मंत्रादिग्रहणं कार्यं हित्वा पापग्रहोदयम् ॥ १२ ॥ इति मंत्रादिग्रहणम् १३ ।
पित्र्येशयाम्यमूलेन्दुमेषु शुद्धेऽष्टमेऽपि च । वेतालसिद्धिः पाताले भृगौ ज्ञे कुभलग्नगे ॥ १३ ॥ इति वेतालमंत्रादिसाधनम् १४ ।
हिबुकेऽर्के गुरौ लग्ने धर्मारंभो रवेर्दिने । गुरुज्ञलग्नवर्गे वा शुभारंभास्तयोर्बले ॥ १४ ॥ इति धर्मारंभ १५ नन्द्यादिके १६ ।
मोक्षार्थिनां च दीक्षा स्थिरोदये कर्मगे त्रिदशपूज्ये । पापैर्धर्मप्राप्तैर्बलहीनैः प्रव्रजितयोगे ॥ १५ ॥

अत्र प्रव्रजितेति चतुरादिभिर्ग्रहैरेकस्थानस्थैः प्रव्रज्यायोगः । तथा जन्मनि यत्र राशौ चन्द्रस्तद्राशीशोऽन्यग्रहैरदृष्टः सन्, शनिं पश्येत्तदा प्रव्रज्यायोगः । यदि वा तद्राशीशं तथाविधं शनिः पश्येत्तदापि प्रव्रज्यायोगः ॥ इति दीक्षा १७ ।

पूर्णे चन्द्रे वेश्म ४ गेऽर्केऽम्बर १० स्थे जीवे लग्ने वाक्पतेर्वासरे च ।
श्रीमन्त्यायुष्याणि कार्याणि कार्याण्युक्तस्तस्मिन्नेव राज्याभिषेकः ॥ १६ ॥ इत्यायुष्यकार्याणि १८ ।

वस्त्रग्रहणं कुर्यात् क्रूरैस्त्यक्ताष्टमान्तिमैर्लग्ने । उपचयमेषु च सद्भिर्दृष्टेष्विन्दावुपचयस्थे ॥ १७ ॥ इति वस्त्रव्यापारः १९ ।
औषधसेवा विहिता शुभाय बलवत्सु सौम्यखेटेषु । निधनान्त्यसप्तमरिपुत्यक्ते क्रूरे विना रिष्टम् ॥ १८ ॥

बिना रिष्टमिति रिष्टयोगा जातकोक्तास्तदभावे इत्यर्थः । इत्यौषधसेवा २० ॥

लग्ने चरे केन्द्रगते च जीवे, क्रूरे दिने रिक्ततिथौ कृशेन्दौ ।
केन्द्रत्रिकोणोपगतैश्च पापैः, स्नानं हितं रोगविमुक्तिकाले ॥ १९ ॥ इति नीरुक्स्नानम् २१

भौमे दिवाकरे वा दशमायगते शुभग्रहैर्विलग्ने । विद्यायुधोपजीवी योनिवशादाश्रयेदीशम् ॥ २० ॥

योनिवशादिति श्वेणं हरिभमित्यादिकं योनिवैरं त्यक्त्वेत्यर्थः । इति नृपादिसेवा २२ ॥

लग्नस्थिते शुभे शुद्धेऽष्टमे धिष्ण्ये स्वयोनिके । रक्षावृद्धिः क्रयश्चापि पशूनां शोभनो भवेत् ॥ २१ ॥

स्वयोनिके इति उरूणां योऽश्योऽश्वद्विपेत्यादिना यः पशुस्तद्योनिके नक्षत्रे । इति पशुकर्म २३ ॥

दौर्बल्ये पापानां शुक्रेन्दुबले गुरौ विलग्नस्थे । चन्द्रे जलराशिस्थे कुर्यात् कृषिकर्मबीजवृक्षोप्तीः ॥२२॥ इति कृषिकर्म२४ बीज२५ वृक्षोप्तयः२६।

तोयानां कर्माणि प्रोक्तानि बुधोद्गमे गुरोरुदये । चन्द्रे जलचरराशौ रव १० स्थसिते दुर्बलैरशुभैः ॥ २३ ॥ इति जलाश्रयादि २७ ।

शुभदा यद्वयोमचरैः सौम्यैर्लग्नाश्रवित्तलाभगतैः । क्रूरैर्व्ययायाष्टवर्जं विपणिः सेन्दौ सिते लग्ने ॥ २४ ॥ इति विपणिः २८ ।

वित्तप्रयोगकालश्चरोदये पुत्रधर्मकेन्द्रेषु । शुभयुक्तेष्वथ निधने ग्रहरहिते शोभनः प्रोक्तः ॥ २५ ॥ इति वित्तप्रयोगः २९ ।

दशमैकादशे लग्ने वित्तकेन्द्रत्रिकोणगैः । शुभैः पण्यस्य कर्मोक्तं वर्जयित्वा घटोदयम् ॥ २६ ॥

दशमैकादशे इति स्वजन्मराशेर्जन्मलग्नाद्वेति शेषः । पण्यं भाण्डं रिक्तकुम्भधारिपुरुषरूपत्वात् कुम्भलग्नस्य वर्जनम् । इति क्रयविक्रयौ ३० ।

चन्द्रोदये तद्दिवसे केन्द्रे ज्ये रससंग्रहः । स्तेयस्य समयो लग्ने बुधे भौमे नभःस्थिते ॥ २७ ॥

अत्र चन्द्रोदये इति लग्नस्थे चन्द्रे । केन्द्रे ज्ये इति केन्द्रस्थे गुरौ । इति रससंग्रह ३१ स्तेये ३२ ॥ किं बहुना ?

व्ययनैधनसंशुद्धौ सदृशोपचयोदये । सर्वारम्भेषु संसिद्धिश्चन्द्रे चोपचयस्थिते ॥ २९ ॥

सदृशोपचयोदये इति, इष्टपुंसो जन्मलग्नाज्जन्मराशेर्वोपचयस्था ये राशयस्तेषु लग्नस्थेषु ।

प्रायः शुभा न शुभदा निधनव्ययस्था, धर्मान्त्यधीनिधनकेन्द्रगताश्च पापाः ।

सर्वार्थसिद्धिषु शशी न शुभो विलग्ने, सौम्यान्वितोऽपि निधनं न शिवाय लग्नम् ॥ ३० ॥

अत्र निधनमिति, इष्टपुंसो जन्मलग्नाज्जन्मराशितो वाऽष्टमं लग्नं क्वापि कार्ये न ग्राह्यमित्यर्थः ॥ क्रूरकर्म पुनरेवम्—

जन्मलग्न
राशितोऽष्ट-
मं लग्नं
वर्ज्यम् ॥

अभिचारविधिर्बलवाष्टमे क्रूरस्य योगवर्गस्थे । रिपुनिधने लग्नस्थे रिष्फगते बुधे बलिनि ॥ ३१ ॥

अभिचारो मन्त्रादिभिरुच्चाटनं । रिपुनिधने इति, रिपोर्जिघांसितस्य जन्मलग्नाज्जन्मराशेर्वा योऽष्टमो राशिस्तस्मिँल्लग्नस्थे सति इत्यादि । एषु यानि निरवद्यकर्माणि तानि शुभेच्छुभिरादरणीयानि, यानि तु धर्मबाधकानि तानि पापभीरुभिः परिहरणीयानि, न च सावद्यप्रवृत्तेभ्यः प्ररूपणीयानि ॥

॥ इति कार्यद्वारम् ॥ ७ ॥

॥ इति श्रीमति आरम्भसिद्धिवार्तिके कार्यपरीक्षात्मकस्तृतीयो विमर्शः ॥ ३

श्रीसूरीश्वरसोमसुन्दरगुरोर्निःशेषशिष्याग्रणी-र्गच्छेन्द्रः प्रभुरत्नशेखरगुरुर्देदीप्यते साम्प्रतम् ।
तच्छिष्याधवहेमहंसरचितस्यारंभसिद्धेः सुधी-शृङ्गाराभिधवार्तिकस्य शिवदृक् ३ संख्यो विमर्शोऽभवत् ॥ १ ॥



॥ अथ गमद्वारम् ॥ ८

अथ गमद्वारं वदन्नादौ प्रस्थानविधिमाह—

प्रस्थानमन्तरिह कार्मुकपञ्चशत्याः, प्राहुर्धनुर्दशकतः परतश्च भूत्यै ।
सामान्य १ मांडलिक २ भूमिभुजां ३ क्रमेण, स्यात् पञ्च सप्त दश चात्र दिनानि सीमा ॥ १ ॥

व्याख्या—प्रस्थानं प्रसिद्धं, यत्किल यात्रामुहूर्त्तसाधनाय क्रियते, तत्करणे च तिथिवारनक्षत्राणि तान्येव ग्राह्याणि यानि यात्रायां वक्ष्यति । तच्च राजादिराचार्यादिश्च स्वयं देहेन कुर्यात् छत्रधनुःस्वखड्गशयनासनायुधसन्नाहदर्पणादि प्रास्थानिकमक्षतमालापुस्तकादि वा वस्तु, गन्धार्चादिपूर्वं प्रस्थापयेत् श्वेतवस्त्राण्यपि, न तु कृष्णजीर्णादि, नापि शस्त्रमद्यौषधलवणस्नेहगुडोपानत्प्रभृति अन्यदप्युपहतं वस्तु वा । कार्मुकेति चतुर्विंशत्यङ्गुलमानैश्चतुर्भिर्हस्तैर्धनुः । प्रस्थानं यातां दक्षिणपार्श्वे साधनीयमिति वृद्धाः । सामान्येति, भूमिभुजो महानृपाः, मांडलिका मंडलेशा, ताभ्यामन्ये ये ते समाना एव, समानावादन्योऽन्यमिति स्वार्थे यणि सामान्याः, वाचस्पतिमते पुल्लिंगोऽयं शब्दः । दश चेति महानृपः प्रस्थानं प्राप्त एकत्र स्थाने दशाहं नोल्लंघेत दशदिनमध्य एव पुरस्तात्प्रयाणं कुर्यादित्यर्थः । एवं पञ्च सप्तेत्यत्रापि भाव्यं । अथ कार्यवशात्तिष्ठेत् प्रास्थानिकं वा स्थापयेत् तदा पुनरन्येन सुमुहूर्त्तेन प्रस्थानकादग्रतश्चलेत्, न तु प्रथममुहूर्त्तबलेन । विशेषस्तु—कतरदप्युद्दिष्टस्थानं प्रति सुलग्नमुहूर्त्ते प्रस्थितो नृपादिर्बहूनि प्रयाणानि गत्वा क्वचिदेकत्र प्रदेशे चेत्तिष्ठति, तत्र परमतान्येवं—"यदि क्वचित् पथि त्रिदिनीं स्थितस्तदाऽग्रे पुनरन्यसुमुहूर्त्तबलं गृहीत्वा चलनीयमिति" गौतमः । पञ्चाहस्थिताविति वसिष्ठः । सप्ताहस्थिताविति च्यवनः । लल्लोऽप्याह—

" योधानामविरोधेन तोयेन्धनवशेन वा । त्र्यादिरात्रोषितां सेनां पुनर्भद्रेण योजयेत् ॥ १ ॥ "

परमेतानि मतान्ययुक्तानि । यतः प्रथमे सुनिश्चिते लग्ने प्रस्थितो यावत्स्वगृहं नायाति तावत्तदेव लग्नमिति बहूनां सम्मतं मतमिति रत्नमालाभाष्ये । तथा एकेन सुमुहूर्तसुलग्नेन प्रस्थित एकामेव यात्रां कृत्वा पश्चान्निवर्तेत, न तु प्रथमलग्नमुहूर्तबलेनैव द्वितीयामपि यात्रां कुर्यात् । यदाहुः—"संसाध्यैकां यात्रां वीर्यादवहीयते ग्रहः सर्वः" । नौप्रस्थानं त्वेवं व्यवहारसारे—

" रेवत्यां तु समुत्थानं श्रेष्ठं स्वामिहितावहम् । अश्विन्यां गतगामित्वं नौर्भवेद्बहुरत्नभृत् ॥ १ ॥
अनुराधामृगे चैव धनिष्ठा हस्तवैष्णवे । प्रस्थापयेत्ततो नावं सर्वकामसमृद्धये ॥ २ ॥
पूर्वाफल्गुनीसौम्ये च हस्तचित्रासु वैष्णवे । वादित्रमङ्गलैश्चापि पोतं संचारयेज्जले ॥ ३ ॥ "

प्राक् सीमाकथनेन पञ्चमेऽह्नि चलनीयमेवेति नियमितं । अथ यात्रार्हाणां नवनक्षत्राणां मध्यात् यैर्नक्षत्रैः कृतप्रस्थानेन पुंसा पञ्चम्यो दिनेभ्योऽर्वागपि चलनीयं तान्याह—

श्रुतौ तदहरन्येद्युर्धनिष्ठापुष्यपौष्णभे । तृतीये मैत्रमृगयो हस्तेन तुर्येऽहनि व्रजेत् ॥ २ ॥

व्याख्या—चेत् प्रस्थानं श्रवणे कृतं तदा तद्दिन एव प्रस्थानादग्रतश्चलनीयं । तदहरित्याधारस्य " कालाध्वभावे " त्यनेन कर्मत्वे द्वितीया । अन्येद्युरिति अन्यत्र द्वितीयेऽह्नि अन्येद्युः, " पूर्वापराधरोत्तरादेद्युस् " इत्याद्युस् प्रत्यये "अधणूसु" इत्यव्ययत्वं । तुर्येऽहनीति पारिशेष्यादश्विनीपुनर्वस्वोः कृतप्रस्थानेन पञ्चमदिनेऽग्रतश्चलनीयमेव, एवं सप्ताहदशाहयोरपि यथासंप्रदायमर्वाग्दिननियमोऽभ्यूह्यः ॥ प्रस्थाने समयशुद्धिमाह—

यात्रा दिनतिथिताराबलशुद्धौ मृगकरानुराधासु । आश्विनपौष्णधनिष्ठाश्रुत्यादित्यद्वये श्रेष्ठा ॥३॥ व्याख्या—दिनेति ।

" रयछन्न १ मब्भच्छन्नं २ पयंऽपयणं ३ तहा सनिग्घायं ४ । सुरधणु ५ परिवेस ६ दिसादाहाइ ७ जुअं दिणं दुट्ठं ॥ १ ॥ "

इति हर्षप्रकाशे । अत्र दुष्टमिति प्रावृषं विनेति सर्वत्राभ्यूह्यं, एतद्रहितत्वे दिनशुद्धिः स्यात् सौम्यवारेण वा । यदुक्तं—

" गमनेऽर्कादियो वाराः क्रमशः कुर्वते फलम् । नैःस्व्यं १ धनं २ रुजं ३ द्रव्यं ४ जयं ५ चैव श्रियं ६ वधम् ७ ॥ १ ॥ "

इति व्यवहारसारे । राजादीनां तु रविवारोऽपि शुभ इति व्यवहारप्रकाशे । तथा—"पडिवइनवमट्ठमिचउदसीसु गमणं करे न बुहवारे" इति हर्षप्रकाशे । यद्वा—

" चैत्राद्या द्विगुणा मासा वर्तमानदिनैर्युताः । सप्तभिस्तु हरेद्भागं यच्छेषं तद्दिनं भवेत् ॥ १ ॥

श्रीदिनः १ कलह २ श्चैव नन्दनः ३ कालकर्णिका ४ । धर्मः ५ क्षयो ६ जयश्चेति ७ दिना नामसदृक्फलाः ॥ २ ॥ "

इति यतिवल्लभे । तिथीति पक्षच्छिद्रावमफल्गुदग्धक्रूराख्यतिथीनां त्यागात्तिथिशुद्धिः, पूर्णिमाऽपि च त्याज्या । यतः–"पूर्णिमायां न गन्तव्यं, यदि कार्यशतं भवेत्" इति व्यवहारसारे । तारेति, यदुक्तं—"जन्माधानान्विता" इत्यादि । ताराबलं च यात्रायामवश्यं ग्राह्यं । श्रेष्ठेति अभिजित्यपि यात्रा श्रेष्ठैव । यल्लल्लः—"अभिजिति कृतप्रयाणः सर्वार्थान् साधयत्यियनम् " । विशेषस्तु—

" दसमि तेरसि पंचमि बीअगो, भिगुसुओ गमणेऽतिसुहावहो । गुरुपुणव्वसुपुस्सविसेसओसयभिसा अणुराह बुहे तहा ॥ १ ॥ "

इति दिनशुद्धौ । तथा चन्द्रमःकगोचरादेः शिवभुजगेत्याद्युक्तदिनरात्रिमुहूर्त्तानां लग्नस्यापि च बलं संभवे ग्राह्यमेव । यदुक्तं—

" पहि कुसलुलग्गि तिहिं कज्जसिद्धिलाभं मुहुत्तओ होइ । रिक्खेणं आरुग्गं चंदेणं सुक्खसंपत्ती ॥ १ ॥ "

इति दिनशुद्धौ । तथा—"तिथ्यादिगुणाः सर्वे शुभेन लभ्यन्ते " इति लल्लः ॥

मध्या तु ध्रुवपूर्वाज्येष्ठाद्वयवारुणेषु यात्रा स्यात् । निन्द्यार्द्राभरणीद्वयचित्रात्रयसार्पपैत्रेषु ॥ ४ ॥

व्याख्या—मध्येति एतानि दश भानि नेष्टानि नाप्यनिष्टानीति भावः । निन्द्येति यतः "कृतप्रयाणोऽष्टास्वेषु कदाचिन्न निवर्तते" इति व्यवहारसारे । नारचन्द्रे तु 'ज्येष्ठामूलयोः श्रेष्ठा, चित्रास्वातिश्रवणधनिष्ठासु मध्या, उत्तरात्रये च निन्द्या यात्रा" इत्युक्तं. विशेषस्तु—

" अशुभे मे शुभे घस्रे दिवा यात्रादि साधयेत् । शुभे मे त्वशुभे घस्रे रात्रौ यात्रादि साधयेत् ॥ १ ॥ "

यतः—"नक्षत्रं बलवद्रात्रौ दिने बलवती तिथिः " इति लल्लः ॥ अथ भविशेषाद्यात्रायै दिनांशनियममाह—

न दिवाद्ये ध्रुवमिश्रैस्तीक्ष्णैर्मध्येऽथ लघुभिरन्त्येऽंशे । अंशेष्विति रात्रेरपि मैत्रो १ ग्र २ चरै ३ र्न भैर्यात्रा ॥५॥

व्याख्या—त्रिभागीकृतस्य दिवसस्याद्येऽंशे ध्रुवमिश्रभैर्यात्रा न कार्येत्यादि, इति त्रिभागीकृताया रात्रेराद्येऽंशे मैत्रभेषु यात्रा न कार्या । उग्रभेषु द्वितीयेऽंशे, चरभेषु तृतीयेऽंशे चेति । यल्लल्लः—

"धनहानिर्मृत्युर्वा नियतो भङ्गः पराजयश्चैव । यस्मादेभिः कालैः प्रायेण विवर्जयेत्तस्मात् ॥ १ ॥" अस्य वक्ष्यमाणपरिघस्य चापवादमाह–

सर्वदिग्द्वारकौ पुष्यहस्तौ, मैत्राश्विनी युतौ । तावेव सर्वकालीनौ मृगश्रुतिसमन्वितौ ॥ ६ ॥

व्याख्या—सर्वासु दिक्षु विदिक्षु च द्वारं ययोस्तौ, एषु परिघो भदिक्शूलं च न स्यादित्यर्थः । "श्रवणरेवत्यावपि सर्वदिग्द्वारकं" इति नारचन्द्रे । सर्वकालीनाविति एषु भेषु 'न दिवाद्ये' इत्यादि न प्रयोज्यमित्यर्थः । दिनशुद्धिकृता तु दिग्यात्रायां षड्भानां सर्वकालीनत्वमूचे । तथाहि-

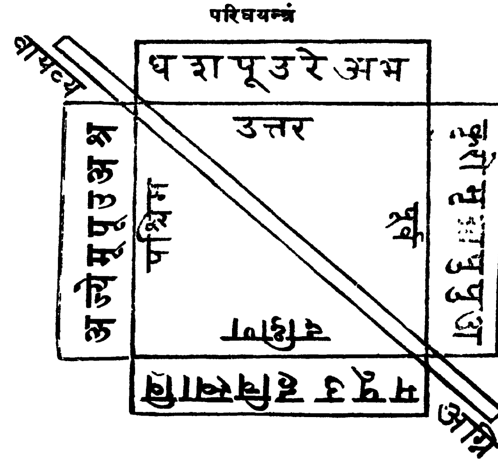
" पुव्वदिसि सव्वकालं रिद्धिनिमित्तं विहारसमयम्मि ।
पुस्सस्सिणिमिगहत्था रेवइसवणा गहेअव्वा ॥ १ ॥ "

अथ यात्राया दिक्शुद्धिं वदन् परिघमाह—

सप्त सप्त गमने वसुऋक्षादुत्तराप्रभृति दिक्षु शुभानि ।
वह्निवायुपरिघोऽत्र न लंघ्यो, मध्यमानि तु मिथः स्वदिशोः स्युः॥७॥

व्याख्या—वसुऋक्षं धनिष्ठा, तत आरभ्य सप्त सप्त भान्युत्तरादिचतुर्दिक्षु गमने शुभानि । अयं भावः—एतानि सप्त सप्तोदीच्यादिदिग्द्वारकाणि । तथाहि—धनिष्ठादिसप्तभान्युत्तरद्वारकाणि, कोऽर्थः ? एषु भेषूदीच्यां यात्रा शुभेति श्रीस्थानाङ्गचन्द्रप्रज्ञप्तिवृत्त्यादिषु । एवं कृत्तिकादिमघाद्यनुराधादीनि त्रीणि भसप्तकानि क्रमात् पूर्वदक्षिणपश्चिमदिग्द्वारकाणीत्यतोऽस्मिन् भसप्तकत्रये क्रमात् पूर्वादिदिक्षु यात्रा शुभा । अत्रेति गमने । वह्निवाय्विति सप्तरेखचक्रवच्चतुर्दिक्षु कृत्तिकादिसप्तसप्तभेषु स्थापितेषु आग्नेयवायव्यकोणयोः परिघः स्यात् । तस्य स्थापना यथा—

परिघयन्त्रं



...वलाबतान्तरालरखारूपः परिघो नोल्लंघ्यः। अयमर्थः—धनिष्ठादिचतुर्दशभेषूत्तरप्राच्योरेव, मघादिचतुर्दशभेषु दक्षिणप्रतीच्योरेव च गन्तव्यं। मध्यमानीति मिथः स्वानि स्वजनभूतानि परिघैकपार्श्वस्थत्वेन यानि भानि सन्ति, तेषां दिशोस्तानि पार्श्वस्थदिगुक्तानि भानि यात्रायां मध्यमानि स्युः, न शुभानि नाप्यशुभानीत्यर्थः। अयं भावः—धनिष्ठासप्तकस्य कृत्तिकासप्तकं स्वं, तद्दिक् पूर्वा, तस्यां गमने धनिष्ठासप्तकं मध्यमं। एवं कृत्तिकासप्तकस्य धनिष्ठासप्तकं स्वं, तद्दिक् उत्तरा, ततस्तस्यां गमने कृत्तिकासप्तकं मध्यमं। एवमन्यार्धेऽपि भाव्यं। नन्वेवं परिघोक्त्या दिक्षु यात्रायां भनियम उक्तः, विदिक्षु यात्रायां तु को भनियमः? उच्यते—पूर्वद्वारभैराग्नेयीं व्रजेत्, दक्षिणद्वारभैर्नैर्ऋतीं, पश्चिमद्वारभैर्वायवीं, उत्तरद्वारभैरैशानीं चेति स्फुटमेव, विदिशां दिगनुगामित्वात्। उक्तञ्च दैवज्ञवल्लभे—" यायात् पूर्वद्वारभैरग्निकाष्ठां प्रादक्षिण्येनैवमाशा विपूर्वाः "। अत्राशा विपूर्वा इति विदिश इत्यर्थः। विशेषस्तु—

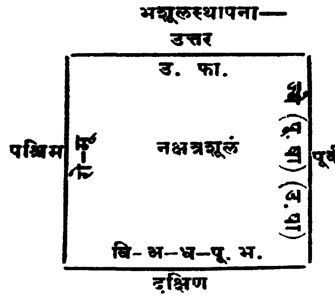
" स्वामिनः सप्त भौमाद्याः क्रमतः कृत्तिकादिषु। प्राच्यादौ तत्सनाथेषु तेषु यात्रा महाफला ॥ १ ॥ "

इति पूर्णभद्रः। अस्यार्थः—कृत्तिकादिभसप्तकस्य क्रमेण भौमाद्याश्चन्द्रान्ताः सप्त ग्रहाः स्वामिनः, तेषु स्वस्वभस्थेषु पूर्वस्यां यात्रा शुभा। एवं मघादिसप्तभानां तथैव भौमाद्याः सप्तेशाः, तेषु तत्तद्भस्थेषु दीच्यां यात्रा शुभा। एवं शेषदिशोरपि भाव्यं। तथा—

" प्राच्यादिषु चरन् भानुः सप्तके कृत्तिकादिके। वितनोति दिशामस्तं यात्रा तासु कृता श्रिये ॥ १ ॥ " इत्यपि पूर्णभद्रः ॥

उल्लंघ्यः परिघोऽपि लग्नवलतः शूलं तु भानां सदा, हेयं तच्च पुनः सुरेश्वरदिशि ज्येष्ठाम्बुविश्वोडुभिः।
राधावैष्णववासवाजपदभैर्याम्यां प्रतीच्यां पुनर्ब्राह्मथा मूलयुजा तथोत्तरदिशि स्यादर्यमर्क्षेण च ॥ ८ ॥

व्याख्या—उल्लंघ्य इति एकान्तिकेषु कार्येषु, परचक्रागमादिषु युद्धे यातव्यदिङ्मुखे ग्रहबलोपेते यात्रालग्ने सति परिघलङ्घनं न दोषायेत्यर्थः सदेति शूलनक्षत्रेषु सत्सु, लग्नशुद्धावपि न गच्छेत्, यतो भशूलदोषः शुद्धलग्नेनापि न टलति। उक्तञ्च—" त्यजेल्लग्नेऽपि शूलर्क्षं, शूलर्क्षे नास्ति निर्वृतिः" इति व्यवहारप्रकाशे। सुरेति पूर्वांबुविश्वोडुनी पूर्वोत्तराषाढे यामी दक्षिणा।



वायव्य	उत्तर	ईशान
मंगल	मंगल	
शनि	बुध	बुध
रवि	दिग्	सोम
शुक्र	विदिग्	शनि
पश्चिम	शूलयन्त्रं	पूर्व
सोम		रवि
शुक्र	गुरु	गुरु
नैऋत्य	दक्षिण	अग्नि

"पुव्वाइजिट्ठसाढा धणिट्ठपुव्वभद्ददाहिणदिसाए । रोहिणिमूलवराए विसाह पुव्वफग्गुणुत्तरओ ॥१॥"

इति तु पूर्णभद्रः । पुष्ये प्रतीच्यां हस्त उदीच्यां च भशूलमिति तु नारचन्द्रे। यतिवल्लभे तु नक्षत्रकीला उक्ताः । तथाहि—

"ज्येष्ठा१ भद्रपदा पूर्वा२ रोहिण्यु३ त्तरफल्गुनी४। पूर्वादिषु क्रमात् कीलागतस्यैतेषु नागतिः ॥१॥
औत्सुक्याद्यपि पूर्वोक्तदंडलंघनवर्जने। असमर्थस्तदाऽवश्यं दिक्कीलान् वर्जयेदिमान् ॥२॥" लोके त्वेवमपि—

" उत्तरहत्था दक्खिण चित्ता, पुव्वा रोहिणि सुणिरे पुत्ता ।
पच्छिमसवणा म करसि गमणा, हरिहरबंभपुरंदरमरणा ॥१॥ " वाराणां दिग्विदिक्शूले प्राह—

शूलं सोमे शनौ च प्राग्गुरौ दक्षिणतस्त्यजेत्। रवौ शुक्रे च वारुण्यामुत्तरेण कुजज्ञयोः॥९॥

आग्नेय्यादिविदिक्शूलं क्रमादादित्यजीवयोः १ ।
शीतांशुशुक्रयो २ र्भौममन्दयो ३ र्ज्ञस्य ४ च त्यजेत् ॥ १० ॥

व्याख्या—दिक्शूलविदिक्शूलस्थापना यथा— अवश्यकर्तव्ये तु गमनेऽनयोर्विधानमाह—

दिक्शूलध्वंसि वन्देत चन्दनं १ दधि २ मृत्तिकाम् ३ ।
तैलं ४ पिष्टं ५ च सर्पिश्च ६ खलं ७ वा (चा) र्कादिषु क्रमात् ॥ ११ ॥

दिक्शूलेति दिक्छब्देन विदिशोऽपि ग्राह्याः । वन्देतेति कोऽर्थः? चन्दनदध्याद्यैस्तिलकं कुर्यात् ॥ योगिनीचारमाह-

स्याद्योगिनी शक्र१ कुबेर२ वह्नि३ रक्षो४ ऽन्तका५ प्पत्य६ निले७ शदिक्षु८ ।
यातुर्न भव्या प्रतिपन्नवम्यादितो विना पश्चिमवामभागौ ॥ १२ ॥

व्याख्या—शक्रकुबेराग्नेोऽन्तरदिशः पूर्वोत्तरनैर्ऋतदक्षिणाः । अपां पतिः अप्पतिः वरुणः तद्दिक् पश्चिमा । आसु तिथिषु क्रमादेतासु दिक्षु योगिनी वसति, यातुश्च संमुखी स्यात् । प्रतिपन्नवम्यादिव इति प्रतिपत्तोऽष्टम्यवध्येकाऽऽवृत्तिः योगिन्याः । नवमीतः प्रभृति तु पक्षान्तं यावद् द्वितीया । ननु नवमीतो गुणने पक्षतिथयः सप्तैव स्युर्दिशश्चाष्टौ, तत्कथं युक्तिः ? उच्यते–द्वितीयावृत्तिवेलायामनिलेशदिक्द्वित्वस्येतदेवं व्याख्येयं । तथाहि–पूर्णिमायां वायव्यां योगिनी वसति, अमावस्यायां त्वैशान्यां । एवं च द्वितीयावृत्तौ तिथीनां सप्तकत्वद्दिशामपि सप्तकमेवेति । पूर्णभद्रोऽप्येवमेवाह—

“ पु१ उ२ आ३ नं४ द५ प६ वा७ ई८ दिसिसु पडिवइनवमी उ जोइणिआ, वायवि पुन्निमाए ईसाणे अमावसाइ तहा ॥ १ ॥ ”

योगिन्याः कोष्टकम्

दिशा	तिथि
पूर्व	१–९
उत्तर	२–१०
अग्नि	३–११
नैर्ऋत्य	४–१२
दक्षिण	५–१३
पश्चिम	६–१४
वायव्य	७–१५
ईशान	८–३०

मतान्तरे योगिन्याः कोष्टकम्

दिशा	कृष्णपक्षतिथयः	शुक्लपक्ष
पूर्व	१–६–११	१–६ ११
दक्षिण	२–७–१०	२ ७–१२
पश्चिम	३–८–१३	३–८–१३
उत्तर	४–९–१४	४–९–१४
अधोदिशि	१०	५–१५
ऊर्ध्वदिशि	५–१५	१

त्रिनेति, अयमर्थः—इयं यातुः पृष्ठे वामतो वा भव्या । केचित्तु कृष्णप्रतिपदादितिथिचतुष्के पूर्वादिचतुर्दिक्षु योगिनी, पञ्चम्यां तूर्ध्वं । एवं षष्ठ्यादिचतुष्के चतुर्दिक्षु, दशम्यां त्वधः । एकादश्यादिचतुष्के चतुर्दिक्षु, अमावास्यायां तूर्ध्वं । एवं शुक्लपक्षेऽपि, नवरं तत्र पञ्चम्यामधः, दशम्यां तूर्ध्वं राकायां चाध इति वाच्यं । यदा च यद्दिशि योगिनी तदा दक्षिणपार्श्वस्थविदिशिकरे कार्त्रिका, वामपार्श्वस्थविदिशिकरे तु कर्परं, तास्तिस्रोऽपि च दिशो युद्धादौ पृष्ठत एव शुभा इत्याहुः । उक्तञ्च व्यवहारप्रकाशे—

“ योगिनि (नी) देवी पृष्ठे दक्षिणवामे स्थिता विजयदात्री ।
संमुखसंस्था युद्धे पराजयं नाशमादत्ते ॥ १ ॥ ”

विशेषस्तु—अवश्यकर्तव्ये गमनेऽस्या दृगेव संमुखी त्याज्या, सा चैवं—

“ऊर्ध्वं तिथि१५ मितनाड्यो दश चाधो१० वाम१० दक्षिणे पार्श्वे । घटिकाः पञ्चदशापि च१५ योगिन्याः संमुखी दृष्टिः ॥ १ ॥ ”

इति नारचन्द्रे । तथा तत्कालयोगिन्यवश्यं त्याज्या, सा चैवम्—

“दिणदिसि धुरि चउ घडिआ पुरओ पुव्वुत्तदिसिसु अणुकमसो । तक्काल जोइणी सा वज्जेअव्वा पयत्तेणं ॥ १ ॥” इति दिनशुद्धौ ।

अत्र दिणदिसि धुरि त्ति, यदा यद्वर्तमानदिनं तस्य या या दिक् प्रोक्ता तस्यां तस्यां दिशि धुरि प्रभाते योगिनी वसति, तदनु यथाक्रमोक्तासु शेषदिक्षु भ्रमति, ततोऽयं भावः—प्रतिपदि प्राच्यां प्रथमं यामार्धं वसति, शेषासूत्तराग्नेय्यादियथोक्तक्रमाच्छेषाणि यामार्धानि । एवं द्वितीयायां प्रथमं यामार्धमुत्तरस्यां, शेषाण्याग्नेय्यादिप्राच्यन्तसप्तदिक्षु इत्यादि । एवं चाहोरात्रेण दिगष्टकेऽस्याः द्विरावृत्तिः ॥ पाशकालावाह—

पाशो मासस्येष्टसितिथिरष्टहृतावशिष्ट ऐन्द्र्यादौ । तत्संमुखस्तु कालः स तु दक्षिण एव सौख्याय ॥ १३ ॥

व्याख्या—मासस्य "व्याख्यातो विशेषार्थप्रतिपत्तिरिति" न्यायात् कृष्णपक्षादेर्विक्रमामस्य तिथिस्त्रिंशल्लक्षणोऽष्टभिर्हृते हरणे सत्यवशिष्ट ऐन्द्र्यादौ दिग्दशके पाश इष्ट इत्यन्वयः । भावश्चायं—मासे तिथयस्त्रिंशत्, तासामष्टभिर्भागे शेषं षट्, (८ । ३० । ३ ।) ततः कृष्णषष्ठ्यां प्राच्यां पाशः, सप्तम्यामाग्नेय्यां, यावच्चतुर्दश्यामूर्ध्वं, अमावास्यायां त्वधः । पुनः शुक्लप्रतिपदि प्राच्यां, यावत् शुक्लदशम्यामधः । पुनरेकादश्यां प्राच्यां यावत् कृष्णपञ्चम्यां चाध इति त्रिभिः परिवर्तैर्मासपूर्तिः । तथा च पाशस्थापनैवं—

पू	आ	द	नै	प०	वा	उ	ई	ऊर्ध्व	अधः
कृ ६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	३०
शु. १	२	३	४	५	६	७	८	९	१०
११	१२	१३	१४	१५	कृ १	२	३	४	५

तत्संमुख इति ऊर्ध्वाधोदिशोरगणने पाशदिक्तः पञ्चम्यां पञ्चम्यां दिशि, समुखः सदा कालः स्यात्, यदा चाधः पाशस्तदोर्ध्वं कालः, यदा तूर्ध्वं पाशस्तदाऽधः कालः संमुखत्वस्यैवमेव भवनात्। उक्तञ्च—

"पुव्वाइदसदिसाहिं कमेण सिअ पडिवयाइ हुइ पासो । तस्समुहो अ कालो गमणे दुन्नि वि संमुहवज्जे ॥ १ ॥" इति दिनशुद्धौ ।

एवं च कालस्थापना—

पश्चिम	वायव्य	उत्तर	ईशान	पूर्व	आग्नेयी	दक्षिण	नैर्ऋत	अधः	ऊर्ध्व
कृ. ६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	३०
शु. १	२	३	४	५	६	७	८	९	१०
११	१२	१३	१४	१५	कृ. १	२	३	४	५

स त्विति कालः । सौख्यायेति, अयं भावः—पाशकालौ क्रमाद्वामदक्षिणावेव गच्छतां शुभौ । उक्तञ्च दिनशुद्धौ—

"कुज्जा विहारि वामो पासो, कालो अ दाहिणओ" इति ।

वास्तुविद्याविदस्त्वाहुः—"शुक्लप्रतिपदादितिथिचतुष्के पूर्वाग्नेय्यादिदिक्चतुष्के पाशः, पञ्चम्यामूर्ध्वं । ततः षष्ठ्यादितिथिचतुष्के

पश्चिमवायव्यादिचतुर्दिक्षु पाशः, दशम्यां स्वधः । पुनरेकादश्यादितिथिचतुष्के पूर्वाग्नेय्यादिचतुर्दिक्षु, राकायां तूर्ध्वं पुनः । कृष्णप्रतिपदादितिथिचतुष्के पश्चिमवायव्यादिचतुर्दिक्षु पाशः, पञ्चम्यां स्वधः । एवमेव तृतीयाऽप्यावृत्तिर्वाच्या । तत्संमुखश्च सदापि काल इति । अत एव पूर्णातिथिषु प्रासादादेः खातध्वजारोपादिस्तैर्नेष्यते, अध ऊर्ध्वं वाऽप्यस्य कालस्य वाऽवश्यंसंभवादिति " तथा—

"दिणवारं पुव्वाईकमेण संहारि जत्थ ठाणि ससी । कालं तत्थ वि आणसु तस्संमुहुपास भणइ इगे ॥ १ ॥ " इति ज्योतिषसारे ।

अत्रेशानवर्जं गणनीयं, ईशगृहत्वेन तत्र कालस्य प्रवेशाभवनादिति ते प्राहुः । एषां मते वारप्रतिबद्धावेव कालपाशौ, न तिथिप्रतिबद्धौ ॥ राहुचारमाह—

राहुरसंमुखवामोऽष्टसु यामार्धेष्वहर्निशं द्युमुखात् । क्रमशः षष्ठ्यां षष्ठ्यामिष्टः प्राच्यादिषु प्रचरन् ॥ १४ ॥

व्याख्या—द्युमुखादहर्निशमष्टसु यामार्धेषु क्रमशः प्राच्यादिषु षष्ठ्यां षष्ठ्यां दिशि प्रचरन् राहुरसंमुखवामः सन्निष्टो ज्ञेय इत्यन्वयः कार्यः । असंमुखेति याता पृष्ठतो दक्षिणतश्च वर्ये इत्यर्थः । यामार्धशब्देऽस्मिन्निधिः प्राग्वत् । अहर्निशमिति दिवा रात्रौ च राहुश्चरति । द्युमुखात् प्रभातादारभ्य, षष्ठ्यां षष्ठ्यामिति आद्ये यामार्धे प्राच्यां, द्वितीये ततः षष्ठ्यां वायव्यां, तृतीये ततोऽपि षष्ठ्यां दक्षिणस्यामिति । उक्तञ्च हर्षप्रकाशे—

" जामद्धे राहु गई पू १ वा २ द ३ ई ४ प ५ आ ६ उ ७ नं ८ दिसिसु । "

अप्रदक्षिणं गणने तु सा दिक् तुर्या तुर्या स्यात् । यदुक्तं नारचन्द्रे—

अष्टासु प्रथमाद्येषु प्रहरार्धेष्वहर्निशम । पूर्वस्यां वामतो राहुस्तुर्यां तुर्यां व्रजेद्दिशम् ॥ १ ॥ "

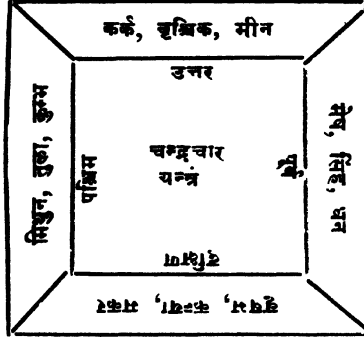
राहुचार स्थापना

अहोरात्रे द्विरावृत्तिः ॥		
वायव्य २	उत्तर ७	ईशान ४
पश्चिम ५	अर्धप्रहराणि	पूर्व १
नैर्ऋत्य ८	दक्षिण ३	आग्नेयी ६

एवमहोरात्रे राहोर्द्विरावृत्तिः ॥

चन्द्रचारमाह—

चन्द्रश्चरति पूर्वादौ क्रमात्त्रिर्दिक्चतुष्टये ।
मेषादिष्वेष यात्रायां सम्मुखस्त्वतिशोभनः ॥ १५ ॥



व्याख्या—मेषादिचतुष्कस्थश्चन्द्रः क्रमात् पूर्वादिचतुर्दिक्षु चरति । एवं सिंहादिचतुष्कधन्वादिचतुष्कयोरपि ।

दिनशुद्धौ तु चन्द्रस्यापि शुक्रवत्त्रिविधं सम्मुखत्वं प्राह्यमूचे । तथाहि—

" उदयवसा १ अहवा दिसि २ दारभवसओ ३ हवइ ससीसम्मुहो ।
सो अभिमुहो पहाणो गमणे अमिआइं वरिसंतो ॥ १ ॥ "

अतिशोभन इति, उक्तञ्च नारचन्द्रे—

" जयाय दक्षिणो राहुर्योगिनी वामतः स्थिता । पृष्ठतो द्वयमप्येतच्चन्द्रमाः संमुखः पुनः ॥१॥ "

अतिशब्देन दक्षिणोऽपीन्दुः शुभ इत्युच्यते, यदुक्तं नारचन्द्रटिप्पनके—

" सम्मुखीनोऽर्थलाभाय दक्षिणः सर्वसंपदे । पश्चिमः कुरुते मृत्युं वामश्चन्द्रो धनक्षयम् ॥१॥ "

रविचारमाह—

रविर्द्वौ द्वौ तु पूर्वादौ यामौ रात्र्यन्त्ययामतः । यात्रास्मिन् दक्षिणे, वामे प्रवेशः, पृष्ठगे द्वयम् ॥ १६ ॥

व्याख्या—रात्र्यन्त्येति रात्रेरन्त्यं दिनस्य प्रथमं यामं चार्कः प्राच्यां तिष्ठति, दिनमध्यमयामौ तु दक्षिणस्यां, दिनान्त्ययामं रात्र्याद्ययामं चापरस्यां, रात्रेर्मध्यमयामौ तूदीच्यां । नारचन्द्रे तु सर्वग्रहाणामुदयसमयादारभ्य भ्रमणवशादष्टदिक्स्पर्शनमूचे । तथाहि—

" स्वस्योदयस्य समयात्पूर्वयामादितः क्रमात् । संचरन्ति ग्रहाः सर्वे सर्वकालं दिगष्टके ॥ १ ॥ "

यात्रेति—दक्षिणेऽर्के यात्रा कृता शुभा । यल्लः—

" न तस्याङ्गारको विघ्नैर्न शनैश्चरजं भयम् । व्यतिपातो न दुष्येच्च यस्यार्को दक्षिणस्थितः ॥ १ ॥ " नक्षत्रसमुच्चयेऽप्यत एवोक्तं—

" पूर्वाह्णे चोत्तरां गच्छेत् प्राच्यां मध्यंदिने तथा । दक्षिणामपराह्णे तु पश्चिमामर्धरात्रके ॥ १ ॥ "

एवं गमनेऽर्को दक्षिण एव स्यादिति भावः । लल्लः पुनरपि चन्द्रार्कवारानुकूल्यमेवमाह—

" रविशशिकरप्रदीप्तां मकरादावुत्तरां च पूर्वां च । यायाच्च कर्कटादौ याम्यामाशां प्रतीचीं च ॥ १ ॥
अयनानुकूल्यानं हि तमर्केन्द्वोर्द्वयोरसंपत्तौ । द्युनिशं प्रगृह्य यायाद्विपर्यये क्लेशवधबन्धाः ॥ २ ॥ "

अनयोरर्थः—यदाऽर्केन्दू मकरादिषट्के उत्तरायणे स्तः तदा पूर्वामुत्तरां च सर्वदा गच्छेत् । यदा च तौ कर्कादिषट्के दक्षिणायने स्तस्तदा दक्षिणां पश्चिमां च सर्वदा गच्छेत् । सर्वदेति कोऽर्थः ? दिवा रात्रौ चेति, अर्केन्द्वोरेकायनासंभवे तु यथासंख्यं दिवानिशं गच्छेत् । अयमर्थः—यदाऽर्को मकरादौ तदा दिने उत्तरां पूर्वां च गच्छेत्, यदा कर्कादौ तदा दिने दक्षिणां पश्चिमां च गच्छेत् । एवं चन्द्रे मकरादिस्थे रात्रावुत्तरां पूर्वां च गच्छेत्, कर्कादिस्थे तु रात्रौ दक्षिणां पश्चिमां च गच्छेदिति । विपर्यये त्वशुभं कोऽर्थः ? रवीन्द्वोर्मकरादिस्थयोर्दक्षिणापश्चिमे यदि गच्छेत् कर्कादिस्थयोश्चोत्तरापूर्वे यदि गच्छेत्, तदा सूर्ये मकरादिस्थे दिवा दक्षिणापश्चिमे यदि गच्छेद्, चन्द्रे वा कर्कादिस्थे रात्रावुत्तरापूर्वे यदि गच्छेत्तदा यातुर्वधबन्धादिदोषाः ॥ रविचारमेव हंसचारेण विशिष्याह—

हंसेऽन्तरा विशति दक्षिणतोऽथ पृष्ठे, कृत्वा रविं प्रवहनाडिपदं पुरश्च ।
सिद्ध्यै व्रजेदथ विजेतुमना विपक्ष-पक्षं स्वतस्तु विदधीत विनाऽऽनपक्षम् ॥ १७ ॥

व्याख्या—अध्यात्मशास्त्ररीत्या हंसः प्राणवायुस्तस्मिन् विशति सति न तु निःसरति सति । यदाहुराध्यात्मिकाः—

" षट्शताभ्यधिकान्याहुः सहस्राण्येकविंशतिम् । अहोरात्रे नरे स्वस्थे प्राणवायोर्गमागमः ॥ १ ॥ "

प्रवहा प्रविशत्पवना पूर्णा नाडी नासारन्ध्ररूपा यस्य स्यात्तत्पदं वामं दक्षिणं वाऽहिं पुरः कृत्वा च सिद्ध्यै कार्यस्येति शेषः । उक्तञ्च विवेकविलासे—

" दक्षिणे यदि वा वामे यत्र वायुर्निरन्तरः । तं पादमग्रतः कृत्वा निःसरेन्निजमन्दिरात् ॥ १ ॥
न हानिकलहोद्वेगाः कण्टकैर्नापि भिद्यते । निवर्तते सुखेनैव क्षुद्रोपद्रववर्जितः ॥ २ ॥
दूरदेशे विधातव्यं गमनं तुहिनद्युतौ । अभ्यर्णदेशे दीप्ते तु तरणाविति केचन ॥ ३ ॥ "

अत्र तुहिनेति वामदक्षिणनाड्योः क्रमाच्चन्द्रसूर्यसंज्ञेयं । विशेषस्तु—" दक्षिणनाड्यां पूर्णायां विषमपदैः १–३–५–७–९ गन्तव्यं प्रतीचीदक्षिणयोश्च न गन्तव्यं । वामायां तु पूर्णायां समपदैः २–४–६–८–१० गन्तव्यं, पूर्वोत्तरयोश्च न गन्तव्यमिति" स्वरोदयविदः । व्रजेदिति प्रस्तुतहंसचारादिशुद्धौ सत्यां जिनं प्रदक्षिणीकृत्य व्रजतो विशिष्य सर्वार्थसिद्धिः स्यात् । उक्तञ्च यतिवल्लभे—

" प्राणप्रवेशे वहनाडिपादं, कृत्वा पुरो दक्षिणमर्कबिम्बम् । प्रदक्षिणीकृत्य जिनं च याने, विनाप्यहःशुद्धिमुशन्ति सिद्धिम् ॥ १ ॥ "

उपलक्षणत्वाच्च प्रवेशेऽप्ययमेव विधिः । यदुक्तं दिनशुद्धौ—

" पुन्ननाडिदिसापायं अग्गे किच्चा सया वि ऊ । पवेसं गमणं कुज्जा कुणंतो साससंगहं ॥ १ ॥ "

अथ विजेतुमना इति अरिं जिगीषुः सन् अर्थात्तमेव स्वतः सकाशात् मानो वायुस्तस्य पक्षं पार्श्वं विना, एतावता शून्यपार्श्वे कुर्यात् । केचित् वितानपक्षे इति पेठुस्तत्र वितानशब्दः शून्यार्थः । कोऽर्थः ? रिक्तेऽङ्के रिपुः कार्यो, न तु पूर्णे, यथा सुखाज्जीयते अर्थादिष्टवर्गः पूर्णाङ्के कार्यः । उक्तञ्च विवेकविलासे—

" अरिचौराधमर्णाद्या अन्येऽप्युत्पातविग्रहाः । कर्तव्याः खलु रिक्ताङ्के जयलाभसुखार्थिभिः ॥ १ ॥
गुरुबन्धुनृपामात्या अन्येऽपीप्सितदायिनः । पूर्णाङ्के खलु कर्तव्याः कार्यसिद्धिमभीप्सता ॥ २ ॥ "

दक्षिणतोऽथ पृष्ठे कृत्वा रविमित्येतदत्रापि योज्यं । यदुक्तं यतिवल्लभे—

" वहनाडिगतो वाच्यो दक्षिणेऽर्केऽर्थलब्धये । रिक्तनाडीगतः शत्रुर्जीयते पृष्ठगे रवौ ॥ १ ॥ " शुक्रचारमाह—

शुक्रस्तु यत्रोदयति भ्रमन् वा, यां याति यद्द्वारकमेति भं वा ।
इत्थं त्रिधा तद्दिशि संमुखः स्यात्स्याज्यस्तु तत्रोदयसम्मुखीनः ॥ १८ ॥

व्याख्या—शुक्रो यत्रेति यस्यां दिशि प्राच्यां प्रतीच्यां वोदेति तद्दिशि यातां सम्मुखः स्यादित्यग्रे योज्यं । भ्रमन् वेति यथा रवेर्भ्रमणवशाच्चतुर्दिक्स्पर्शनमूचे, तथा शुक्रोऽपि भ्रमन् यस्याः प्राच्यादिदिशो यां दिशं याति, यद्वा मेषाद्याश्चत्वारश्चत्वारः पूर्वाद्याश्चतस्रश्चतस्रो दिश इति तेषु भ्रमन्

मास इत्यर्थः । यद्‌द्वारकामात परिवचक्रोक्तरीत्या बहिर्द्वारकं यं समेतीति त्रिधा सम्मुखत्वभवनेऽपि शुक्रस्योदयदिगेव प्राची प्रतीची वा सम्मुखी त्याज्या । विशेषस्तु—दक्षिणोऽपि शुक्रस्त्याज्यः । यदुक्तं नारचन्द्रे—

" अग्रतो लोचनं हन्ति दक्षिणो ह्यशुभप्रदः । पृष्ठतो वामनश्चैव शुक्रः सर्वसुखावहः ॥ १ ॥ " केचित्—

" पौष्णाश्विनीपादमेकं यदा वहति चन्द्रमाः । तदा शुक्रो भवेदन्धः संमुखं गमनं शुभम् ॥ १ ॥ " इत्याहुः ।

अस्य पूर्वार्धं—"अश्विन्या वह्निपादान्तं यावच्चरति चन्द्रमाः" इत्येके पठन्ति । तथा—

" काश्यपेषु वशिष्ठेषु भृग्वत्र्याङ्गिरसेषु च । भारद्वाजेषु वात्स्येषु प्रतिशुक्रं न विद्यते ॥ १ ॥

एकग्रामे पुरे वापि दुर्भिक्षे राष्ट्रविभ्रमे । विवाहे तीर्थयात्रायां वत्सशुक्रौ न चिन्तयेत् ॥ २ ॥

स्वभवनपुरप्रवेशे देशानां विभ्रमे तथोद्वाहे । नववध्वागमने च प्रतिशुक्रविचारणा नास्ति ॥ ३ ॥ " इति लल्लः ।

अत्र स्वभवनेति स्वभावेन गृहप्रवेशमात्रे, न तु नव्यगृहप्रवेशोऽत्र ग्राह्यः, तत्र प्रतिशुक्रं त्याज्यमिति वक्ष्यमाणत्वात् । तथा शुक्रस्य बाल्यवार्धकत्वनीचत्वास्तमितत्ववक्रगामित्वग्रहपराजितत्वादिष्वपि सत्सु यात्रा दुष्टा, "याने शुक्रः सबलोऽन्वेष्य" इत्युक्तेः । तथा च रत्नमालायाम्—

" नीचगे ग्रहजितेऽथ विलोमे, भार्गवे कलुषितेऽस्तमिते वा । प्रस्थितो नरपतिः सबलोऽपि, क्षिप्रमेव वशमेति रिपूणाम् ॥१॥"

शुक्रस्योदयास्तदिनसंख्या चौत्सर्गिक्येवं नारचन्द्रटिप्पनके—

" प्राच्यां भृगुर्जलधितत्त्व २५४ दिनानि तिष्ठेत्, तत्रास्तगस्तु नयनादि ७२ दिनान्यदृश्यः ।

तिष्ठेच्च षोडशकृति २५६ दिवसान् प्रतीच्यामस्तंगतस्त्विह सयक्ष १३ दिनान्यदृश्यः ॥ १ ॥ "

तथा स्वजन्मनक्षत्रनाथेऽप्यस्तमिते यात्रा दुष्टेति दैवज्ञवल्लभे ॥

प्रतिशुक्र त्यजन्त्येके यात्रायां त्रिविधं बुधाः । तस्मात्प्रतिकुजं कष्टं ततोऽपि प्रतिसोमजम् ॥ १९ ॥

व्याख्या—संमुखोऽप्यनिष्टत्वात् प्रतिकूलशुक्रः प्रतिशुक्रः, एवमग्रेऽपि । त्रिविधमिति इदमपि मतं ग्रन्थकृतः सम्मत, तेन यत्प्रागुक्तं 'त्याज्यस्तु

तत्रोदयसम्मुखीन' इति तदैकान्तिककार्यविषयं, सौख्ये तु यथाशक्ति त्रिविधमपि सम्मुखत्वं त्याज्यमिति द्रष्टव्यं । तथा चोक्तं दैवज्ञवल्लभे—

" धनिष्ठादिकमश्लेषापर्यन्तं भगणं भृगुः । यदा चरति नोदीचीं नापाचीं च तदा व्रजेत् ॥ १ ॥

मघादिश्रवणान्तानि भानि शुक्रो यदा चरेत् । नापाचीं न प्रतीचीं च तदा गच्छेज्जिजीविषुः ॥ २ ॥ "

'तस्मात् प्रतिकूलमिति' शुक्रादपि भौमः सम्मुखः कष्टदत्वात्कष्टः, तमपि त्रिविधं त्यजन्तीति योगः । तस्मादपि सोमजो बुधः सम्मुखः कष्टः । उक्तञ्च दैवज्ञवल्लभे—

" प्रतिशुक्रेऽपि निर्गच्छेदनुकूलो बुधो यदि । गतः प्रतिबुधेनान्यैः शक्यते रक्षितुं ग्रहैः ॥ १ ॥ "

शुक्रवद्भौमबुधयोरपि सम्मुखत्वं दक्षिणभुजत्वं च त्याज्यमिति त्रिविक्रमः । बुधः सम्मुख एव त्याज्य इति तु रत्नमालाभाष्ये ॥ वत्सचारमाह—

वत्सः प्राच्यादिषूदेति कन्यादित्रित्रिगे रवौ । प्रवासवास्तुद्वारार्चाप्रवेशाः सम्मुखेऽत्र न ॥ २० ॥

व्याख्या—प्रवासो दूरदेशयात्रा, वास्तु गृहादि तस्य द्वारं न निवेश्यते, अर्च्यतेत्यर्चा जिनादिप्रतिमा तस्याः प्रवेशो धनिकगृहानयनं । अत्रेति वत्से । नारचन्द्रटिप्पनके वत्सरूपमेवं प्रोचे—

" वपुरस्य शतं हस्ताः शृङ्गयुगं षष्ठिसंयुता त्रिशती । पन्नाभिपुच्छशिरसां भूप १६ नव ९ त्रि ३ शर ५ करमानम् ॥ १ ॥ "

स्थापना—

हस्ताः १०० देहः	३६० शृङ्गे	१६ पदाः	९ नाभिः	३ पुच्छं	५ शीर्षं

विशेषस्तु—

" पञ्च १ दिक् २ तिथि ३ सत्रिंश ४ तिथि ५ दिक ६ शरवासरान् ७ । वत्सस्थितिर्दिक्चतुष्के प्रत्येकं सप्तभाजिते ॥ १ ॥ "

तथैव स्थापना—(समीपस्थपत्रे विलोक्या) इदं ज्योतिषसारे । केचिद्वत्सस्य वास्तुसंज्ञामाहुः ॥

सम्मुखोऽयं हरेदायुः पृष्ठे स्याद्धननाशनः । वामदक्षिणयोः किन्तु वत्सो वाञ्छितदायकः ॥ २१ ॥

व्याख्या—सुगमः । अन्येऽर्कादिमर्वग्रहाणां वत्सवद् गृहाण्येवमाहुः—

पूर्व

५	१०	१५	३०	१५	१०	५

कन्या तुल वृश्चिक

मिथुन कर्क सिंह

धन मकर कुंभ

वत्सचार तथा
वत्सनी

स्थितिनुं चक्र

उत्तर

दक्षिण

पश्चिम

मेषेऽर्कादुत्तरादौ दिशि विदिशि शिवो मासमेकं तथा द्वौ,
संहत्या संस्थितो द्विर्भ्रमति भृशमहोरात्रमध्ये तु सृष्ट्या ।
अध्यर्धे नाडिके द्वे दिशि विदिशि घटीपञ्चके चैष तिष्ठन्,
चन्द्रादेः प्रातिकूल्यं हरति किरति शं दक्षिणः पृष्ठगोऽसौ ॥२॥

रविचारचक्रम्

उत्तर — धनमकरकुंभ; पूर्व — मीन मेष वृष; दक्षिण — मिथुन कर्क सिंह; पश्चिम — कन्या तुला वृश्चिक

राहुचार चक्रम्

उत्तर — कन्या तुला वृश्चिक; पूर्व — धन मकर कुंभ; दक्षिण — मीन मेष वृष; पश्चिम — मिथुन कर्क सिंह

चन्द्र–मंगल–बुध–गुरु–शुक्र
शनि चाराणां चक्रम्

उत्तर — वृष मिथुन कर्क; पूर्व — सिंह कन्या तुला; दक्षिण — वृश्चिक धन मकर; पश्चिम — कुंभ मीन मेष

"मीनादित्रयमादित्यो,
वत्सः कन्यादिकत्रये ।
धन्वादित्रितये राहुः,
शेषाः सिंहादिकत्रये ॥१॥"

अत्र पूर्वादिदिक्षु वसन्तीति शेषः । सर्वेषां स्थापना यथा—

इह प्रसङ्गात् शिवचक्रं लिख्यते यथा—

वायव्य घडी २॥ / वायव्य घडी २॥	उत्तर मेषेऽर्कः घडी २॥	ईशान घडी २॥ / ईशान घडी २॥
पश्चिम घडी २॥ कुंभसिंहौ	शिवचार चक्रम्	पूर्व मकरकर्कौ घडी २॥
घडी २॥ नैऋत्य / घडी २॥ नैऋत्य	दक्षिण तुलार्कः घडी २॥	अग्नि घडी २॥ / अग्नि घडी २॥

अत्र चन्द्राद्यैरित्यादिशब्दात्ताराणामवस्था चेत्युक्तं । शिवचारस्थापना—
इयं च स्थापना स्थूलमानेन । सूक्ष्मेक्षिका पुनरेवम्—

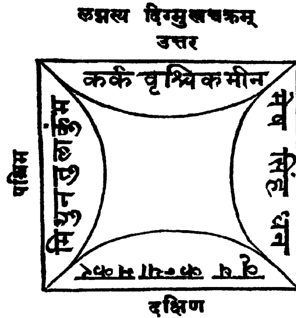
" सङ्क्रान्तेराद्यघस्रे स्वदिशि शर ५ पलान्येष भुक्त्वा भ्रमाभ्यां,
पश्चात्सृष्ट्या तटस्थां दिशमटति दशौवं पलान्यन्यघस्रे ।
वृद्धिः पञ्चोत्तरैवं प्रतिदिवसमहो तावदेतस्य यावत्,
सङ्क्रान्तेरन्त्यघस्रे स्थितिरधिककुभं सार्धनाडीद्वयं स्यात् ॥२॥"

अत्र भ्रमाभ्यामिति अहोरात्रेण तावत् शिवो द्विर्भ्रमति । तत्र प्रथमभ्रमणे सार्धपलद्वयं स्वदिशि तिष्ठति, द्वितीयभ्रमणेऽपि पुनरपरं सार्धपलद्वयं, एवं पलपञ्चकं सङ्क्रान्तेः प्रथमदिने भ्रमणद्वयेन स्वदिशि शिवः स्थित्वा ततः सृष्ट्याऽन्यदिशि याति । एवं द्वितीयदिनेऽपरं पलपञ्चकमिति दश पलानि स्थितिः । एवमेव तृतीयदिने पञ्चदश पलानि । एवं प्रत्यहं पञ्च पञ्च पलानि तावद्वर्धनीयानि यावत्सङ्क्रान्तेश्चरमे त्रिंशे दिने सार्धशतपलैः सार्धं घटीद्वयं पूर्णं शिवस्य स्वदिशि स्थितिः स्यात् । तदनु पुनः संहारेण द्वितीयदिश्यप्यागतस्यायमेव क्रमो ज्ञेयः ॥

" विवादे शत्रुहनने रणे झगटके तथा । द्यूते चैव प्रवासे वा पृष्ठे मुष्टौ शिवे जयः ॥ ३ ॥
स्वराश्च शकुना दुष्टा भद्रा ग्रहबलं तथा । दिग्दोषा योगिनीमुख्या अभयाः स्युः शुभे शिवे ॥ ४ ॥ " तथा—

" सूर्यराश्यादितः सव्ये लग्नं तत्कालसम्भवम् । पृष्ठदक्षिणगं कृत्वा जयेद्युद्धे न संशयः ॥ १ ॥
अस्यार्थः—यत्र राशावर्कोऽस्ति तत्पूर्वस्यां दत्वा तत आरभ्य सृष्ट्या गण्यते, ततश्च तदानीं यद्वर्तमानं लग्नं स्यात्तत् पृष्ठतो दक्षिणतो वा कृत्वा

॥१५१॥



जन्मलग्ने शुभा यात्रा जन्मराश्युदये तु न ।
तयोश्चोपचयस्थेषु राशिष्विष्टा परेषु न ॥ २७ ॥

व्याख्या—जन्मलग्ने इति यात्राकर्तुर्नृपादेर्यज्जन्मलग्नं तस्मिन् लग्ने यात्रा शुभा, एवमग्रेऽपि भाव्यं । अनेन चेदं सूचयति—आदौ तावज्जनुर्लग्ने ज्ञाते सति यात्रालग्नं देयं, नान्यथा, यतो जन्मलग्ने ज्ञाते सति दशायुर्ग्रहबलान्यवलोक्य दत्तं यात्रादिमुहूर्त्तं फलदं स्यात् ।

" अज्ञातजन्मनोऽप्यन्यैर्यानं योज्यमिति स्मृतम् । प्रश्नलग्ननिमित्ताद्यैर्विज्ञाते सदसत्फले ॥ १ ॥ "

इति रत्नमालायां । अत्र यानं योज्यमिति यात्रालग्नं देयमित्यर्थः । जन्मराशीति जन्मनि यत्रेन्दुः स जन्मराशिः स एवोदयो लग्नं तत्र यात्रा न शुभा । रत्नमालायां तु जन्मराशिलग्नेऽपि शुभा यात्रेत्युक्तं । तयोरिति जन्मलग्नजन्मराश्योरपेक्षया ये उपचयस्थास्त्रिषड्दशैकादशा राशयः परेषु द्वयोरप्यनुपचयस्थराशिषु यात्रा नेष्टा । विशेषस्तु—राशेर्जन्मराशिर्जन्मलग्नं वा तदधिपौ वा तत्काललग्नाच्चतुर्थे सप्तमे वा स्थानके भवतस्तदाऽपि यात्राकर्तुर्जयः । यदि च शत्रुसत्कजन्मराशिजन्मलग्नयोरुपचयगृहाणि चतुर्थे सप्तमे वा स्युस्तदापि जय एवेति रत्नमालायाम् ॥

पापैरस्ताम्बुगैर्दृष्टे युते वा जन्मलग्नभे । सौम्यग्रहैस्तु नैवं चेत्तदा यातुः पराभवः ॥ २८ ॥

व्याख्या—अस्तेति यत्र तत्र भवने स्थितो जन्मलग्नस्य राशिर्यात्रालग्ने सप्तमतुर्यस्थैः पापग्रहैर्यदि युतो दृष्टो वा स्यात् । सौम्येति स एव चाम्बुगैः सौम्यैर्यदि न युतो न दृष्टो वा तदा पराभवः, पापैरिव सौम्यैरपि यदि युतदृष्टस्तदा न पराभव इति भावः । विशेषस्तु—यात्रासमये जन्मकुण्डलिकासम्बन्धिनी अष्टमषष्ठभवने क्रूरसौम्यग्रहाधिष्ठिते अशुभे । यदुक्तं दैवज्ञवल्लभे—"वधः प्रयातुस्त्वरिभिः प्रसूतौ रन्ध्रारिभे क्रूरशुभान्विते चेत्"॥

अष्टमं स्वेन्दुलग्नाभ्यां ताभ्यां षष्ठमथ द्विषः । तद्राशिनाथयुक्तं वा लग्नं यातुरनर्थकृत् ॥ २९ ॥

व्याख्या—जन्मकालीयो य इन्दुः स स्वेन्दुः, स्वलग्नं च जन्मलग्नमेव, ताभ्यामष्टमं यल्लग्नं तद्यात्रायां त्याज्यं, ताभ्यामेव यत् षष्ठं तदपि त्याज्यं । तथा द्विषत्ताभ्यां यत् षष्ठं, कोऽर्थः ? द्विषोऽभिषेणयितुमिष्टस्य जन्मलग्नाज्जन्मराशेश्च षष्ठस्थानस्थौ यौ राशी तावपि लग्ने त्याज्यौ । तद्राशिनाथेति ये स्वेन्दुलग्नाभ्यामष्टमे षष्ठे च ये च या (जे) तव्यस्य जन्मेन्दुजन्मलग्नाभ्यां षष्ठे गृहे तेषां षण्णामपि राशीनां ये ईशास्तैर्मूर्तिस्थैर्युतं यल्लग्नं तदपि त्याज्यं । तथा च दैवज्ञवल्लभे—

"जन्मर्क्षे १ लग्नाष्टमराशिलग्ने २, षष्ठोदये ४ शत्रुभलग्नतो ६ वा । तद्राशिनाथै ६ रथवोदयस्थैः, करोतु यात्रां विषभक्षणं वा ॥१॥"

कर्कवृश्चिकमीनानामुदयेंऽशे च न व्रजेत् । मूर्तिस्थेऽहर्बले रात्रौ रात्रिवीर्येऽह्नि च ग्रहे ॥ ३० ॥

व्याख्या—उदये लग्नेंऽशे नवांशे च तत्र कर्कवृश्चिकयोः कीटत्वेन यात्रायामक्षमत्वाद्वर्जनं । मीने तु प्रस्थितो वक्रेण पथा भ्रान्त्वा भ्रान्त्वाऽसिद्धकार्यः पश्चात् समेति । उक्तञ्च रत्नमालायां, "वक्रः पन्था मीनलग्नेऽशके वा, कार्यासिद्धौ स्यान्निवृत्तिश्च तत्र" । तथा कुम्भस्य रिक्तत्वात् कुम्भलग्नकुम्भांशावपि त्याज्यावुक्तौ रत्नमालायां । मूर्तिस्थ इति यात्रालग्ने स्थितो ग्रहो यद्यहर्बली तदाऽहन्येव यात्राऽर्हा न निशि, निशाबली चेत्तदा निश्येव नाह्नि । उक्तं हि—"बलिनोऽह्नि गुरुसितार्का" इत्यादि ॥

सिद्ध्यै सौम्येशलग्नानि नौयानं जलभेष्वपि । जानीयाल्लोकतश्चात्र राशीनां वश्यतां मिथः ॥ ३१ ॥

व्याख्या—सिद्ध्यै इति कार्येष्विति शेषः । नौयानमिति जलचरलग्ने, उपलक्षणत्वाज्जलचरनवांशे वा नौयात्रासिद्धिः । प्रवहणपूरणे च निर्विघ्नतालाभौ स्यातां । वश्यतामिति, उक्तं हि दैवज्ञवल्लभे—

"चतुष्पदा द्व्यंघ्रिवशा विसिंहाः, सरीसृपश्चाम्बुचरास्तु भक्ष्याः । सिंहस्य वश्या विसरीसृपाः स्युरूह्यं जनोक्तव्यवहारतोऽन्यत् ॥ १ ॥
स्थलाम्बुसंभूतसरीसृपाख्या, भवन्ति वश्या बलिनां स्वकानाम् । समा द्युसंस्था विषमान् भजन्ते, वश्या रजन्यां विषमाः समानाम् ॥२॥"

अनयोरर्थः—अजवृषसिंहा धनुरपरार्धं मकराद्यार्धं च चतुष्पदाः, मिथुनकन्यातुलाकुम्भा धनुराद्यार्धं च मनुष्याः, कर्कमीनौ मकरपश्चार्धं च जलचराः, सरीसृपो वृश्चिक इति । ततश्च सिंहं विनाऽन्ये मेषवृषवृश्चिककुम्भा मानुषाणां वश्याः, जलचराः कर्कमकरमीना मनुष्याणां भक्ष्याः, सिंहस्य

वृश्चिकं विना सर्वे वश्याः । अन्यदिति वृश्चिकस्य सिंहोऽपि वश्यः । सर्वे पुंराशयः कन्याया वश्याः, धनुषः सर्वोऽपि वश्य इत्यादि । स्थलाम्बुसम्भूतेति, यदि द्वावपि राशी स्थलजौ जलजौ सरीसृपौ वा तदा द्वयोर्मध्ये यो बलिष्ठस्तस्येतरो वश्यः, यथा वृषस्य मेषो वश्यः, मकरस्य मीनकर्कौ वश्यौ, वृश्चिकस्यापरो वृश्चिको बलहीनत्वे सति वश्यः स्यात्, मेषद्वयवृषद्वयादीनां सम्भवेऽपि च वृश्चिकवदेव बलाधिक्यं विचार्य वश्यता भावनीया ! समाशुसंस्था इति, इष्टलग्नं किल दिवा स्याद्रात्रौ वा, तत्र दिवा समराशयो विषमराशीनां वश्याः, रात्रौ तु विषमराशयः समराशीनां वश्या इति। अस्य प्रयोजनं तु "यच्च वश्यं स्वलग्नेन्द्वोः" इति श्लोके वक्ष्यति ॥

जन्मकाले शुभैर्युक्ता द्वितीयास्तरणेश्च ये । निष्क्रूरा निर्विकाराश्च ते लग्ने राशयः शुभाः ॥ ३२ ॥

व्याख्या—द्वितीया इति येषां किल जातके वेशिसंज्ञा, "सूर्याद्द्वितीयमृक्षं वेशिः" इत्युक्तेः । निष्क्रूरा इति जन्मकाले येषु क्रूरग्रहो नाभूत् । निर्विकारा इति, क्रूरभुक्तराशिः सविकारः, चन्द्रेण भुक्तस्तु निर्विकारः जन्मकाले ये राशय ईदृशास्ते यात्रालग्ने शुभाः ॥

यच्च वश्यं स्वलग्नेन्द्वोर्न च वश्यं द्विषस्तयोः । शत्रोरेवाष्टमं ताभ्यां लग्नं यातुर्जयावहम् ॥ ३३ ॥

व्याख्या—यद्यात्रालग्नं स्वीयजन्मलग्नजन्मराश्योर्वश्यं स्यात् द्विषो जेतव्यस्य जन्मलग्नजन्मराश्योर्वश्यं च । तथा शत्रोरेव न तु स्वस्य ताभ्यां जन्मलग्नजन्मराशिभ्यां यदष्टमं स्यात्तल्लग्नं यात्रायां शुभम् ॥

इत्युक्तमष्टभिः श्लोकैर्यात्रार्हं लग्नं । अथ "जत्ता छव्वग्गसुद्धीए" इति हर्षप्रकाशोक्तेर्यात्रार्हं होरादिवर्गपञ्चकमाह—

विमुक्ताक्रान्तभोग्यानि राश्यर्धान्युष्णरश्मिना । ऊर्ध्वतिर्यगधोमुख्यो होराः स्युरुदयावधि ॥ ३४ ॥

व्याख्या—या होराऽर्केण भुक्त्वा मुक्ता सा ऊर्ध्वमुखी, भुज्यमाना तिर्यङ्मुखी, भोक्ष्यमाणा त्वधोमुखी, पुनस्तदग्रेतन्यस्तिस्रः क्रमादूर्ध्वतिर्यगधोमुख्यः पुनस्तथैव तिस्रः क्रमादूर्ध्वादिमुख्यः, एवं पुनः पुनरुदयावधीति सूर्योदयं यावत् । यद्वा उदयो लग्नं तत्राधिकृता होरेत्यर्थः तं यावत् एवं त्रिविधा होराः कल्प्याः । एवं चाहोरात्रे चतुर्विंशतिहोरात्मके त्रिविधहोराणामष्टाष्टा वृत्तयः स्युः ॥ फलमाह—

जयमूर्ध्वमुखी होरा विपदस्तिर्यगानना । अधोमुखी रणे यातु भङ्गं दिशति लग्नगा ॥ ३५ ॥

व्याख्या—जयमिति एवं कल्प्यमाने सत्यभीष्टा लग्नहोरा यद्यूर्ध्वमुखी स्यात्तदा जयदा ॥

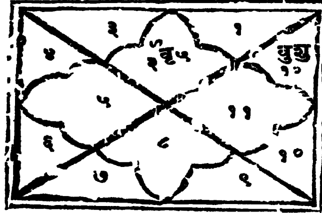
द्रेष्काणः फलरत्नाढ्यः शुभनाथः शुभेक्षितः । शुभोऽशुभस्तु सास्त्राहिपावकः पापवीक्षितः ॥ ३६ ॥

व्याख्या—राशौ राशौ त्रयत्रयभावात् षट्त्रिंशद्द्रेष्काणाः स्युः, तेषु यः फलरत्नैरुपलक्षणत्वात्पुष्पैर्भाण्डैर्वाऽऽढ्यः सौम्यस्वामिकः सौम्येन पूर्णदृशा दृष्ट एवं सौम्याकारो वा यः स्यात्स यात्रालग्ने शुभः । अशुभस्त्विति यस्तु शस्त्रसर्पाग्निभिर्युतः, केचित् पावकस्थाने पाशकं पठन्ति, तेन पाशैर्बन्धनैर्वा युतः, तथा क्रूरदृष्टः उपलक्षणत्वात् क्रूरयुतः क्रूरेशः क्रूराकारो वा सोऽशुभः । उक्तञ्च—

" द्रेष्काणाकारचेष्टागुणसदृशफलं योजयेद् वृद्धिहेतो, द्रेष्काणे सौम्यरूपे कुसुमफलयुते रत्नभाण्डान्विते च ।
सौम्यैर्दृष्टे जयः स्यात्प्रहरणसहिते पापदृष्टे च भङ्गः, साग्नौ दाहोऽथ बन्धः सभुजगनिगडे पापयुक्तेऽपि वाऽश्रीः ॥ १ ॥ "

तेषां रूपाणि चैवं बृहज्जातके—मेषे प्रथमद्रेष्काणो नरोऽभ्युद्यतपर्शुहस्तः कृष्णो रक्ताक्षो रौद्रः १ । अयं द्रेष्काणो मनुष्य एव, विशेषानभिधानात्, एवं येषु विशेषो न वक्ष्यते ते मनुष्या एव ज्ञेयाः । द्वितीयः स्त्री शोणाम्बराऽश्वाऽऽस्या दीर्घमुखोरुपादी (पदी) एकेनांह्रिणोपलक्षिता, चतुष्पदोऽयं, तत्तुल्यास्यत्वात्, एवमग्रेऽपि यथायोगं भाव्यं २ । तृतीयो नरः क्रूरः कपिलो रक्ताम्बरोऽभ्युद्यतदण्डहस्तः ३ । १ । वृषे आद्यः स्त्री कुञ्चितलूनकेशी स्थूलोदराऽग्निदग्धवस्त्रा भूषणानीच्छति १ । द्वितीयो नरोऽजास्यो धान्यक्षेत्रवास्तुहलशकटकर्मणि दक्षश्चतुष्पदोऽयं २ । तृतीयो नरो बृहत्कायपादः ३ । २ । मिथुने आद्यः स्त्री सुरूपा दीनप्रजा उच्छ्रितभुजा ऋतुमत्याभरणार्थे सादरा १ । द्वितीयो नरो गरुडास्य उद्यानस्थो बाणकवचधनुष्मान् खगोऽयं २ । तृतीयो नरो रत्नमण्डितः पण्डितो बद्धतूणकवचो धनुष्मान् ३ । ३ । कर्के आद्यो नरो हस्तिसमाङ्गोऽश्वकण्ठः सूकरास्यः पत्रमूलभृत् चतुष्पदोऽयं १ । द्वितीयः स्त्री यौवनस्था ससर्पा वनस्था २ । तृतीयो नरः सर्पवेष्टितो नौस्थः स्वर्णाभरणान्वितः ३ । ४ । सिंहे आद्यः शाल्मलिवृक्षोपरि गृध्रः शृगालः श्वा नरश्च मलिनवासाः अयं नरः खगश्चतुष्पदश्च १ । द्वितीयो नरोऽश्वाकृतिः कृष्णाजिनकम्बलभृत् दुर्धर्षो धनुष्मान्नताग्रनासः चतुष्पदोऽयं २ । तृतीय

ऋक्षास्यो वानरचेष्टो नरः कूर्चीकुञ्चितकेशो दण्डफलामिषहस्तः चतुष्पदोऽयं ३ । ५ । कन्यायामाद्यः स्त्री पुष्पपूर्णघटयुता मलिनाम्बरा गुरोः कुल वाञ्छति १ । द्वितीयो नरो लेखिनीहस्तः श्यामो लोमशो वस्त्राञ्चितशिरा विस्तीर्णधन्वपाणिः २ । तृतीयः स्त्री गौरोच्चा सुधौताग्रदुकूलाच्छादिता कुम्भकडुच्छुकहस्ता देवालयं प्रवृत्ता ३ । ६ । तुलायामाद्यो नरस्तुलाहस्तश्चतुष्पथस्थो मानोन्मानचतुरो भाण्डं विचिन्तयति १ । द्वितीयो नरो गृध्रास्यो घटान्वितः क्षुधितस्तृषितः खगोऽयं २ । तृतीयो नरः फलामिषधरो हैमतूणवर्मभृद्वानररूपो रत्नचित्रितो धनुर्हस्तो वने मृगान् भीषयते चतुष्पदोऽयं ३ । ७ । वृश्चिके आद्यः स्त्री नग्ना स्थानच्युता सर्पनिबद्धपादा मनोरमाऽब्धितः कूलमायाति १ । द्वितीयः स्त्री भर्तृकृते सर्पावृताङ्गी कूर्मकुम्भाकृति स्थानसुखानि वाञ्छति २ तृतीयो नरः सिंहरूपश्चिपिटकूर्मतुल्यास्यः अयं कूर्मश्चतुष्पदश्च ३ । ८ । धनुषि आद्यो नर आयतधन्वपाणिर्नृमुखोऽश्वकायः चतुष्पदोऽयं १ । द्वितीयः स्त्री सुरूपाऽब्धिरत्नानि विघट्टयन्ती गौराङ्गी २ । तृतीयो नरो गौरो निषण्णो दण्डहस्तः कूर्चीकौशेयकचर्मवाही ३ । ९ । मकरे आद्यो नरो रोमशः सूकराकृतिः स्थूलदंष्ट्रो बन्धनभृत् रौद्रास्यः चतुष्पदोऽयं १ । द्वितीयः स्त्री श्यामा सालङ्कारा लोहाभरणभूषितकर्णी २ । तृतीयो नरः किन्नराङ्गस्तूणी कवची धनुष्मान् सकम्बलः स्कन्धे रत्नचित्रितं कुम्भं वहति ३ । १० । कुम्भे आद्यो नरश्चर्मभृद् गृध्रास्यः सकम्बलः खगोऽयं १ । द्वितीयः स्त्री मलिनाम्बरा शीर्षे भाण्डवाहिनी अग्निना दग्धे शकटे लोहानि गृह्णाति २ । तृतीयो नरः सिंहरूपश्च श्यामः सरोमकर्णः किरीटी त्वक्पत्रनिर्यासफलभृत् ३ । ११ । मीने आद्यो नरः स्रग्मौक्तिकशङ्खपाणिः साभरणो नौस्थोऽब्धिं तरति १ । द्वितीयः स्त्री गौराङ्गी नौस्थाऽब्धितः कूलं याति २ । तृतीयो नरो नग्नो भीश्चौराग्निभ्यां व्याकुलितः सर्पावृताङ्गो गर्तान्तिकस्थः अयं व्याकुलद्रेष्काणः ३ । इति १२ । एषां चिन्तानष्टादिप्रश्ने प्रयोजनं "द्रेष्काणैस्तस्कराः स्मृता" इति । रोगिप्रश्ने "गृध्रकोलोरगव्यंशैरुदितै रोगिणो मृतिरिति" । बन्धमोक्षप्रश्ने "धृतोरगे त्र्यंशे सशृङ्खलापाशो बन्धः" इत्यादि । यात्रायां तु यथोपयोगस्तथोक्तमेव । शुभनाथ इति द्रेष्काणेशाः प्रागुक्ता एव । शुभेक्षित इति, यो द्रेष्काणो लग्नेऽधिकृतोऽस्ति तन्नामा राशिर्यात्राकुण्डलिकायां यत्र तत्र स्थितो यदि शुभग्रहैर्दृश्येत तदा स द्रेष्काणः शुभैर्दृष्ट इत्युच्यते । स्थापना यथा—



अत्र वृषे द्वितीयस्य कन्याद्रेष्काणस्य स्वामी बुधः सौम्यस्तस्य मीनमूर्तिस्थयोः शुक्रजीवयोश्च पूर्णा दृष्टिः, एवं पापस्वामिकत्वं पापदृष्टत्वं च भाव्यं । एवं वक्ष्यमाणे उदयास्तशुद्ध्यादौ नवांशादीनामपि, सौम्यक्रूरदृष्टत्वं च भाव्यम् ॥

शन्यर्केन्दुकुजाँस्त्यक्त्वा शुभोऽन्येषां नवांशकः ।
लग्नवद् द्वादशांशस्तु त्रिंशांशस्तु नवांशवत् ॥ ३७ ॥

व्याख्या—त्यक्त्वेति, यदुक्तं दैवज्ञवल्लभे—

" लग्नेऽर्कस्य नवांशे वाहननाशः कुजस्य वह्निभयम् । इन्दोः प्रतापहानिः शनेर्नवांशे मरणमेव ॥ १ ॥ "

लग्नवदिति "यातव्यं दिङ्मुखे लग्ने (२६)" इत्यत आरभ्य "यत्र वा वर्त्य स्वलग्नेद्वोः (३३)" इति यावल्लग्नविषयं यदुक्तं तत्सर्वं द्वादशांशेऽपि योज्यं । नवांशवदिति, अयमर्थः—शनिकुजवर्जानां त्रिंशांशः शुभः, अर्केन्द्वोस्त्रिंशांशाभावात् ॥ उक्ता षड्वर्गशुद्धिः । अथ यात्रायां द्वादश भावानाह—

तनुः १ कोशो २ भटो ३ यानं ४ मन्त्रो ५ ऽरि ६ वर्त्म ७ जीवितम् ८ ।
मनः ९ कर्म १० जना ११ मन्त्री १२ भावाः स्युरुदयादयः ॥ ३८ ॥

व्याख्या—कर्मेति भाग्यं व्यापारो वा । एषु स्थानेष्वेषां शुभाशुभोदर्का ग्रहबलाद्विचार्यन्ते ॥ इह च पूर्वोक्ता भावविचारणा बहुसमेव । विशेषस्तु यात्रायां द्वादशभावेषु ग्रहविचारमाह—

हन्ति योधायकर्मान्यानसौम्यः कर्म्म चासितः । सौम्योऽप्यरिं सितोऽध्वानं चन्द्रश्च तनुजीविते ॥ ३९ ॥

व्याख्या—असौम्यः क्रूरो ग्रहस्त्रिदशैकादशवर्जान् सर्व्वान् भावान् हन्ति त्रिदशैकादशाँस्तु पुष्णातीत्यर्थः । किं सर्वोऽपि क्रूर एव ? नेत्याह—कर्म्म चासित इति, असितः शनिर्दशमभावमपि हन्ति, शेषाँश्च सर्वान्, केवलं त्र्येकादशावेव शनिः पुष्णातीति भावः । सौम्योऽप्यरिमिति, सौम्योऽपि गुरुशुक्रबुधेन्दुरूपो ग्रहोऽरिं षष्ठभावं हन्ति "सौम्याः षष्ठेऽरिघ्ना" इत्युक्तेः, शेषभावाँस्तु पुष्णात्येव, क्रूरग्रहस्तु षष्ठभावं [illegible]

ननु किं सर्वाऽपि सौम्योऽरिवर्जसर्वभावान् पुष्णात्येव ? नेत्याह—सितोऽध्वानमिति सितः शुक्रोऽध्वानं सप्तमभावमपि हन्ति, चन्द्रश्च प्रथमाष्टमभावावपि हन्ति, शुक्रेन्दू षष्ठभावं विनाशयत इति तूक्तमेव । एवं चायमर्थः सम्पन्नः—

" ख १० स्वशनिवर्जमुपचयगाः क्रूराः सर्वगाः शुभाः सौम्याः । हित्वास्ते ७ सितमष्टम ८ लग्न १ ग-शशिनश्च यात्रायाम् ॥ १ ॥ "

इति कृता यात्राकुण्डलिकायां सामान्येन द्वादशभावविचारणा ॥ अथ मूर्तिस्थग्रहव्यवस्थामाह—

जन्मन्यनिष्टः सौम्योऽपि न लग्नस्थः शुभो ग्रहः । तत्रेष्टदस्तु पापोऽपि यात्रालग्नस्थितः शुभः ॥ ४० ॥

व्याख्या—सौम्योऽपि यो जन्मसमये मृत्युव्ययभवनस्थत्वादिना अशुभः स यात्रालग्ने मूर्तौ न शुभः, तत्रेष्टद इति, यस्तु क्रूरोऽपि रिपु ६ लाभ ११ स्थानादिना जन्मनीष्टदः स यात्रालग्ने मूर्तौ शुभ एव, जन्मशुभाशुभग्रहाश्च विस्तरतो जातकाज्ज्ञेयाः । समासेन त्वेवम्—

" क्रूरास्त्रिषडायस्थाः सितेन्दुगुरवोऽन्तिमाष्टरिपुवर्जाः । ध्यष्टान्तिमरिपुवर्जो बुधः प्रशस्यो जननसमये ॥ १ ॥ " स्थापना—

जन्मकुण्डलिकायां शुभाः ।	
रवि	३–६–११
चन्द्र	१–२–३–४–५–७–९–१०–११
मंगल	३–६–११
बुध	१–२–३–४–७–९–१०–११
गुरु	१–२–३–४–५–७–९–१०–११
शुक्र	१–२–३–४-५–७–९–१०-११
शनि	३–६–११
राहु	३–६–११

पापोऽप्यभीष्टदो जन्मलग्नर्क्षस्वामिनोः सुहृद् ।
मूर्तिस्थितः शुभोऽपि स्यादशुभोऽरातिरेतयोः ॥ ४१ ॥

व्याख्या—जन्मलग्नर्क्षेति जन्मलग्नेशजन्मराशीशयोर्यो मित्रम् ॥

सुहृद्दशापतेः सद्यः सफलो जनने बली ।
क्रूरोऽपि विविधो भद्रस्तनौ सौम्योऽपि नेतरः ॥ ४२ ॥

व्याख्या—यात्राकाले यस्य ग्रहस्य दशाऽस्ति स दशापतिस्तस्य सुहृन्मित्रम् । विशेषस्तु दशापतिरपि यात्रासमये सबलो विलोक्यते । यदल्लः—

" यात्रा नैव दशापतावुपहते नैवास्तगे नाबले,
नीचस्थे न च नैव वक्रिणि नृणां देया कदाचिद् बुधैः । " इति

दशाक्रमतत्प्रमाणतद्विभागादिस्वरूपं च जातकादिभ्यो ज्ञेयं, इह त्वप्रस्तुतत्वादतिविस्तरत्वाच्च न प्रतन्यते, स्थानाशून्यार्थं तु वार्षिकं दिनदशाप्रमाणं स्थूलं दर्श्यते, तथाहि—

"निजनामराशितः प्रभृति गण्यते वर्तमानसङ्क्रान्तेः । गतदिवसावध्येवं दिवसदशाः स्युः क्रमादेताः ॥ १ ॥"

रवी १ न्दु २ भौम ३ ज्ञ ४ शनी ५ ज्य ६ राहु ७ सकेतु ८ शुक्रेषु ९ नखाः २० खबाणाः ५० ।

अष्टाश्वि २८ षड्बाण ५६ रसाग्नि ३६ देव ३३ देवा ३३ तिशील्य ३४ भ्रहया ७० दशाहाः ॥ २ ॥"

सर्वे दिनाः षष्ठ्यधिका त्रिशती ३६० ।

"हानिं १ धनं २ रुजं ३ लक्ष्मीं ४ दैन्यं ५ लक्ष्मीं ६ च बन्धनम् ७ । भयं ८ श्रियं ९ चार्कादीनां दद्युर्दिनदशाः क्रमात् ॥ ३ ॥"

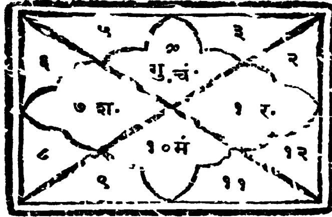
अत्रायमाम्नायः–स्वनामराशौ यद्दिनेऽर्कः सङ्क्रान्तस्तद्दिनादारभ्य वर्तमानदिनं यावद्दिना गण्यन्ते इयन्तो दिना गता इति, तत्राद्या विंशतिर्दिना रवेर्दिनदशाः अग्रे पञ्चाशद्दिना इन्दोरित्यादि, एवं गणने यस्य ग्रहस्य दिनदशा तदानीं समेति स दशापतिरिति । 'सद्यः सफल' इति यस्तदानीं गोचरेण प्रतिकूलवेधेन वा शुभः स सद्यः सफलः, यस्तु गोचरेणानुकूलवेधेन वाऽशुभः स सद्योऽफलः । तथा जन्मपत्रिकायां यो बली रूपवानित्यादिवदतिशायने मत्वर्थीयोऽयं ततो यः सर्वोत्कृष्टबल इत्यर्थः । 'इतर' इति यो वर्तमानदशेशस्यारिः, यो वा तदानीमफलः, यो वा जन्मकाले निर्बल इति । ननु यदि जनने बलीत्युक्तं तदा जन्मनि सर्वोत्कृष्टबलोऽपि यो मृत्युस्थत्वादिनाऽनिष्टदस्तस्यापि मूर्तौ ग्राह्यत्वप्रसङ्गः । मैवं, "जन्मन्यनिष्टः सौम्योऽपि" इत्यनेनैव तस्य निषेधभवनात् ॥

ग्रहाणां	र.	सो	मं.	बु	श.	गु.	रा.	के	शु.
दशादिनानि	२०	५०	२८	५६	३६	३३	३३	३४	७०
फलम्	हानिः	धनं	रुजं	लक्ष्मी	दैन्यं	लक्ष्मी	बंधनं	भयः	श्रीः

जन्मकाले विधोर्यद्वाऽन्योऽन्येनोपचयस्थिताः ।
तानाख्याः मौम्यवत्क्रूरा जानकोक्ताश्च कारकाः ॥४१॥

व्याख्या—जन्मपत्रिकायां चन्द्रात्त्रिषड्दशैकादशस्थानां ग्रहाणां चन्द्रापेक्षया तानसंज्ञा । तथा जन्मन्येव येऽन्योऽन्यस्मादुपचयस्थास्तेषामप्यन्योऽन्यं तानसंज्ञा । कोऽर्थः ? पितृपुत्रगुरुशिष्यादिवत्तान-

शब्दस्य सम्बन्धिशब्दत्वेन द्विष्ठत्वादेकैकग्रहस्य शेषास्तानसंज्ञया व्यवह्रियन्ते, अन्योऽन्यस्य कार्यं तन्वन्ति विस्तारयन्तीति कृत्वा। एवं कारकसंज्ञाया अपि द्विष्ठत्वं सान्वर्थत्वं च भाव्यं । ते च क्रूरा अपि सौम्यवत् स्युः तन्वादियथोक्तभावेषु शुभा इत्यर्थः । जातकोक्ता इति जातके ये कारकसंज्ञयोक्ता-स्तेऽपि क्रूरा अपि सौम्यवत्स्युः । ते चैवं—तत्रोक्ता ये ग्रहाः स्वर्क्षे स्वोच्चे स्वत्रिकोणे वा स्थिताः केन्द्रेषु स्युस्ते सर्वेऽप्यन्योऽन्यं कारकसंज्ञाः, तेषां मध्ये दशमकेन्द्रस्थो ग्रहः शेषग्रहाणां विशिष्य कारकः, सर्वेषां चैतेषां चन्द्रयुतिदृष्ट्या बलवत्त्वं, यथा कर्के लग्ने तत्स्थे चन्द्रेऽर्काऽऽरगुरुमन्दाः स्वस्वो-च्चस्थाः सन्तो मिथः कारकाः स्युः । स्थापना यथा—



तथा लग्नस्थग्रहस्य दशमतुर्यस्थो ग्रहः सर्वोऽपि स्वगृहस्वोच्चस्वत्रिकोणेष्वस्थितोऽपि कारकाख्यः स्यात् । तथा लग्नं केन्द्रं वा विनाऽपि स्थितस्य ग्रहस्य यदि कश्चिद् ग्रहो दशमस्थाने स्वर्क्षोच्चत्रिकोणाना-मन्यतमस्थो निसर्गमैत्र्या तात्कालिकमैत्र्या च सम्पन्नः स्यात्तदा सोऽपि तस्य कारकाख्यः स्यात् । उक्तञ्च—

“ स्वर्क्षोच्च (र्क्षतुं) गमूलत्रिकोणगाः, कण्टकेषु यावन्त आश्रिताः ।
सर्व एव तेऽन्योऽन्यकारकाः, कर्मगस्तु तेषां विशेषतः ॥ १ ॥ ” अत्रोदाहरणम्—
“ कर्कटोदयगते यथोडुपे, स्वोच्चगाः कुजयमार्कसूरयः ।
कारका निगदिताः परस्परं १, लग्नगस्य सकलोऽम्बराम्बुगः २ ॥ २ ॥ ”

अत्र सकल इति स्वगृहोच्चत्रिकोणेष्वस्थितोऽपीति भावः ॥

“ स्वर्क्षकोणोच्चगः खेटः खेटस्य यदि कर्मगः । सुहृत्तद्गुणसम्पन्नः कारकश्चापि संस्मृतः ॥ ३ ॥ ”

जन्मलग्नेशयोस्तानः कारको वाऽपि लग्नगः । असौम्योऽपि शुभाय स्याद्व्यस्तः सौम्योऽपि चान्यथा ॥ ४४ ॥

व्याख्या—ईशशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धाज्जन्मेशलग्नेशयोरिति योज्यं ; अयमर्थः—यात्राचिकीर्षोर्नृपादेर्जन्मनि यत्रेन्दुस्तद्राशीशो जन्मेशः तस्य तज्जन्मस-त्कलग्नेशग्रहस्य वा यो ग्रहो जन्मपत्रिकायां तानरूपः कारकरूपो वा स्यात् स क्रूरोऽपि यात्रालग्ने मूर्तिस्थः शुभ एव । व्यस्त इति विपरीतः सौम्यग्रहोऽपि जन्मपत्रिकायां जन्मेशलग्नेशयोस्तानः कारको वा नास्ति स यात्रालग्ने मूर्तौ न शुभः । तदर्थं भावः—यात्रायां तानस्य कारकस्य वा बलं ग्राह्यमेव । तथा—

" नायकाः स्युः प्रसूतौ ये रक्षका ये च वर्धकाः । ते क्रूरा अपि यात्रायां लग्नस्थाः शुभदा ग्रहाः ॥ १ ॥ "
इति दैवज्ञवल्लभे । एषां च स्वरूपं बृहज्जातके ॥

वक्री केन्द्रेऽथ तद्वर्गो लग्ने यातुर्जयापहः । गतिप्रमाणवर्णैर्वा विकृतश्च नभश्चरः ॥ ४५ ॥

व्याख्या—अर्केन्द्वोर्वक्रासम्भवाद्भौमाद्यन्यतरो यो ग्रहस्तदानीं वक्रगोऽस्ति स एकोऽपि यात्रालग्ने केन्द्रस्थो जयं हन्ति, किं पुनर्द्वित्राः? अथेति तस्यैव वक्रिणो ग्रहस्य वर्गो होराया असम्भवाद् गृहद्रेष्काणनवांशादिरूपश्चेल्लग्नेऽस्ति तदा सोऽप्यशुभः । वक्रमार्गदिनसङ्ख्या चेयं ज्योतिषसारे—
" पणसट्ठि ६५ इक्कवीसा २१ बारस अहियं सयं च ११२ बावन्ना ५२ । चउतीस सयं च १३४ कमा वक्कदिणा मङ्गलाईणं ॥ १ ॥
सग सय पणाल ७४५ बिणवइ ९२ चुआलसय १४४ पञ्चसयचउव्वीसा ५२४ । दोअ सया चालीसा २४० मङ्गलमाइण मग्गदिणा ॥२॥"
गतीत्यादि गत्याद्यैर्विकृतोऽपि ग्रहो यात्रालग्ने मूर्त्तौ न शुभः, अतिचरितो ग्रहो गतिविकृतः । अतिचारस्वरूपं चैवं लल्लोक्तम्—
" पक्षं १ दशाहं २ त्रिपक्षी ३ दशाहं ४ मासषट्तयी ५ । अतिचारः कुजादीनामेष चारान्तितोऽपरः ॥ १ ॥ "

ग्रहाणां	मं.	बु	गु.	शु.	श.
वक्रदिनानि	६५	२१	११२	५२	१३४
मार्गदिनानि	७४५	९२	१४४	५२४	२४०
अतिचारः	पक्षं	१०	त्रिपक्षी	१०	६ मास

प्रमाणेति पूर्वप्रमाणात् ह्रस्वो महान् वा खे लक्ष्यमाणः प्रमाणविकृतः, एवं वर्णविकृतोऽपि भाव्यः । लल्लस्त्वाह—" यस्य ग्रहस्य जन्मर्क्षं क्रूरग्रहोल्काद्यैः पीडितं स्यात्सोऽपि ग्रहो यात्रालग्ने मूर्त्तौ न शुभः" ग्रहजन्मर्क्षाणि चैवं—
" विशाखा १ कृत्तिका २ ष्यानि ३ श्रवणो ४ भाग्य ५ मित्र्यभम् ६ ।
रेवती ७ याम्य ८ मश्लेषा ९ जन्मर्क्षाण्यर्कतः क्रमात् ॥ १ ॥ "

उत्तरान्तश्चरो भानोः शुभो नान्यस्तनौ ग्रहः ।
फलेन वर्गो वारश्च तनुगव्योमगोपमः ॥ ४६ ॥

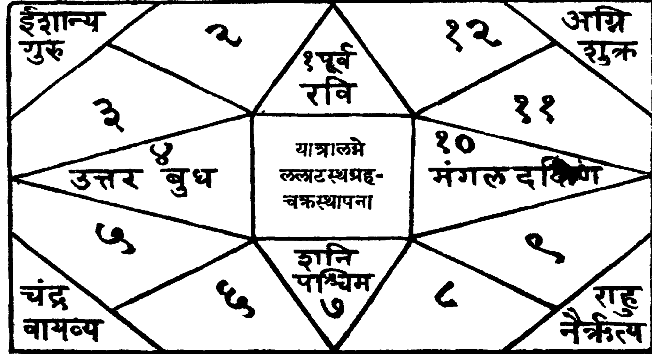
व्याख्या—इष्टेऽह्नि यत्रार्कोदयास्ते स्यातां तत्स्थानं सम्यग्निर्णीय चिह्नयितव्यं, यत्र च विवक्षितग्रहस्योदयास्ते स्यातां तदपि । एवं च योऽर्का-

"पापः शीघ्रः १ शुभो वक्री २ बालो ३ वृद्धा ४ ऽरिभा ५ स्तगः ६। नीचः ७ पापान्तरे ८ ऽष्टस्थ ९ इत्युक्तो बलवर्जितः ॥ १ ॥"
एवमन्यत्रापि यथासम्भवं दौर्बल्यं भाव्यं । अभिषेणयत इति सेनयाऽभिमुखं प्रस्ताताद्वैरिणो विजयाय गच्छतः ॥

दिग्गीशः केन्द्रगः श्रेयान् दिग्बली भालगस्तु न। बलिनौ जन्मलग्नेशौ केन्द्रोपचयगौ शुभौ ॥ ४८ ॥

व्याख्या—केन्द्रग इति "ग्रहाः स्युरैन्द्री" त्यादिनोक्तो यातव्यदिशः पतिर्ग्रहो बलवान्, यात्रालग्ने यत्र तत्रापि केन्द्रे स्थितः शुभः, परं दिग्बलीति यातव्यदिगीशो ग्रहो लग्ने दिग्बली न श्रेयान्, ग्रहाणां दिग्बलित्वभवनप्रकारस्तु लग्नाद्युत्क्रमकेन्द्रेत्यादिना प्रागुक्त एव। तथा भालगस्त्विति यातव्यदिगीशो ग्रहो लग्ने तद्दिक्स्थत्वेन यातां सम्मुखीनो न शुभः। उक्तञ्च दैवज्ञवल्लभे—

"दिगीश्वरो ललाटस्थो यदि वा दिग्बलान्वितः। वधबन्धप्रदो यातुः केन्द्रगस्तु जयार्थदः ॥ १ ॥" ललाटस्थभवनप्रकारश्चायं पूर्वैरूचे—



"लग्ने १ भानुर्व्यय १२ भव ११ गतः शुक्र आरो नभः १० स्थो,
राहुर्धर्म्मा ९ ष्टम ८ गृहगतः सप्तमस्थोऽर्कपुत्रः।
नीहारांशू रिपु ६ तनय ५ गो बन्धु ४ गः सोमपुत्रो,
जीवश्चाद्विस्थित इति ललाटस्थिताः पूर्वतः स्युः ॥ १ ॥"

स्थापना—यात्रालग्ने ललाटस्थग्रहचक्रम्— ललाटग्रहफलं चैवम्—

"शस्त्राग्निभयं १ व्याधि २ र्धनक्षयो ३ बन्धनं ४ मृति ५ र्व्याधिः ६।
हारिः ७ सैन्यविमर्दौ ८ भालगदिगधिपफलं क्रमशः ॥ १ ॥"

विशेषस्तु केतुरुदितः सन् यातव्यदिक्सम्मुखनताग्रो यात्रायां शुभः। तथा उपचयकरस्य ग्रहस्य दिशं गच्छेत् न त्वपचयकरस्येति लल्लः। बलिनौ जन्मलग्नेशाविति जन्मेशलग्नेशयोर्गण्डान्तस्थत्व १, गोचरादिमातिकूल्य

२, गतिप्रमाणवर्णवैकृत्य ३, सूर्यतो दक्षिणचारित्व ४, प्रागुक्ताष्टादशविधदुर्बलत्वाना ५, मभावेन षड्विधबलसम्पन्नत्वविजितरिपुत्वादीनां भावेन च बलिष्ठत्वं भावनीयं। केन्द्रेति सामान्योक्तावपि सप्तमवर्ज्जे एव केन्द्रे लग्नेशः शुभ इति ज्ञेयं। विशेषस्तु—"क्रूरावपि जन्मलग्नेशौ सौम्यवदेव व्यवहर्तव्यौ" सर्वकार्येषु सबलत्वविधानेनेति लल्लः॥ उक्ता केन्द्रादिषु ग्रहव्यवस्था। अथ यात्रायाः कुण्डलिकायां कैर्ग्रहैः कीदृशैर्यात्रायां गतस्य क उपायो जयदः स्यादित्याह—

सितेज्या १ विन्दु २ रार्किज्ञतमोऽन्त्याः ३ सूर्यमङ्गलौ ४। सामादिसाधकाः केन्द्रोपचयेषु बलोत्कटाः॥ ४९॥

व्याख्या—राज्ञां साम १ दाम २ भेद ३ दण्डा ४ श्चत्वार उपायाः। ततश्च यात्रालग्ने यदि शुक्रगुरू बलिनौ केन्द्रोपचयस्थौ स्यातां तदा सामोपायेन जयः स्यात् सन्धिविधिनेत्यर्थः। अत्र यथा सन्धिः कृतो निश्चलः स्यात्तथोच्यते—

"भाग्ये मैत्रे शीतरश्मौ सपुष्ये, द्वादश्यां वा शुक्रदृष्टे च लग्ने। अष्टम्यां वा तैतिलाख्ये प्रदिष्टा, पूर्वाचार्यैरत्र सन्धानसिद्धिः॥१॥"

इति रत्नमालायां। एवं इन्दौ तथास्थे दानेनेत्यादि। अन्त्यः केतुः। विशेषस्तु—एषां लग्नेषु नवांशेषु वा वारहोरास्वपि च क्रमाद्यथोक्तैरुपायैः सर्वकार्येषु सिद्धिः स्यात्॥ अथ यादृशग्रहबलेन रिपुतः प्रथमं पश्चाद्वाऽभिषेणनं क्रियमाणं सफलं स्यात्तदाह—

पौरा ज्ञजीवमन्दाः स्युरपरे यायिनो ग्रहाः। सफला यायिभिर्यात्रा बलिभिः स्थितिरन्यथा॥ ५०॥

व्याख्या—पौरा इति स्थायिन इत्यर्थः। यायिनां सबलत्वे सति रिपुतः प्रथममभिषेणनं सफलं। अन्यथेति पौराणां तु सबलत्वे स्वस्थानस्थितिरेव सफला। कोऽर्थः? तथा सति रिपुतः प्रथममात्मना यात्रा न कार्या। विशेषस्तु—पौराणां यायिनां च मिश्राणां सबलत्वे द्वैधीभावं कुर्यात्। कोऽर्थः? सैन्यार्धेन स्थितिं सैन्यार्धेन यात्रां च कुर्यात्। तथा सौम्येषु बलिषु सन्धिः कार्यः, क्रूरेषु बलिषु विग्रहेण जयः, सर्वैरप्यबलैरन्यं सभाग्यं नृपमाश्रयेदिति योगयात्राग्रन्थे। इत्युक्तं सप्रपञ्चं पञ्चविंशत्या श्लोकैर्यात्रालग्नकुण्डलिकास्वरूपं। इद च सामान्येन राजादीनधिकृत्य ज्ञेय, यतो राजानोऽपि वक्ष्यमाणयोगालाभे केवललग्नबलेनापि यात्रां कुर्युः। यल्लल्लः—

"ऐकान्तिकगन्तव्ये दैवेन निपीडिते च यातव्ये। केवलविलग्नयोगादपि याता सिद्धिमाप्नोति॥ १॥"

अथ शुभतिथिनक्षत्रलग्नादिबलं विनापि यैर्ग्रहयोगै राज्ञां यात्रा सफला स्यात्तान् राज्ञामेव योग्यानन्यासाधारणान् यात्रोचितग्रहयोगानभिधित्सुराह—

चौराणां शकुनैर्यात्रा नक्षत्रैश्च द्विजन्मनाम् । मुहूर्त्तैः सिद्धयेऽन्येषां राज्ञां योगैश्च ते त्वमी ॥ ५१ ॥

व्याख्या—शकुनैरिति शान्तप्रदीप्तदिग्विभागानुरूपफलैर्मरुदेशीयवृद्धानामनुभवसिद्धैरागन्तुकशकुनैः, नक्षत्रैरिति नक्षत्राणां गुणैरित्यर्थः । मुहूर्त्तैरिति शिवभुजगमित्रेत्याद्युक्तेः शुद्धद्विघटिकैरित्यर्थः । अन्येषामिति वैश्यशूद्रकारुप्रभृतीनां । योगैश्चेति, अयं भावः—तिथिवारभलग्नादिशुद्धिनिरपेक्षमपि राज्ञामेतैर्ग्रहयोगैर्यात्रा फलति । यदुक्तं दैवज्ञवल्लभे—

" तिथि १ क्षण २ भ ३ वाराणां ४ साध्यं योगेन सिध्यति । तस्मात्सर्वेषु कार्येषु ग्रहयोगान् सुचिन्तयेत् ॥ १ ॥ "

नन्वस्त्वेवं, परं बलवति लग्नेऽपि ग्रहाणां सौम्यक्रूरता यत्नेन विचार्यते, इह तु तद्विचारलेशोऽपि नेत्यत्र को हेतुः ? उच्यते—इह योगस्यैव बलं प्रधानं । तथाहि—यथौषधान्तरसंयोगाद्वत्सनागादिविषमपि रसायनीभूय जन्तुजीवातुः स्यात्, तथा क्रूरोऽपि ग्रहो योगाच्छुभदः स्यात् । यथा च घृतमधुनी सममेव उपविषं मृत्युदमिति चरकवचः, तथा शुभग्रहा अपि योगादशुभाः स्युः । तदेतैर्योगैर्मास १ तिथि २ वार ३ भ ४ योग ५ क्षण ६ चन्द्र ७ तारा ८ लग्नानां ९ विरुद्धत्वेऽपि यात्रा सफला स्यादिति प्रत्येयं । उक्तञ्च रत्नमालायां—

" तिथौ क्षणे भे करणे च वारे, योगे विलग्ने हिमगौ नृपाणाम् । पापेऽपि यात्रा सफलाऽत्र योगैः......" ॥ इति ।

एतच्चैकान्तिककार्यविषयं । स्वस्थे तु मासतिथिनक्षत्रादिबलं योगबलञ्च विलोक्यं । यद्भास्करः—"अवमाधिमासयोर्न प्रतिष्ठतेऽभीष्टसिद्ध्यर्थीति" । तथा—"पहि कुसलुलग्गि" इत्यादि ॥ योगानेवाह—

अर्कार्किशशिनः सिद्ध्यै राज्ञां लग्ना १ रि ६ मध्य १० गाः (१)[1] ।

सितेज्यमन्दज्ञाराश्च लग्ना १ स्त ७ त्रि ३ सुखा ४ रि ६ गाः (२) ॥ ५२ ॥

व्याख्या—अर्धद्वयेऽपि यथासङ्ख्यं योजना ॥

---

1 योगाङ्कोऽयं, एवं सर्वत्र.

शुक्रज्ञार्काश्च लग्न१स्व२भ्रातृषु३क्रमशः श्रिये (३) । लग्ना१रि६गौ च जीवार्कौ जयदौ व्यष्टमे विधौ (४) ॥ ५३ ॥

व्याख्या—क्रमश इत्युत्तरार्धेऽपि योज्यं । व्यष्टमे इति, यदीन्दुरष्टमगृहे न स्यात् ॥

मन्दारौ त्र्या३य११षट्सु ज्ञसितेज्याश्चोत्कटाः श्रिये(५) । केन्द्रे च बलिनौ ज्ञेज्याविन्दौ त्वापोक्लिमेऽबले(६) ॥५४॥

व्याख्या—उत्कटा इति यत्रतत्रस्था अपि बलिन इत्यर्थः । चन्द्रे आपोक्लिमस्थे निर्बले च सति ॥

श्रिये विधुः सुखे४ऽस्ते७ तु सितज्ञौ(७)व्यत्ययेन वा(८) । याने त्रिकोणकेन्द्रस्थाः सौम्याः षट् आयगाः परे(९) ॥५५॥

व्याख्या—सितज्ञौ सुखे, चन्द्रोऽस्ते इति व्यत्ययः । याने इति यात्रायां श्रिये स्युरिति योगः । परे क्रूराः ॥

जयाय मूर्तौ१ मार्त्तण्डः सौम्यः स्वे२ सप्तमो विधुः(१०) । बृहस्पतिर्वा केन्द्रस्थः शेषेषु स्वा१य११वर्तिषु(११) ॥५६॥

व्याख्या—स्व द्वितीयं । शेषेषु क्रूरसौम्येषु सर्वेषु । एवं योगा एकादश ॥

यातुः प्राग्दक्षिणयोर्ज्ञसितान्तर्जयकरः सुखे चेन्दुः(१२) । गुरुरेकान्तर आर्के(१३)र्ज्ञो वा शुक्राच्च(१४)भौमाद्वा(१५) ॥५७॥

व्याख्या—प्राच्यां दक्षिणस्यां वा चेद्यात्रा तदा ज्ञशुक्रयोर्मध्येऽन्तराले तिष्ठन्निन्दुः शुभः । परं यदि सुखे तुर्यस्थाने स्यात्तदैव शुभः, नान्यथा । प्रतीच्युदीच्योस्तु यात्रायामयं योगो नापेक्ष्यः । तथा गुरुरेकान्तर इति शनितो गुरुरेकान्तरगृहे स्थित इत्येको योगः । ज्ञो वेति शुक्राद्बुध एकान्तर-गृहे स्थित इति द्वितीयः । भौमाद्बुध एकान्तरगृहे स्थित इति तृतीयः । दैवज्ञवल्लभेऽप्युक्तम्—

"भृगुजादथवा महीसुताद्बुध एकान्तरगे स्थितो यदा । रविजादथवा गुरुस्तदा, व्रजतो यान्त्यरयः क्षयं रणे ॥ १ ॥"

तदेवमत्र श्लोके योगाश्चत्वारः ।

गुरुर्जयाय लग्न १ स्थः क्रूरैर्लाभ ११ नभो १० गतैः (१६) । तथा चन्द्रेऽष्टमे षष्ठे शुक्रे लग्नगतो गुरुः (१७) ॥५८॥

व्याख्या—एते सर्वे प्रत्येकयोगाः सप्तदश ॥ अथ योगपिण्डमाह—

सिद्‌ध्यै धी५धर्म९केन्द्रेषु बुधवाक्पतिभार्गवैः। योगो१ऽधियोगो२ योगाधियोग३श्चैक १ द्विक २त्रिकैः ३ ॥५९॥

व्याख्या—बुधगुरुशुक्राणामन्यतम एकश्चेत् धीधर्मकेन्द्राणामन्यतमस्थानस्थः स्यात्तदा योगः १ । द्वौ चेत्तथा तदाऽधियोगः २ । त्रयोऽपि चेत्तथा तदा योगाधियोगः ३ । एषां फलान्येवं दैवज्ञवल्लभे—

"योगेन यो याति नृपोऽरिदेशं, सुखेन सोऽभ्येत्य १, धियोगयाता। प्राप्नोति कीर्तिं विजयं धनञ्च २, योगाधियोगेन महीमशेषाम् ३ ॥१॥"

अत्राम्नायः—यद्यपरो यात्रायोगो लभ्यते वा न लभ्यते वा परमुभयथाऽपि यात्रा तदैव कार्या । यदि बुधगुरुशुक्राणामन्यतम एकोऽपि धीधर्मकेन्द्राणामन्यतमे स्थाने स्थितः स्यात् द्विप्रभृतीनां तु किमुच्यते? इह च स्थूरवृत्त्या योगास्त्रयः, सूक्ष्मेक्षिकायां तु द्विचत्वारिंशदधिका त्रिशती ३४२ योगानामुत्पद्यते । कथमिति चेदुच्यते—एककयोगास्तावदष्टादश । कथं? धीधर्मकेन्द्रैस्तावत् षट् स्थानानि सन्ति, तथाहि ५–९–१–४–७–१० । एषु षट्सु प्रत्येकं बुध एवैकः स्थित इति लब्धा बुधेन षड्भङ्गाः । एवं गुरुशुक्राभ्यामपि प्रत्येकं षट् षट्, एवमष्टादश १८ ।

अथ द्विकयोगा अष्टोत्तरं शतं । कथं? ज्ञगुरुशुक्राणां ग्रहाणां तावत्त्रीणि द्विकानि स्युः। तथाहि—ज्ञगुरू १ ज्ञशुक्रौ २ गुरुशुक्रौ ३ चेति। तत्र ज्ञगुरू समुदितौ प्रत्येकं षट्स्थानेषु स्थिताविति लब्धा एकेन द्विकेन षड्भङ्गाः। एवं शेषद्विकाभ्यामपि षट् षड् लभ्यन्ते, एवमष्टादश १८ । एते समस्तद्विकयोगाः ॥ अथ व्यस्तद्विकयोगाः, तथाहि—धियां बुधं धर्मे च गुरुं न्यस्य, गुरुः पुनः पुनरुत्थाप्य षष्ठं पदं यावच्चाल्यते, अनेनाक्षचारणिकाख्यकरणेन लब्धाः पञ्च भङ्गाः । पुनर्धर्मे बुधं प्रथमे गुरुं च न्यस्य, पुनः पुनर्गुरुरुत्थाप्य पुरः पुरो मण्ड्यते, एवं लब्धाश्चत्वारः ४ । एवमेव पुनस्त्रयः ३ । पुनर्द्वौ २ । पुनरेक १ श्चेति मीलने सर्वे पञ्चदश १५ । एते ज्ञगुर्वोः क्रमस्थापनया लब्धाः । यदा त्वेतौ विपर्ययेण स्थाप्येते, कथं? धियां गुरुर्धर्मे बुधः इति न्यस्य, बुधः पुनः पुनरुत्थाप्य पुरः पुरो मण्ड्यते, एवं लभ्यते पञ्च। पुनर्धर्म्मे गुरुं प्रथमे बुधं च न्यस्य बुधस्य पुनः पुनरुत्थापनया लभ्यन्ते चत्वारः। तथैव पुनस्त्रयः, पुनर्द्वौ, पुनरेकश्चेति मीलने एतेऽपि पञ्चदश। उभयोः पञ्चदशकयोर्योजने त्रिंशत् ३०। एते प्रथमद्विकेन क्रमोत्क्रमस्थापनाभ्यां लब्धाः। एवमेव द्वितीयद्विकेऽपि क्रमोत्क्रमाभ्यां त्रिंशत् ३० । तृतीयद्विकेऽपि तथैव त्रिंशत् ३० । तिसृणां त्रिंशतां योगे नवतिः ९० । पाश्चात्याष्टादशयोजनेऽष्टोत्तरशतं द्विकयोगाः १०८ । अथ त्रिकयोगाः षोडशाधिका द्विशती २१६ । कथं? त्रयाणां त्रिकयोगस्तावदेक एव । ततो ज्ञगुरुशुक्राणां त्रिकं

समुदितमेव षट्सु स्थानेषु तिष्ठतीति जाताः षड्भङ्गाः । अथ धियां बुधं धर्म्मे गुरुशुक्रौ च न्यस्य समुदितावेव तौ पुनः पुनरुत्थाप्य पुरः पुरो मण्ड्येते, एवं लब्धाः पञ्च । धर्मे ज्ञं प्रथमे गुरुशुक्रौ च न्यस्य प्राग्वत् तद्युग्मस्य पुनः पुनरुत्थापनया लभ्यन्ते चत्वारः, तथैव पुनस्त्रयः, पुनर्द्वौ, पुनरेकश्चेति मीलने सर्वे पञ्चदश १५ । एते ज्ञस्य धुरि स्थापने लब्धाः । यदा तु गुरुर्धुरि स्थाप्यते शेषौ चाग्रे तदाप्यनेनैव करणेन पञ्चदश लभ्यन्ते। यदा च शुक्रो धुरि स्थाप्यते शेषौ चाग्रे तदापि तथैव पञ्चदश। पञ्चदशकत्रयमीलने पञ्चचत्वारिंशत् ४५ । अथ धियां समुदितौ बुधगुरू, धर्मे शुक्रं च न्यस्य, शुक्रस्य पुनः पुनरुत्थाप्य पुरः पुरश्चालने लब्धाः पञ्च । ततो धर्मे समुदितौ बुधगुरू प्रथमे शुक्रं न्यस्य शुक्रस्य पुनः पुनरुत्थापनेन लभ्यन्ते चत्वारः, तथैव पुनस्त्रयः, पुनर्द्वौ, पुनरेकश्चेति मीलने सर्वे पञ्चदश । एते ज्ञगुरुयुग्मस्य धुरि स्थापने लब्धाः । यदा तु ज्ञशुक्रयुग्मं धुरि स्थाप्यते गुरुश्चाग्रे तदाप्यनेनैव करणेन पञ्चदश लभ्यन्ते। यदा च गुरुशुक्रयुग्मं धुरि स्थाप्यते बुधश्चाग्रे तदापि तथैव । पञ्चदशकत्रयमीलने च पुनरपि पञ्चचत्वारिंशत् ४५। पञ्चचत्वारिंशतोर्द्वयस्य मीलने नवतिः ९०। अथ धियां बुधं धर्मे गुरुं प्रथमे शुक्रं च न्यस्य, शुक्रः पुनः पुनरुत्थाप्यते तदा चत्वारो लभ्यन्ते, यदा च गुरुरुत्थाप्य प्रथमे मण्ड्यते शुक्रश्च चतुर्थे तदापि शुक्रस्य पुनः पुनरुत्थापने त्रयो लभ्यन्ते। एवं गुरोः पुरः पुरश्चारणेन शुक्रस्य पुनः पुनरुत्थापनया च पुनर्द्वौ २ । पुनस्तथैवैकः १ । सर्वेऽप्येते दश १० । एते बुधे धुरि स्थिते लब्धाः । यदा च बुधोऽप्युत्थाप्य धर्मे मण्ड्यते, शेषौ चाग्रेतनस्थानयोस्तदाप्यक्षचारणिकया लभ्यन्ते षट् ६ । यदा बुधः पुनः पुनरुत्थाप्य प्रथमे मण्ड्यते शेषौ चाग्रतनस्थानयोस्तदाऽप्यक्ष-चारणया त्रयो लभ्यन्ते । पुनर्बुधस्योत्थाप्य पुरश्चालने एकः। एतेऽपि सर्वे दश १०। दशकद्वययोगे विंशतिः २० । एते बुधगुरुशुक्र इति स्थापना-क्रमे सति लब्धाः । इह च स्थापनाक्रमाः षट् स्युः । कथं ? यथा—' 'पुव्वाणुपुव्विहिट्ठा समयाभेएण कुरु जहाजिट्ठं । उवरिमतुल्लं पुरओ निसिज्ज पुव्वक्कमो सेसो ॥ १ ॥ जम्मि उ निक्खित्ते खलु सो चेव हविज्ज अंकविन्नासो । सो होइ समयभेओ वज्जेअव्वो पयत्तेण ॥ २ ॥ ”

इति गाथोक्तकरणेनैककद्विकत्रिकाणां षोढा स्थापनाक्रमः स्यात्, तथाहि— | १२३-२१३-१३२-३१२-२३१-३२१ |

तथाऽत्र ज्ञगुरुशुक्राणामेककद्विकत्रिकरूपत्वकल्पनया षोढा स्थापनाक्रमः स्थाप्यते, तथाहि—

बु गु शु	गु बु शु	बु शु गु	शु बु गु	गु शु बु	शु गु बु

ततः प्रथमे स्थापनाक्रमे यथा विंशतिर्भङ्गा जातास्तथा द्वितीये स्थापनाक्रमेऽपि विंशतिः, एवं तृतीयेऽपि यावत् षष्ठेऽपि स्थापनाक्रमेऽपि विंशति-विंशतिर्भङ्गाः स्युः । ततो विंशतेः षड्भिर्गुणने जातं विंशं शतं १२० । तस्य पाश्चात्यानां नवतेः षण्णां च मीलने जाते द्वे शते षोडशाधिके २१६ । एते त्रिकयोगभङ्गाः । एतैः सह एककद्विकयोगानामष्टादशकाष्टोत्तरशतयोर्मीलने त्रिशती द्विचत्वारिंशदधिका ३४२ योगानामुत्पद्यते इति सिद्धम्--

ग्रहदृष्टिनिरपेक्षान् योगानुक्त्वाऽथ दृष्टिसापेक्षं योगद्वयमाह--

शुक्रं त्र्या ३ या ११ म्बु ४ गं पश्यन् जीवो यात्रासु केन्द्रगः । राज्ञां दत्ते जयं क्रूरैः कलत्रादित्रयान्यगैः ॥ ६० ॥

व्याख्या--अयं सप्तमाष्टमनवमभावरूपम् ॥

बुधो वपुः १सुख ४द्वेषि ६ व्योम १० स्थो वीक्षितः शुभैः । जयाय राज्ञां पापेषु लग्ना १ स्त७ व्यय १२वर्जिषु ॥६१॥

व्याख्या--एवं सर्वेऽप्येते यात्रायोगास्त्रीणि शतान्येकषष्ट्यधिकानि ३६१ ॥ अथ समर्थयति--

इति सप्तरूपकार्धैः सकलश्लोकत्रयेण चोक्तेषु । योगेषु राजयोगेष्वपि शुभदा भूभुजां यात्रा ॥ ६२ ॥

व्याख्या--रूपकशब्दोऽत्र वृत्तवाची, सप्तानां रूपकाणामर्धैरर्धेऽर्धे वाक्यसमाप्तेरवश्यंकृतत्वादेवमूचे । राजयोगेष्वपीति, बृहज्जातकोक्ता राजयोगा अपि यात्रायामुपयुज्यन्त इत्यर्थः, ते चामी सर्वकार्येषूपयोगित्वात्सव्याख्या उपदर्श्यन्ते, यथा--

" वक्रार्कजार्कगुरुभिः सकलैस्त्रिभिश्च, स्वोच्चेषु षोडश नृपाः कथितैकलग्ने ।
द्व्येकाश्रितेषु च तथैकतमे विलग्ने, स्वक्षेत्रगे शशिनि षोडश भूमिपाः स्युः ॥ १ ॥ "

सकलैरिति एषु चतुर्ष्वपि स्वोच्चस्थेषु । कथितैकलग्ने, इत्येषां चतुर्णां ग्रहाणां मध्यादेकैकस्मिन् लग्नगे चत्वारो राजयोगाः । त्रिभिश्चेति तेषां मध्यात्त्रिषूच्चस्थेषु तेषामेव च त्रयाणां मध्यादेकैकस्मिन् लग्नगे द्वादश, एवं षोडश । तथा द्व्येकाश्रितेष्विति, एतेषां चतुर्णां वक्रादिग्रहाणां

मध्याद्द्वाभ्यामुक्तस्थाभ्यां तयोरेव चैकैकस्मिन् लग्ने चन्द्रे कर्कस्थे द्वादश। एषां मध्यादेकस्मिन्नुक्तस्थे तस्मिन्नेव च लग्ने कर्कस्थे चन्द्रे चत्वारः, एवमपि षोडश । सर्व्वे द्वात्रिंशत् । तथाहि-मेषेऽर्कः कर्के जीवस्तुले शनिर्मकरे भौमः शेषा यथेच्छं, ईदृश्यां गृहस्थितौ मेषे लग्ने एको योगः १, कर्के द्वितीयः २, तुले तृतीयः ३, मकरे चतुर्थः ४, एवं चत्वारः । अथ त्रिभिः मेषेऽर्कः कर्के जीवस्तुले शनिः शेषा यथेच्छं, एवं मेषे लग्ने एकः १, कर्के द्वितीयः २, तुले तु तृतीयः ३ । सर्वे सप्त ७। अथ मेषेऽर्कः कर्के जीवः मकरे भौमः शेषा यथेच्छं, एवं मेषे लग्ने एकः १, कर्के द्वितीयः २, मकरे तृतीयः ३ । सर्वे दश १०। अथ मेषेऽर्कस्तुले शनिर्मकरे भौमः शेषा यथेच्छं, एवं मेषे लग्ने एकः १, तुले द्वितीयः २, मकरे तृतीयः ३, एवं त्रयोदश १३ । अथ कर्के जीवस्तुले शनिर्मकरे भौमः शेषा यथेच्छं, एवं कर्के लग्ने एकः १, तुले द्वितीयः २, मकरे तृतीयः ३, एवं सर्वे षोडश १६ । एते पूर्वार्धोक्ताः । अथ द्व्याश्रितेषूच्यन्ते-कर्के चन्द्रः मेषेऽर्कः कर्के जीवः शेषा यथेच्छं । एवं मेषे लग्ने एकः १, कर्के द्वितीयः २ । अथ मेषेऽर्कः कर्के चन्द्रस्तुले शनिः एवं मेषलग्ने तृतीयः ३, तुले चतुर्थः ४। अथ मेषेऽर्कः कर्के चन्द्रो मकरे भौमः एवं मेषे लग्ने पञ्चमः ५, मकरे षष्ठः ६ । अथ कर्के चन्द्रजीवौ तुले शनिः एवं कर्के लग्ने सप्तमः ७, तुलेऽष्टमः ८ । अथ कर्कस्थौ जीवेन्दू मकरे भौमः । एवं कर्के लग्ने नवमः ९, मकरे दशमः १० । अथ कर्के चन्द्रस्तुले शनिर्मकरे भौमः एवं तुले लग्ने एकादशः ११, मकरे द्वादशः १२ । अथैकाश्रितेषु कर्के चन्द्रे मेषलग्नस्थेऽर्के एकः १, कर्के लग्ने चन्द्रजीवौ द्वितीयः २, कर्के चन्द्रे तुललग्ने शनौ तृतीयः ३, कर्के चन्द्रे मकरलग्नस्थे भौमे चतुर्थः ४, एते पूर्वैः सह षोडश १६ । सर्वे द्वात्रिंशत् ३२ राजयोगाः । अथ पञ्चशतान्यष्टाविंशत्यधिकानि ५२८ राजयोगानामाह—

" वर्गोत्तमगते लग्ने चन्द्रे वा चन्द्रवर्जितैः । चतुराद्यैर्ग्रहैर्दृष्टे नृपा द्वाविंशतिः स्मृताः ॥ २ ॥ "

लग्ने वर्गोत्तमगते राशिसमाननामकनवांशस्थे इत्यर्थः । अयं भावः—यो राशिर्लग्नेऽस्ति तस्य यो नवांशो राशिसमनामाऽस्ति स वर्गोत्तमाख्यः, स एव च नवांशो लग्नेऽधिकृतोऽस्ति तदा लग्नं वर्गोत्तमगतमुच्यते, एवं चन्द्रेऽपि वाच्यं, तस्मिन् 'चन्द्रवर्जितै'रिति चन्द्रस्य नापेक्षा, तदन्यैर्ग्रहैश्चतुर्भिः पञ्चभिः षड्भिर्वा दृष्टे प्रतिलग्नं द्वाविंशतिराजयोगाः, एवं चन्द्रेऽपि वर्गोत्तमगते राशिं राशिं प्रति द्वाविंशतिः । कथं? लग्ने चतुर्भिर्दृष्टे पञ्चदश १५ भेदाः, पञ्चभिर्दृष्टे षट् ६, षड्भिरेकः १ । तथाहि-लग्ने रविभौमबुधगुरुभिर्दृष्टे एको योगः १, रविभौमबुधशुक्रैर्द्वितीयः २, रविभौम-

बुधशनिभिस्तृतीयः ३, रविभौमजीवशुक्रैश्चतुर्थः ४, रविभौमजीवशनिभिः पञ्चमः ५, रविभौमशुक्रशनिभिः षष्ठः ६, रविबुधजीवशुक्रैः सप्तमः ७, रविबुधजीवशनिभिरष्टमः ८, रविबुधशुक्रशनिभिर्नवमः ९, रविजीवशुक्रशनिभिर्दशमः १०, भौमबुधजीवशुक्रैरेकादश: ११, भौमबुधजीवशनिभिर्द्वादशः १२, भौमबुधशुक्रशनिभिस्त्रयोदशः १३, भौमजीवशुक्रशनिभिश्चतुर्दशः १४, बुधजीवशुक्रशनिभिः पञ्चदशः १५। अथ पञ्चानां दृष्टिः—रविभौमबुधजीवशुक्रैरेकः १, रविभौमबुधजीवशनिभिर्द्वितीयः २, रविभौमबुधशुक्रशनिभिस्तृतीयः ३, रविभौमजीवशुक्रशनिभिश्चतुर्थः ४, रविबुधजीवशुक्रशनिभिः पञ्चमः ५, भौमबुधजीवशुक्रशनिभिः षष्ठः ६। अथ षण्णां दृष्टिः—रविभौमबुधगुरुशुक्रशनिभिरित्येकः १। सर्वेऽप्येते द्वाविंशतिः २२। एते मेषलग्ने वर्गोत्तमगते सति स्युः, एवं द्वादशलग्नेष्वपि वर्गोत्तमगतेषु भावाद्द्वाविंशतेर्द्वादशभिर्गुणने जाते द्वे शते चतुःषष्ठ्यधिके २६४। एवं चन्द्रस्याप्येकैकराशौ वर्गोत्तमनवांशस्थस्य द्वाविंशतेर्द्वाविंशतेर्भावाद्द्वे शते चतुःषष्ठ्यधिके २६४। मीलने पञ्च शतान्यष्टाविंशानि ५२८। अथ पञ्च योगानाह—

" यमे कुम्भेऽर्केऽजे गवि शशिनि तैरेव तनुगै र्नृयुक्सिंहालिस्थैः शशिजगुरुवक्रैर्नृपतयः।
यमेन्दू तुङ्गेऽङ्के सवितृशशिजौ षष्ठभवने, तुलाजेन्दुक्षेत्रैः ससितकुजजीवैश्च नरपौ ॥ ३ ॥ "

कुम्भे शनिर्मेषेऽर्कः वृषे चन्द्रः, नृयुगिति मिथुनं, तत्र बुधः सिंहे जीवः वृश्चिके भौमः ईदृश्यां ग्रहस्थितौ तैरेव तनुगैरित्युक्तेः कुम्भे लग्ने एको योगः १, मेषे द्वितीयः २, वृषे तृतीयः ३। तथा यमेन्दू इति शनीन्दू स्वोच्चे कमस्थौ, ततश्च तुले शनिः, वृषे चन्द्रः षष्ठभवनं षष्ठराशिः कन्यार्थः, तत्रार्कबुधौ, तुले शुक्रः, मेषे भौमः, कर्के जीवः, एवं तुले लग्ने एको योगः १, वृषे द्वितीयः। सर्वेऽप्येते पञ्च। अथ त्रीनाह—

" कुजे तुङ्गेऽर्केन्द्वोर्धनुषि यमलग्ने च नृपतिः, पतिर्भूमेश्चान्यः क्षितिसुतविलग्ने सशशिनि।
सचन्द्रे सौरेऽस्ते सुरपतिगुरौ चापधरगे, स्वतुङ्गस्थे भानावुदयमुपयाते क्षितिपतिः ॥ ४ ॥ "

मकरे भौमः धनुषि सूर्येन्दू यमलग्न इति यत्र तत्र राशौ शनिर्लग्नगः इत्येको योगः १। पतिर्भूमेश्चान्य इत्यस्मिन्नेव योगे भौमे सेन्दौ लग्नगेऽर्थादेवार्के धनुःस्थे द्वितीयो योगः २। सचन्द्रे सौरेऽस्त इति मेषलग्नेऽर्कः धनुषि गुरुः तुले शनीन्दू एवं तृतीयः ३। पुनर्द्वावाह—

" वृषे सेन्दौ लग्ने सवितृगुरुतीक्ष्णांशुतनयैः, सुहृ ४ ज्जाया ४ ख १० स्थैर्भवति नियमान्मानवपतिः।

मृगे मन्दे लग्ने सहजरिपुधर्म्मव्ययगतैः, शशाङ्काद्यैः ख्यातः पृथुगुणयशाः पुंगणपतिः ॥ ५ ॥ ”

वृषे लग्ने चन्द्रः सिंहेऽर्कः वृश्चिके जीवः कुम्भे शनिः इत्येको योगः १ । ‘मृगे मन्दे’ इति मकरे लग्ने शनिः मीने चन्द्रः मिथुने भौमः कन्यायां बुधः धनुषि जीवः शुक्रार्कौ यथेच्छं इति द्वितीयः २ । पुनस्त्रीनाह—

“ हये सेन्दौ जीवे मृगमुखगते भूमितनये, स्वतुङ्गस्थौ लग्ने भृगुजशशिजावत्र नृपती ।
सुतस्थौ वक्रार्कौ गुरुशशिसिताश्चापि हिबुके, बुधे कन्या लग्ने भवति हि नृपोऽन्योऽपि गुणवान् ॥ ६ ॥ ”

हये इति धन्व्यश्वपश्चार्धके इत्युक्तेर्धनुषि जीवेन्दू मकरे भौम एवं सति मीनलग्ने सशुक्रे एको योगः १, कन्यालग्ने सबुधे द्वितीयः २, सुतस्थाविति कन्यालग्ने बुधः मकरे भौमशनी धनुषि चन्द्रजीवशुक्रा इति तृतीयः ३ । पुनस्त्रीनाह—

“ झषे सेन्दौ लग्ने घटमृगमृगेन्द्रेषु सहितै-र्यमारार्कैर्योऽभूत्स खलु मनुजः शास्ति वसुधाम्
अजे सारे मूर्त्तौ शशिगृहगते चामरगुरौ, सुरेज्ये वा लग्ने धरणिपतिरन्योऽपि गुणवान् ॥ ७ ॥ ”

मीने लग्ने चन्द्रः कुम्भे शनिः मकरे भौमः सिंहेऽर्कः इत्येको योगः १ । अजे सारे इति मेषे लग्ने आरो भौमः कर्के जीव इति द्वितीयः २ । यद्वा कर्के लग्ने जीवः मेषे भौमः इति तृतीयः ३ ।

“ कार्किणि लग्ने तत्स्थे जीवे चन्द्रसितज्ञैरायप्राप्तैः । मेषगतेऽर्के जातं विद्याद्विक्रमयुक्तं पृथिवीनाथम् ॥ ८ ॥ ”

कर्के लग्ने जीवः वृषे चन्द्रशुक्रबुधाः मेषेऽर्कः एवं योगः १ ।

“ मृगमुखेऽर्कतनये तनुसंस्थे, छगकुलीरहरयोऽधिपयुक्ताः । मिथुनतौलिसहितौ बुधशुक्रौ, यदि ततः पृथुयशाः पृथिवीशः ॥ ९ ॥ ”

मकरे लग्ने शनिः मेषे भौमः कर्के चन्द्रः सिंहेऽर्कः मिथुने बुधः तुले शुक्रः एवं योगः १ ।

“ स्वोच्चसंस्थे बुधे लग्ने भृगौ मेषूरणाश्रिते । सजीवेऽस्ते निशानाथे राजा मन्दारयोर्मृगे ॥ १० ॥ ”

कन्यालग्ने बुधः, मिथुने शुक्रः, मीने जीवेन्दू, मकरे शनिभौमौ, एवं योगः १ । सर्व्वेऽप्येते राजयोगाः पञ्च शतान्येकोनाशीत्यधिकानि ५७९ ।

प्रथमभङ्गे एषां फलमाह—

“ अपि खलकुलजाता मानवा राज्यभाजः, किमुत नृपकुलोत्थाः प्रोक्तभूपालयोगैः ।
नृपतिकुलसमुत्थाः पार्थिवा वक्ष्यमाणैर्भवति नृपतितुल्यस्तेष्वभूपालपुत्रः ॥ ११ ॥ ”

पूर्वोक्तराजयोगैः सामान्यकुलजा अपि नृपाः स्युः, नृपकुलजानां तु किं वाच्यं? वक्ष्यमाणैस्तु नृपकुलजा नृपाः स्युः, अन्यकुलजास्तु नृपतुल्याः । ते चामी—

“ स्वोच्चर्क्षत्रिकोणगैर्बलिष्ठैस्त्र्याद्यैर्भूपतिवंशजा नरेन्द्राः । पञ्चादिभिरन्यवंशजा, हीनैर्वित्तयुता न भूमिपालाः ॥ १२ ॥ ”

स्वोच्चस्वगृहस्वत्रिकोणगैस्त्रिभिश्चतुर्भिर्वा ग्रहैर्बलवत्तरैर्नृपवंशजा नृपाः पञ्चभिः षड्भिः सप्तभिर्वाऽन्यवंशजा अपि । हीनैरिति स्यादयमेत् स्वोच्चा-दिस्थिता अपि बलहीनास्तदा प्रस्तुता धनिनः स्युर्न तु नृपाः । अत्र त्रिचतुरादिभिः सप्तान्तैः पञ्च योगाः । तथा—

“ सिंहस्थेऽर्केऽजेन्दौ लग्ने, भौमे स्वोच्चे कुम्भे मन्दे । चापं प्राप्ते जीवे राज्ञः, पुत्रं विद्याद्भूमेर्नाथम् ॥ १३ ॥ ”

अजेन्दाविति मेषे लग्ने चन्द्रे इत्यर्थः । इति योगः १ । पुनर्द्वावाह—

“ स्वर्क्षे शुक्रे पातालस्थे, धर्म्मस्थानं प्राप्ते चन्द्रे । दुस्त्रिक्याङ्गप्राप्तिप्राप्तैः शेषैर्जातः स्वामी भूमेः ॥ १४ ॥ ”

स्वर्क्षे शुक्रे इति यदा कुम्भो लग्नं तदा पातालस्थे स्वर्क्षे वृषे शुक्रः तुले चन्द्रः शेषा रविकुजबुधगुरुशनयस्तृतीयकर्मैकादशस्था मेषकुम्भ-धनुःस्था इत्यर्थः, इत्येको योगः १ । यदा तु कर्को लग्नं तदा पातालस्थे स्वर्क्षे तुले शुक्रः मीने चन्द्रः शेषाः कन्याकर्कवृषस्था इति द्वितीयः २ । सर्वे योगा अष्टौ ८ । तथा—

“ सौम्ये वीर्ययुते तनुसंस्थे, वीर्याढ्ये च शुभे सुकृतस्थे । धर्म्मार्थोपचयेष्वथ शेषैर्धर्मात्मा नृपजः पृथिवीशः ॥ १५ ॥ ”

लग्ने बली बुधः, नवमे बली शुभग्रहः शुक्रो गुरुर्वा, शेषा नवमद्वितीयत्रिषड्दशैकादशस्थाः, एवं योगा नव । अथ द्वावाह—

"वृषोदये मूर्त्तिधनारिलाभगैः, शशाङ्कजीवार्कसुतापरैर्नृपः । सुखे गुरौ खे शशितीक्ष्णदीधिती, यमोदये लाभगतैर्नृपोऽपरैः ॥ १६ ॥"

वृषे लग्ने चन्द्रः मिथुने जीवः तुले शनिः मीनेऽर्ककुजबुधशुक्राः इत्येको योगः १ । सुखे गुराविति शनिर्लग्ने तुर्ये जीवः दशमेऽर्केन्दू एकादशे भौमबुधशुक्राः, इति द्वितीयः २ । सर्वे योगा एकादश ११ । पुनर्द्वावाह—

" मेषूरणा १० य ११ तनु १ गाः शशिमन्दजीवा, ज्ञारौ धने सितरवी हिबुके नरेन्द्रम् ।
वक्रासितौ शशिसुरेज्यसितार्कसौम्या, होरा १ सुखा ४ स्त ७ शुभ ९ खा १० प्ति ११ गताः प्रजेशम् ॥ १७ ॥ "

दशमे चन्द्र एकादशे शनिः लग्ने जीवः द्वितीये बुधभौमौ तुर्ये शुक्रार्कौ इत्येको योगः १ । वक्रासिताविति होरेति लग्नं शुभं धर्मभवनं आप्तिर्लाभः, ततोऽयमर्थः–भौमशनी लग्ने तुर्ये चन्द्रः सप्तमे जीवः नवमे शुक्रः दशमेऽर्कः एकादशे बुधः इति द्वितीयः २ । सर्वेऽप्येते द्वितीये भङ्गे राजयोगास्त्रयोदश १३ । अथ प्रासङ्गिकमाह—

" गुरुसितबुधलग्ने सप्तमस्थेऽर्कपुत्रे, वियति दिवसनाथे भोगिनां जन्म विद्यात् ।
शुभबलयुतकेन्द्रैः क्रूरभस्थैश्च पापैर्व्रजति शबरदस्युस्वामितामर्थभाक् च ॥ १८ ॥ "

गुरुशुक्रबुधानामन्यतमो लग्ने, यद्वा गुर्वादीनां लग्नेषु सत्सु धन्विमीनवृषतुलामिथुनकन्यालग्नेष्वित्यर्थः । सप्तमे शनिः दशमेऽर्कः एवं योगे जाता भोगिनः स्युः । शुभेति शुभग्रहाणां राशयः सबलाः केन्द्रेषु क्रूरग्रहाः क्रूरराशिस्थाः एवं योगे जातः पुलिन्दानां चौराणां च स्वामी स्यात् धनी च ।

॥ इति बृहज्जातके राजयोगाध्यायः ॥

अन्येऽपि राजयोगाः सन्ति, तथाहि—

" लग्ने शौरिस्तथा चन्द्रस्त्रिकोणे जीवभास्करौ । कर्मस्थाने भवेद्भौमो राजयोगस्तदा भवेत् ॥ १ ॥
धने चन्द्रशनी मेषे जीवः खे राहुभार्गवौ २ । अथवा दशमे जीवबुधशुक्रास्तथा शशी ३ ॥ २ ॥
अथवा दशमे ज्ञार्कौ भौमराहू च षष्ठगौ । राजयोगेष्वेषु जाता राजानः स्युर्नरोत्तमाः ४ ॥ ३ ॥

आदौ जीवः सितः प्रान्ते यथा मध्ये निरन्तरम् । राजयोगं विजानीयाः कुटुम्बबलवर्धनम् ॥ ४ ॥ " विशिष्य च—
" सहजस्थो यदा जीवो मृत्युस्थाने यदा सितः! निरन्तरं ग्रहा मध्ये राजा भवति निश्चितम् ॥ ५ ॥
आदौ जीवः पञ्चमे वा दशमे चन्द्रमा भवेत् । राज्यवान् स्यान्महाबुद्धिस्तपस्वी वा जितेन्द्रियः ॥ ६ ॥
स्वक्षेत्रस्था यदा जीवबुधसूर्यसुतास्तदा । जातकस्य सुदीर्घायुः सम्पदश्च पदे पदे ॥ ७ ॥
द्वितृतीये सुते धर्मे कर्मण्यपि यदा ग्रहाः । राजयोगं विजानीयात् जातस्तत्रोत्कटो भवेत् ॥ ८ ॥
धने व्यये यदा लग्ने सप्तमे भवने ग्रहाः । छत्रयोगस्तदा नीचकुलोऽपि नृपतिर्भवेत् ॥ ९ ॥
सिंहे जीवस्तथा शुक्रः कन्यायां मिथुने शनिः । स्वक्षेत्रे हिबुके भौमः स पुमान्नायको भवेत् ॥ १० ॥
कन्यायां शौरिचन्द्रौ च मृगे भौमो घटे तमः । सिंहे जीवो भवेज्जातो राजा शत्रुक्षयङ्करः ॥ ११ ॥
शुक्रो जीवो रविर्भौमो धने मकरकुम्भयोः । मीने च वत्सरे त्रिंशे जातः स्यात्सर्वकर्मकृत् ॥ १२ ॥
लग्ने सौरिस्तथा चन्द्रश्चाष्टमे भवने सितः । राजमान्यो महाकामी भोगपत्नीरतस्तथा ॥ १३ ॥
मिथुने च यदा राहुः सिंहस्थो भूमिनन्दनः । वृश्चिके च यदा जीवः स पुमान्नृपतिर्भवेत् ॥ १४ ॥
स्वगृहे च धने जीवः तुलायां च भवेत् सितः । शौरिर्मकरे मिथुने चन्द्रः स्याद्राजयोगकृत् ॥ १५ ॥
युग्मे शशी वृषे जीवः सिंहे शौरिर्मृगे कुजः । शुक्रस्तुलायां कन्यायां बुधार्कौ राज्ययोगदाः ॥ १६ ॥
धनेशुक्रश्च भौमश्च मीने जीवस्तुले बुधः । नीचश्चन्द्रो रवेर्युक्तो राजयोगोऽभिधीयते ॥ १७ ॥
मीने शुक्रो बुधश्चान्ते लग्ने सूर्यो धने शशी । सहजे च भवेद्भौमो राजयोगं प्रचक्षते ॥ १८ ॥
भ्रातृस्थाने यदा जीवो लाभस्थाने शशी भवेत् । उच्चेषु वा शुभः केन्द्रे लग्ने वा जीव एककः ॥ १९ ॥
यद्वा—सिंहे जीवस्तुलाकीटधनुर्मकरकेषु च । ग्रहाः स्थाने तदा जातो देशभोगी भवेन्नरः ॥ २० ॥

विद्यास्थाने यदा सौम्याः कर्मस्थाने च चन्द्रमाः । धर्मस्थाने पुनः सौम्यास्तदा राज्यं विधीयते ॥ २१ ॥
युग्मे वृषे मेषमीने कुम्मे च मकरे ग्रहाः । यद्वा ज्ञगुरुशुक्रेन्दुराहवः स्युश्चतुष्टये ॥ २२ ॥
यद्वा तुर्ये सितारेन्दुगुर्वर्कशनयः स्थिताः । योगेष्वेतेषु ये जातास्तेषां स्याद्राजयोगिता ॥ २३ ॥
जन्मचतुर्थे भवने भार्गवरविराहुचन्द्रभौमेषु । जातो बुधयुक्तेषु च पृथिवीपालो भवेत् पुरुषः ॥ २४ ॥
जन्मचतुर्थे भवने भार्गवगुरुचन्द्रभौमशनियुक्तः । जातं विदधाति रविः पृथवीपालं न संदेहः ॥ २५ ॥
धने व्ययेऽष्टमे षष्ठे सौम्यक्रूरा युता यदि । यत्नात्स पुरुषो रक्षईश्वरः कुलवर्धनः ॥ २६ ॥
तृतीये वैकादशे वा त्रिकोणे वा भवेद्यदि । सप्तमें वा भवेज्जीवः सुरूपो राजमानिनः ॥ २७ ॥
गुरुर्लग्ने धने क्रूरो व्यये क्रूरो भवेत् पुनः । सप्तमे भवने क्रूरो धनसौभाग्यजातकम् ॥ २८ ॥ "

एते ग्रन्थान्तरोक्ता एकत्रिंशद्राजयोगाः । तथा—

" यदि सर्वग्रहदृष्टिर्लग्ने परिपतति दैवतवशेन । तद्भवति नृपतियोगः कल्याणपरम्पराहेतुः ॥ २९ ॥
अन्योऽन्यस्योच्चराशिस्थौ यदि स्यातां ग्रहौ तदा । राजयोगं जिनाः प्राहुर्दर्शने तु महाफलम् ॥ ३० ॥ "

एतौ पूर्णभद्रज्योतिषे । तथा—

" रविवर्जं द्वादशगैरनुफाश्चन्द्राद्द्वितीयगैः सुतुफाः । उभयस्थितैर्दुरधरा केमद्रुममन्यथैतेभ्यः ॥ ३१ ॥"

अत्र रविवर्जमिति रविवर्जा भौमादिग्रहा इत्यर्थः । ततोऽयं भावः—जन्मपत्रिकायां चन्द्राद्द्वादशे स्थाने भौमादिश्चेत्कश्चिद्ग्रहः स्यात्तदाऽनुफायोगः । चन्द्राद्द्वितीये स्थाने चेद्भौमादिः कश्चिद्ग्रहस्तदा सुतुफायोगः । उभयं चन्द्राद्द्वितीयद्वादशरूपं तयोर्द्वयोरपि चेद्भौमादिः कश्चिद्ग्रहस्तदा दुरधरायोगः । अन्यथेति यदि चन्द्राद्द्वादशद्वितीयस्थानयोर्भौमादीनां मध्ये कश्चिद्ग्रहो नास्ति तदा केमद्रुमयोगः ।

" सूर्याद्व्ययगैर्वोशि द्वितीयगैश्चन्द्रवर्जितैर्वेशि । उभयस्थैरुभयचरी राजयोगाः षडप्यमी ॥ ३२ ॥ "

वोशियोगोऽपि चन्द्रवर्जितैरिति योज्यं, चन्द्रवर्जितैर्भौमादिग्रहैरिति चार्थः षडपीति पूर्वश्लोकस्थैस्त्रिभिः सहैते त्रय इति षट् । यद्यपि च सूक्ष्मेक्षिकयाऽत्रापि योगभङ्गा बहवोऽप्युत्पद्यन्ते तथापि स्थूरवृत्तिरेवात्र विवक्षिता, वैचित्र्यार्थं ग्रन्थकृताऽपि षडप्यमी इत्येव सङ्ख्योक्तेश्च, सप्तमः केमद्रुमस्त्वधमः, चन्द्रे सर्वग्रहदृष्टे तु स एव भग्नकेमद्रुमाख्यो राजयोगः स्यात् । एते सप्तापि राजयोगा जातकोक्ताः । लल्लस्त्वाह-" केन्द्रे शीतकरेऽपि वा ग्रहयुते केमद्रुमो नेष्यते " । एवमेते विकीर्णराजयोगाश्चत्वारिंशत् ४० । सर्वमीलने यात्रायोगा नव शतानि षडशीत्यधिकानि ९८६ ॥

अथ चित्तशुद्धिः सर्वनिमित्तेभ्यो बलिनीत्याह—

सकलेष्वपि कार्येषु यात्रायां च विशेषतः । निमित्तान्यप्यतिक्रम्य चित्तोत्साहः प्रगल्भते ॥ ६३ ॥

व्याख्या—निमित्तानीति, यद्यपि निमित्तं किल दैहिकं वामदक्षिणाङ्गस्फुरणादि । उक्तं हि दैवज्ञवल्लभे—

" स्पन्दनं दक्षिणे पार्श्वे विपृष्ठहृदये हितम् । वामपार्श्वे तु नारीणां मनसश्चानुकूलता ॥ १ ॥ "

अङ्गस्पर्शादि त्विङ्गितं, दुर्गादिश्च शकुनः, लग्नादि तु ज्योतिषं, तथाप्यत्राभेदकल्पनया सर्वेषां निमित्तत्वमेवोचे । चित्तोत्साह इति " अङ्गिरा मनोत्साहं " इत्युक्तेः प्रागविसंवादितयाऽनुभूतं प्रातिभज्ञानं लग्नादिभ्योऽपि बलवदित्यर्थः ॥ यात्रायां दिग्विभागविधिमाह—

ऐन्द्यादि ४ दिक्षु मातङ्ग १ रथा २ श्व ३ नरवाहनैः ४ । व्रजेत्क्रमेण भूपालो दिक्पालोल्लासिमानसः ॥ ६४ ॥

व्याख्या—नरवाहनं शिबिकादि । दिक्पालेति यातव्यदिशः पतिमिन्द्रा १ ग्नि २ यम ३ नैर्ऋत ४ वरुण ५ वायु ६ कुबेरे ७ शान ८ रूपं । तथा "ग्रहाः स्युरैन्द्रे" त्यादिकाव्योक्तं सूर्यादिग्रहं च सहर्षं ध्यायन् सन्नित्यर्थः । उक्तञ्च रत्नमालायाम्—

" ध्यायन्नाशाधीश्वरं हृष्टचेताः, क्षोणीपालो निर्विलम्बं प्रयायात् " ।

॥ इति गमद्वारम् ॥ ८



॥ अथ वास्तुद्वारम् ॥

अथ वास्तुद्वारमाह—

वास्तु नव्यं विभूत्यायुः कीर्तिकामो निवेशयेत्, ज्ञात्वाऽऽय १र्क्ष २व्ययां ३ शाँस्तु ४चन्द्र ५ ताराबले ६अपि ॥६५॥

व्याख्या—वास्तु गृहहट्टप्रासादादि । विभूतीत्यादि, अनेनेदमसूचि—

"कार्यसिद्धिसुखायूंषि निमित्तशकुनादिभिः । ज्ञात्वा प्रष्टुर्गृहारम्भे कीर्तयेत् समयं सुधीः ॥ १ ॥"

अत्रादिशब्दादङ्गस्पर्शादि गृह्यते । ननु कथमङ्गस्पर्शनेन निर्णयः? उच्यते—

"शीर्ष१मुख२बाहु३हृदयो४दराणि५कटि६बस्ति७गुह्य८संज्ञानि । ऊरू९जानू १० जङ्घे११चरणा १२ विति राशयोऽजाद्याः ॥ १ ॥"

इति लघुजातके । अत्राजाद्या इत्युक्तं तथापि यत्तात्कालिकं लग्नं तदेव शिरः, ततोऽन्याङ्गानि । ततश्च—

"कालपुंसो यदङ्गं तत्स्प्र(त्प्र)ष्टा स्पृशति चेच्छुभैः । युक्तं विलोकितं वापि सद्मनिर्माणमादिशेत् ॥१॥" इति दैवज्ञवल्लभे ॥ आयादीन्येवाह—

खरः ६ वायव्य	गजः ७ उत्तर	काकः ८ ईशान
वृषः ५ पश्चिम	आयबलं	ध्वजः १ पूर्व
श्वा ४ नैऋत्य	सिंहः ३ दक्षिण	धूमः २ अग्नि

ध्वजो १ धूमो २ हरिः ३ श्वा ४ गौः ५ खरो ६ हस्ती ७ ध्वाङ्क्षः ८ क्रमात् ।
पूर्वादि ८ बलिनोऽष्टाया विषमास्तेषु शोभनाः ॥ ६६ ॥

व्याख्या—ध्वजधूमाद्याह्वा अष्टैते आयाः क्रमात्पूर्वाग्निय्याद्यष्टदिक्षु बलिनः, सर्वदाप्येतद्दिग्निवासित्वात् । उक्तञ्च—

"ईशानान्ते च दिग्भागे पूर्वादिक्रमतः स्थिताः । अन्योऽन्याभिमुखा ह्येते विज्ञेया वास्तुकर्मणि ॥ २ ॥"

विषमा इति सर्वेष्वपि गृहेषु प्रायो विषमा एव श्रेष्ठाः, न तु समाः, विरुद्धसंज्ञाफलत्वात्, सान्वयनामानो ह्येते । एषां स्थापनव्यवस्था चेयम्—

" वृषं सिंहं गजं चैव खेटकर्वटकोट्टयोः । द्विपः पुनः प्रयोक्तव्यो वापीकूपसरस्सु च ॥ १ ॥
मृगेन्द्रमासने दद्याच्छयनेषु गजं पुनः । वृषं भोजनपात्रेषु छत्रादिषु पुनर्ध्वजम् ॥ २ ॥

अग्निवेश्मसु सर्वेषु गृहे वन्ह्युपजीविनाम् । धूमं नियोजयेत् किञ्चिछ्वानं म्लेच्छादिजातिषु ॥३॥
खरो वेश्यागृहे शस्तो ध्वाङ्क्षः शेषकुटीषु च । वृषः सिंहो गजश्चापि प्रासादपुरवेश्मसु ॥४॥"

इत्यादि विवेकविलासे ॥ आयेषु विनिमयं नियमयति—

ध्वजः पदे तु सिंहस्य तौ गजस्य वृषस्य ते । एवं निवेशमर्हन्ति स्वनोन्यत्र वृषस्तु न । ६७ ॥

व्याख्या—यत्र सिंहायः प्राप्तस्तत्र सोऽपि च दीयते, न दोषः, एवमग्रेऽपि । तौ गजस्येति गजाये प्राप्ते सोऽपि ध्वजसिंहावपि च देयौ । वृषस्य ते इति वृषाये प्राप्ते सोऽपि ध्वजगजसिंहाश्चापि देयाः । वृषस्तु नेति वृषाये एव प्राप्ते वृषायो देयोऽन्येष्वायेषु प्राप्तेषु तु वृषायो न देय इत्यर्थः ॥ आयाद्यानयने करणमाह—

आयो दैर्घ्यान्ययोर्घातः फलमष्टहृतेऽधिकः । फलमष्टगुणं भा २७ प्ते भं तत्राष्टहृते व्ययः ॥ ६८ ॥

व्याख्या—दैर्घ्यान्ययोर्घातः फलं स्यात् । स एवाष्टहृताधिक आयः स्यादित्यन्वयः । भावश्चायं-दैर्घ्यादन्यो विस्तारः, घातो मिथस्ताडनं सङ्गुणनमिति यावत् । ततश्चेष्टवास्तुनो दैर्घ्ये विस्तरेण गुणिते योऽङ्कः स्यात् स फलाख्यः, क्षेत्रफलमित्यपि तस्य नाम । अष्टेति स एव फलाङ्कोऽष्टभिर्भज्यते यच्छेषमधिकं तिष्ठति स इष्टवास्तुन आयः, एकशेषे ध्वजः, द्विशेषे धूम इत्यादि, शून्यशेषे तु ध्वाङ्क्षाय इति । अयमत्राम्नायः– षड्भिर्यवैस्त्वावदङ्गुलं, चतुर्विंशत्यङ्गुलैर्हस्तः, चतुर्भिर्हस्तैर्दण्डः इति, ततो यत्र दण्डैर्हस्तैर्वा मितं क्षेत्रं तत्र सर्वत्राङ्गुलानि दत्त्वा हित्वा वाऽभीष्टायः प्रसाध्यः, यदि ह्यङ्गुलानि न दीयन्ते त्यज्यन्ते वा, किं तु निरुद्धा दण्डा हस्ता एव वा स्थाप्यन्ते तदा तेषां दण्डानां हस्तानां वाऽङ्गुलरूपीकरणादन्वष्टभिर्भागे शून्यस्यैव शेषीभवनेन ध्वाङ्क्षाय एव समेति, स चोत्तमानां गृहेष्वयुक्तः । अथ वासना–अङ्गुलरूपयोर्दैर्घ्यविस्तारयोर्घाते क्षेत्रफलं स्यादिति, कोऽर्थः ? तस्मिन् क्षेत्रे सर्वसङ्ख्यया तावन्त्येवाङ्गुलानि स्युः आयाश्चाष्टैव, ततोऽष्टभक्ते क्षेत्रफले शेषाङ्कसमो ध्वजाद्यायः स्यात्, स च विषम एव श्रेष्ठो न तु समः । ततश्च हस्तानामुपर्यङ्गुलानि दत्त्वा हित्वा वा तथा कथञ्चिद्दैर्घ्यपृथुत्वे कल्पयेत् यथाऽष्टभक्ते क्षेत्रफले विषमाङ्क एवावशिष्यते । उक्तञ्च दैवज्ञवल्लभे—

"न हस्तमानेन गुणान्वितं स्याद्यदा तदा तद्गणितोक्तयुक्त्या । प्रदाय हित्वा यदि वाङ्गुलानि, प्रसाधयेत्क्षेत्रफलं शुभायम् ॥ १ ॥"

अत्र शुभायमित्युपलक्षणं, तेन नक्षत्राद्यपि यथा तस्मिन् गृहेऽनुकूलमुत्पद्यते तथा क्षेत्रफलं साध्यं । नक्षत्रानुकूल्यप्रकारश्चाग्रे वक्ष्यते—" प्रारब्धं सम्मुखे चन्द्रे " इत्यादिना । विशेषस्तु—

"गृहेषु कर्मिकहस्तेन मानं स्वामिकरेण वा । देवतानां तु धिष्ण्येषु कर्मिहस्तेन केवलम् ॥ १ ॥ "

अत्र कर्मिहस्तः काम्बिक (कार्मिक) हस्त इत्यर्थः । तथा देवगृहे भित्तिबाहुल्यं क्षेत्रफलमध्ये गण्यते, अन्यत्र तु भित्तयः क्षेत्रफलात् पृथग्गण्याः । उक्तञ्च—

" क्षेत्रफलान्तर्भित्तीर्देवगृहेऽपि प्रकारयेद्विद्वान् । आक्रम्य बाह्यभूमिं क्षेत्राद्भित्तीर्नृणां गेहे ॥ १ ॥ "

इति व्यवहारप्रकाशे । इत्युक्ता आयाः । अथ जन्मभं, तत्र सामान्येन वास्तुनस्तावज्जन्मभं कृत्तिका । यदुक्तं व्यवहारप्रकाशे—

" भाद्रपदतृतीयायां शनिदिवसे कृत्तिकाप्रथमपादे । व्यतिपाते रात्र्यादौ विष्टयां वास्तोः समुत्पत्तिः ॥ १ ॥ "

इष्टवास्तुनस्तु जन्मभानयनमेवं—फलमष्टगुणमिति अधिकशब्दोऽग्रे सर्वत्र सम्बध्यते, फलाङ्कोऽष्टगुणो भाख्ये इति भैः सप्तविंशत्या भागे यदधिकं शेषं तिष्ठेत्तदिष्टवास्तुनो जन्मभं । अस्मादेव भात् गृहाणां स्वामिना सह षडष्टमकादि चिन्त्यते । तत्राष्टेति तस्मिन् भाङ्केऽष्टभिर्भक्ते शेषाङ्केन व्ययः स्यात्, अष्टभिर्भागाप्राप्तौ तु भाङ्क एव व्ययाङ्कः, व्ययश्च त्रेधा पैशाच १ यक्ष २ राक्षस ३ भेदात् । यत्सारंगः—

" पैशाचस्तु समायः स्याद्राक्षसश्चाधिके व्यये । आयान्न्यूनतरो यक्षो व्ययः श्रेष्ठोऽष्टधा त्वयम् ॥ १ ॥
शान्तः १ क्रूरः २ प्रद्योतश्च ३ श्रेयानथ४ मनोरमः ५। श्रीवत्सो ६ विभवश्चैव ७ चिन्तात्मको ८ व्ययोऽष्टमः ॥ २ ॥ "

अत्रैकशेषे शान्तो व्ययः, द्विशेषे क्रूरः यावत् शून्यशेषे चिन्तात्मक इति भावना ॥ अंशानयनमाह—

फले व्ययेन वेश्माख्याक्षरैश्चाढये त्रिभाजिते । अंशाः शक्रा १ न्तक २ क्ष्मापा ३ स्तेषु स्यादधमो यमः ॥ ६९ ॥

व्याख्या—क्षेत्रफलाङ्के व्ययाङ्के तद्गृहनामाक्षरसङ्ख्यां च क्षिप्त्वा त्रिभिभागे यच्छेषं सोऽंशः । तथाहि—एकशेषे इन्द्रांशः द्विशेषे यमांशः शून्यशेषे राजांशः ॥ वेश्माख्येत्युक्तं ततस्ताः प्राह—

ध्रुवं १ धन्यं २ जयं ३ नन्दं ४ खरं ५ कान्तं ६ मनोरमम् ७ ।
सुमुखं ८ दुर्मुखं ९ क्रूरं १० सुपक्षं ११ धनदं १२ क्षयम् १३ ॥ ७० ॥
आक्रन्दं १४ विपुलं १५ चैव विजयं १६चेति षोडश ।
सम्प्रत्यमीषां पस्त्यानां प्रस्तारः प्रतिपाद्यते ॥ ७१ ॥ युग्मम् ॥

व्याख्या—एताः किल ध्रुवादिसंज्ञाः सान्वर्थाः, तेन खर १ दुर्मुख २ क्रूर ३ क्षया ४ क्रन्दा ५ ख्यानि गृहाणि अशुभानि । तदुक्तं वास्तुशास्त्रे—
"स्थैर्यं १ धनं २ जयः ३ पुत्रो ४ दारिद्र्यं ५ सर्वसम्पदः ६ । मनोह्लादः ७ श्रियो ८ युद्धं ९ वैषम्यं १० बान्धवा ११ धनम् १२ ॥१॥
क्षयश्च १३ मृत्यु १४ रारोग्यं १५ सर्वसम्पदि १६ ति क्रमात् । ध्रुवादीनां फलं ज्ञेयं " इति ।

केचित्सुपक्षस्थाने विपक्षनामाहुः । पस्त्यानि गृहाणि ॥ प्रस्तारप्रकारमाह—

गुरोरधो लघुं न्यस्येत् पृष्ठे त्वस्य पुनर्गुरून् । अग्रतस्तूर्ध्ववद्देयाद्यावत्सर्वलघुर्भवेत् ॥ ७२ ॥

व्याख्या—आद्यपंक्तौ चत्वारो गुरवः स्थाप्याः, शेषपङ्क्तिष्वाद्यगुर्वधो लघुः, अग्रे तूर्ध्वसमं । यत्र तु पृष्ठे रिक्तं स्थानं तिष्ठति तेषु स्थानेषु गुरवो देयाः, एवं तावद्यावत्सर्वलघुरन्त्यो भङ्गः स्यात् । चतुरक्षरवृत्तजातावित्यत्र षोडश भङ्गाः । स्थापना यथा—

प्रस्तार स्थापना				
	१ ऽ ऽ ऽ ऽ	५ ऽ ऽ । ऽ	९ ऽ ऽ ऽ ।	१३ ऽ ऽ । ।
	२ । ऽ ऽ ऽ	६ । ऽ । ऽ	१० । ऽ ऽ ।	१४ । ऽ । ।
	३ ऽ । ऽ ऽ	७ ऽ । । ऽ	११ ऽ । ऽ ।	१५ ऽ । । ।
	४ ॥ ऽ ऽ	८ । । । ऽ	१२ । । ऽ ।	१६ । । । ।

अत्र प्रस्तारवन्नष्टोद्दिष्टादिप्रत्ययपञ्चकमपि सुवचमेव, परं ग्रन्थगौरव-भयादनुपयोगित्वाच्च नोच्यते ॥ अथैभिः षोडशभङ्गैर्ध्रुवादिनामोत्पत्तिमाह—

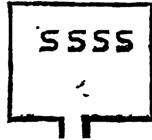
पूर्वादितो गृहद्वारादिक्ष्वलिन्दैर्लघूदितैः ।
प्रदक्षिणस्थैर्वेश्मानि स्युर्ध्रुवादीनि षोडश ॥ ७३ ॥

व्याख्या—गृहद्वारादिति यस्यां दिशि गृहद्वारं सा पूर्वा, ततः प्रदक्षिणं दक्षिणाद्या दिशः । उक्तञ्च विवेकविलासे—

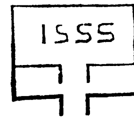
" पूर्वादिदिग्विनिर्देश्या गृहद्वारव्यपेक्षया । भास्करोदयदिक् पूर्वा न विज्ञेया यथा क्षुते ॥ १ ॥ " दैवज्ञवल्लभेऽप्युक्तं—

" गृहस्य मुखतः प्राचीं प्रकल्प्य तत्प्रदक्षिणम् । पर्यटद्भिरलिन्दैः स्युः प्रस्ताराद्वेश्मनां भिदा ॥ १ ॥ "

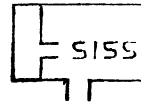
ततोऽत्राद्यभङ्गे चतुर्भिर्गुरुभिर्गृहस्य पूर्वाद्याश्चतस्रोऽपि दिशोऽनावृता ज्ञेयाः । दिक्ष्वलिन्दैर्लघूदितैरिति लघुभिरुदिताः कथिता ज्ञापिता इति यावत् तैः । ततोऽयमर्थः—यत्र लघुस्तस्यामेव दिशि अलिन्दः प्रतिशालागोजार्यादिः, ततश्च यत्रैकोऽपि न लघुस्तदेकापवरकमात्रं गृहं ध्रुवाख्यं । यत्र तु प्राच्यामलिन्दस्तद्धान्यं, यत्र तु दक्षिणस्यां तज्जयमित्यादि । एवं यत्र यत्र लघुस्तस्यां तस्यां दिशि लघुसंख्यानवशादेको द्वौ त्रयो वाऽलिन्दाः । षोडशे तु चत्वारोऽलिन्दाः । आद्यगृहे तु लघ्वभावान्नास्त्यलिन्दः । सर्वेषां गुरुलघ्वाकारस्थापना यथा—



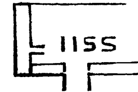
ध्रुव १



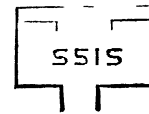
धान्य २



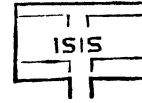
जय ३



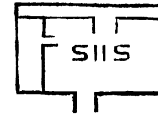
नन्द ४



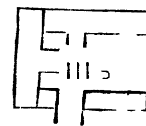
खर ५



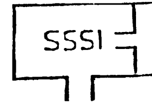
कान्त ६



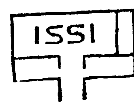
मनोरम ७



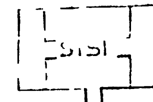
सुमुख ८



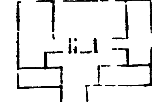
दुर्मुख ९



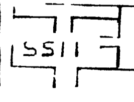
क्रूर १०



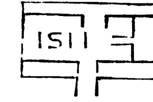
सुपक्ष—विपक्ष ११



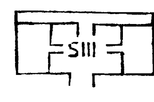
धनद १२



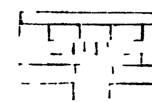
क्षय १३



आक्रन्द १४



विपुल १५


विजय १६

चतुर्थ विमर्शे वास्तुद्वारे तारानामानि ॥

इह किल द्विःयाद्यपवरकाणां गृहाणामनेके प्रकाराः स्युः । एकापवरकाणामपि चतुरुत्तरं शतं प्रकाराः सम्भवेयुः । इह तु दिङ्मात्रार्थं षोडश-भङ्ग्युक्ते । उक्तञ्च रत्नमालाभाष्ये—

" वेश्मनामेकशालानां शतं स्याच्चतुरुत्तरम् । द्विपञ्चाशद्द्विशालानां त्रिशालानां द्विसप्ततिः ॥ १ ॥ " वास्तुनि चन्द्रबलमाह—

प्रारब्धं सम्मुखे चन्द्रे न वस्तुं वास्तु कल्प्यते । पृष्ठस्थे खात (त्र) पाताय द्वयोस्तेन त्यजेद् गृही ॥ ७४ ॥

व्याख्या—परिघचक्रवत् कृत्तिकादीनि सप्त सप्त भानि चतुर्दिक्षु न्यस्य यद्भं गृहस्योत्पद्यमानमस्ति तद्विचार्यते, यदि तद्भं गृहस्य द्वारदिशि समेति तदा तस्य गृहस्य सम्मुखश्चन्द्रः स्यात्, स चाशुभः, यतोऽग्रतःस्थे चन्द्रे कर्तुस्तत्र न निवासः । यदि तु पाश्चात्यभित्तिदिशि समेति तदेन्दुः पृष्ठस्थः स्यात्, सोऽप्यशुभः । यतः पृष्ठस्थेन्दौ चौरकृतानि खात्राणि बहुशः पतन्ति । यदि तूभयपार्श्वभित्तिदिशोः समेति तदा भव्यं । प्रासादेषु तु सम्मुखेन्दुः शुभाय । उक्तञ्च वास्तुशास्त्रे—"प्रासादनृपसौधश्रीगृहेषु पुरतः शशी" । अत एवात्र गृहीत्युक्तं । इति चन्द्रबलं ।

प्रीतिषडष्टमकादिकं राशिबलमपि तत्त्वतश्चन्द्रबलमेव । ताराबलं पृथग् त्विह नोक्तं, परं नक्षत्रकथने तदपि सुज्ञातत्वात्सूचितं ज्ञेयं । तथाहि—गुरुशिष्यादिवदत्रापि त्रिपञ्चसप्तमी तारा त्याज्या, केवलं तत्र मिथो गण्यते, इह तु गृहेशभाद्गृहभ यावद् गण्यं, गृहेशस्यैव प्रीतेरिष्टत्वात् । आह च सारङ्गः—

"गणयेत् स्वामिनक्षत्राद्यावद्धिष्ण्यं गृहस्य च । नवभिस्तु हरेद्भागं शेषं तारा प्रकीर्तिता ॥ १ ॥

शान्ता १ मनोरमा २ क्रूरा ३ विजया ४ कलहोद्भवा ५ । पद्मिनी ६ राक्षसी ७ वीरा ८ ऽऽनन्दा ९ चेति तारकाः ॥ २ ॥"

अथायाद्या उदाह्रियन्ते-यथा कस्यचिद् गृहस्य दैर्घ्यं सप्त हस्ता नवाङ्गुलानि च, हस्त ७ अङ्गुल ९ । विस्तारश्च पञ्च हस्ताः सप्ताङ्गुलानि, हस्त ५ अं ७ । द्वावपि हस्ताङ्कौ चतुर्विंशत्या सङ्गुण्याङ्गुलानि मध्ये योज्यन्ते । जातो दैर्घ्याङ्कः सप्तसप्तत्यधिकं शतमङ्गुलानि १७७ । विस्ताराङ्कस्तु सप्तविंशं शतं १२७ । द्वयोरप्यङ्कयोर्मिथो घाते जातं द्वाविंशतिसहस्राः चतुःशत्येकोनाशीतिश्च २२४७९, इदं क्षेत्रफलं । अस्याष्टभिर्भागे शेषं सप्त ७ । सप्तमो गजायस्तस्य गृहस्येत्यागतं (१) । अथ भं—क्षेत्रफल २२४७९ मष्टभिर्गुणितं जातं लक्षमेकोनाशीतिसहस्रा अष्टशती द्वात्रिंशच्च १७९८३२ । अस्य सप्त-विंशत्या २७ भागे शेषं द्वादश १२ अश्विनीतो द्वादशभमुत्तरफल्गुनी तस्य गृहस्येत्यागतं । तच्च गृहं कल्पनया पूर्वाभिमुखं, तेनोत्तरफल्गुनी भं दक्षिण-

भित्तौ समागतत्वान्मैक्यं (२)। अथ व्ययः—भाङ्को द्वादश, तस्याष्टभिर्भागे शेषा श्चत्वारः ४, चतुर्थः श्रेयान् व्ययः (३)। अथांशः—तस्य गृहस्य कल्पनया ध्रुवसञ्ज्ञा, तद्वर्णाङ्को द्वौ, व्ययाङ्कश्च चत्वारः, आभ्यां योजितं क्षेत्रफलं जातं २२४८५। अस्य त्रिभिर्भागे शून्यशेषत्वाद्राजांशस्तद्गृहस्य (४)। चन्द्रबलं नक्षत्रोक्त्यवसरे उक्तं (५)। राशिबलं त्वग्रे वक्ष्यते। ताराबलं त्वेवम्—गृहेशस्य जन्मभं कल्पनया धनिष्ठा, ततो गणने उत्तरफल्गुन्यष्टमी तारा (६)॥

अथ वास्तुप्रारम्भे मासानाह—

वैशाखे श्रावणे मार्गे पौषे फाल्गुन एव च। कुर्वीत वास्तुप्रारम्भं न तु शेषेषु सप्तसु ॥ ७५ ॥

व्याख्या—वास्तुप्रारम्भमिति सूत्रपातखातादिकमेकरणेनेत्यर्थः। न त्विति, यदुक्तं—

"शोकं १ धान्यं २ मृत्युदं ३ पञ्चतां च ४, स्वाप्तिं ५ नैःस्व्यं ६ सङ्गरं ७ वित्तनाशम् ८।
स्वं ९ श्रीप्राप्तिं १० वह्निभीतिं ११ च लक्ष्मीं १२, कुर्युश्चैत्राद्या गृहारम्भकाले ॥ १ ॥" इति दैवज्ञवल्लभे।

नवरमेते शुक्लप्रतिपदाद्याश्चान्द्रमासा एव ग्राह्याः ॥ अथ सङ्क्रान्तिचिह्नितान् सौरमासानाह—

धामारभेन्नोत्तरदक्षिणास्यं, तुलालिमेषर्षभभाजि भानौ।
प्राक्पश्चिमास्यं मृगकुम्भकर्कसिंहस्थिते द्व्यङ्गगते न किञ्चित् ॥ ७६ ॥

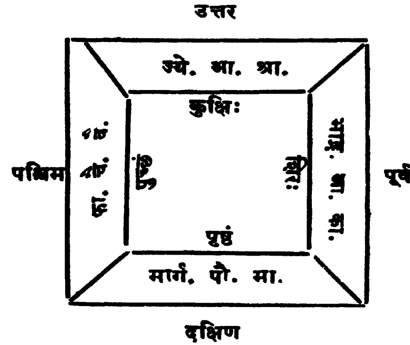
व्याख्या—तुलालीत्याद्युक्तेऽपि पूर्वोक्तचान्द्रमासपञ्चके एव, न शेषमासेष्विति स्वयं ज्ञेयं। द्व्यङ्गा द्विस्वभावा राशयः। न किञ्चिदिति चतुर्दिग्मुखमपि नारभेतेत्यर्थः। "मेषसिंहधनस्थेऽर्के पूर्वामुखे गेहे कृते राजभयं। वृषकन्यामकरस्थेऽर्के दक्षिणामुखे गेहे कृते पुत्रादिमृत्युः। मिथुनतुलाकुम्भस्थेऽर्के पश्चिमामुखे गेहे कृते सन्तापादि। कर्कवृश्चिकमीनस्थेऽर्के उत्तरामुखे गेहे कृते कुलक्षय" इति तु नारचन्द्रटिप्पनके ॥

कस्यां दिशि प्रथमं खननारम्भः कार्य इत्याह—

भाद्रादित्रित्रिमासेषु पूर्वादिषु चतुर्दिशम्। भवेद्वास्तोः शिरः पृष्ठं पुच्छं कुक्षिरिति क्रमात् ॥ ७७ ॥

व्याख्या—अत्र वास्तुनो दक्षिणपार्श्वेनपीठं मुखस्य नागाख्याकारेण स्थापना यथा—

भाद्रादिमासत्रयापेक्षया नागवास्तस्य दिक्षु शिरादयः ।



ततो भाद्रपदादिमासत्रिके प्राच्यां वास्तोः शिरः, दक्षिणस्यां पृष्ठं, पश्चिमायां पुच्छं, उत्तरस्यां कुक्षिः । मार्गादिमासत्रिके दक्षिणादिचतुर्दिक्षु शीर्षादीनि, फाल्गुनात्रिके पश्चिमादिचतुर्दिक्षु, ज्येष्ठादिमासत्रिके तूत्तरादिचतुर्दिक्षु । अयं भावः–कुक्षावेव प्रथमं खननारम्भः कार्यः, नान्यदिक्षु । यदुक्तं—

> " शिरः खनेन्मातृपितॄन्निहन्यात्, खनेच्च पृष्ठे भयरोगपीडाः ।
> पुच्छं खनेत्स्त्रीशुभगोत्रहानिः, स्त्रीपुत्ररत्नान्नवसूनि कुक्षौ ॥ १ ॥ "

इति दैवज्ञवल्लभे । केचिद्वास्तोर्वत्सनामाहुः । अनेन च वास्तोरङ्गदिक्कथनेन खातादौ दिङ्नियम उक्तः । विदिङ्नियमः पुनरेवं—

> "ईशानादिषु कोणेषु वृषादीनां त्रिके त्रिके । शेषाहेराननं त्याज्यं विलोमेन प्रसर्पतः ॥१॥"

अस्यार्थः—संहारेण शेषस्त्रिभिस्त्रिभिर्मासैर्भ्रमति, ततो यदा मासत्रयं तन्मुखमीशाने तदा आग्नेये मासत्रयं नाभिः, नैर्ऋते मासत्रयं पुच्छं, वायव्ये मुत्कलं श्रेयः । यदा वायव्ये मुखं तदैशाने नाभिः, आग्नेये पुच्छं, नैर्ऋते मुत्कलं, एवं संहारेण शेषो भ्रमति । वृषादित्रिके ईशाने मुखं, सिंहादित्रिके वायव्ये, वृश्चिकादित्रिके नैर्ऋते, कुम्भादित्रिके त्वाग्नेये मुखं । स्थापना चेयं–एवं च—

> " विदिक्त्रयं स्पृशँस्तिष्ठेत्स्ववक्त्र १ नाभि २ पुच्छकैः ३ । शेषस्तत्रितयं त्यक्त्वा भूखातकार्यमाचरेत् ॥ १ ॥
> नाभौ च म्रियते भार्या धनं पुच्छे मुखे पतिः । इति मत्वा शिलान्यासे भूखाते तत्रयं त्यजेत् ॥ २ ॥ "

विदिक्षु शेषचारः ।

पूर्व
उत्तर
दक्षिण
पश्चिम

इति वास्तुशास्त्रे ॥ आयाद्युक्तेस्तात्पर्यमाह—

समाधिकव्ययं कर्तुः समनामयमांशकम् ।
विरुद्धराशितारं च विनाऽन्यद्वेश्म शोभनम् ॥ ७८ ॥

व्याख्या—यत्रायेन समोऽधिको वा व्ययस्तद्गृहं त्याज्यमिति सर्वत्र भाव्यं । एतेन व्ययादधिक आयः श्रेष्ठः, सोऽपि विषमोऽतिश्रेष्ठः स्थिरत्वात् । यदुक्तं—,, कुर्यात् स्थिराधिकायं स्वयोनिभं शुद्धतारांशम्" इति ।

यस्य गृहस्य नाम कर्तुर्नाम्ना समं । यत्र यमांशोत्पत्तिः । यस्य राशिना सह स्वामिराशेः शत्रुषडष्टमक द्विद्वादशादिकमुत्पद्यते । यस्य च तारा स्वामितारागतस्त्रिपञ्चसप्तमी स्यात् । चकाराद्यस्य भं रक्षोगणे स्वामिभयोन्या सह विरुद्धबलिष्ठयोनिक वा तद्गृह त्याज्य । यदुक्तः—

"आयविरुद्धे भवने न सुखं षडष्टमके स्थिते मरणम् ।
न धनं द्विद्वादशके नवपञ्चमके त्वपत्यमृतिः ॥ १ ॥
निधनं सप्तमतारे पञ्चमतारे च तेजसो हानिः ।
विपदस्तृतीयतारे यमांशके गृहपतेर्मृत्युः ॥ २ ॥"

नाडीवेधस्तत्र श्रेष्ठ एव, तद्भावे 'योनिविरोधादिदोषाणामप्यदुष्टत्वसम्भवात् । नन्वस्त्वेव, परं यत्र गृहे द्विपादं त्रिपादं वा भं स्यात्तत्र कथ गृहस्य राशिः कल्प्यते, तत्कल्पनां च विना कथं षडष्टमकादिर्विचार्यते ? उच्यते—तदा भपाद आनीयते । तथाहि—

" क्षेत्रफले रद ३२ गुणिते भक्ते वस्वभ्रभूमिभिः १०८ शेषात् । व्येकान्नवभिः शेषं पादो लब्धं वृषाद्भगणः ॥ १ ॥ "

इति व्यवहारप्रकाशे । उदाहृतगृहस्य भमुत्तराफल्गुनीति त्रिपादं, ततस्तत्रैवास्यार्थो भाव्यते–प्रागानीतं क्षेत्रफलं २२४७९, इदं द्वात्रिंशता गुणितं जातं सप्त लक्षा एकोनविंशतिसहस्राणि त्रिशत्यष्टाविंशतिश्च ७१९३२८ । एषामष्टशतेन भागे शेषमष्टचत्वारिंशत् ४८ । व्येकं ४७ । तस्य नवभिर्भागे लब्धं पञ्च । वृषात् पञ्चमो राशिः कन्या । शेषं च द्वौ । उत्तरफल्गुनीभस्य द्वितीयः पादः तस्य गृहस्येत्यागतं । ततश्च धनिकस्य धनिष्ठोत्तरार्धजन्वा जन्म-राशिः कुम्भः, स च विषमः तस्मादष्टमस्य कन्याराशेः प्रीतिषडष्टमकं "ओजात्स्यादष्टमे प्रीतिः" इत्युक्तेः ॥ वर्णानां वशाद् गृहेष्वायमुखयोर्व्यवस्थामाह—

क्रमाद्विप्रादिवर्णानां विषमायैर्ध्वजादिभिः । धीमद्भिर्धाम निर्दिष्टं प्रतीच्यादिमुखं क्रमात् ॥ ७९ ॥

व्याख्या—विप्राणां ध्वजाये पश्चिमामुखं गृहद्वारं कुर्यात्, ध्वजो हि प्राच्यां तिष्ठति, प्रतीचीमुखे च द्वारे स विप्राणां प्रवेशे सम्मुखः स्थितः शुभाय स्यात् । एवं सिंहाये उत्तरामुखं द्वारं राज्ञां गृहेषु दक्षिणदिक्स्थत्वात्सिंहस्य । एवं शेषेष्वपि भाव्यम् ॥ आयापवादमाह—

ये गृहेऽलिन्दनिर्यूहनिर्गमाद्याश्चतुर्दिशम् । न तेष्वायादिकं योज्यं बाह्यभूषासु वास्तुनः ॥ ८० ॥

व्याख्या—अलिन्दः प्रागुक्तार्थः । निर्यूहो भित्त्यादेर्बहिर्निर्गतो दारुविशेषो मर्दलकादिः । आदेः प्रग्रीवादिग्रहः ॥ गृहे सूत्रपाताद्याह—

सूत्रस्य सिद्धिर्वसुनाथहस्तमैत्रस्थिरस्वातिशतर्क्षपुष्यैः। न्यासः शिलायाः करपुष्यमार्गपौष्णध्रुवेषु श्रवणे च शस्तः॥

व्याख्या—वसुनाथं धनिष्ठा । मैत्राणि मृदुभानि । तिथिवारशुद्धिस्तु रिक्तादिवर्जनात् स्फुटैव । उक्तञ्च ब्रह्मशम्भुटीकायाम्—

" एकादशी द्वितीया पञ्चमी सप्तमी तृतीया च । प्रतिपद्दशमी चेष्टा त्रयोदशी पौर्णमासी च ॥ १ ॥

सूर्येन्दुजीवसौम्यानां भार्गवस्य च वासरे । सूत्रपातादिकं कार्यं निष्पत्तिमभिवाञ्छता ॥ २ ॥ " गृहनिवेशे लग्नबलमाह—

चरादन्यत्र लग्नेन्द्वोः शुभैः संयुक्तदृष्टयोः । कर्म १० स्थितेषु सौम्येषु गेहारम्भः शुभावहः ॥ ८२ ॥

व्याख्या—चरादन्यत्रेति स्थिरे द्विस्वभावे वा लग्ने, चन्द्रेऽपि च स्थिरद्विस्वभावराशिस्थे ॥

केन्द्रत्रिकोणगैः सौम्यैः, क्रूरैः शत्रुत्रिलाभगैः। शुभाय भवनारम्भोऽष्टमः क्रूरस्तु मृत्यवे ॥ ८३ ॥

व्याख्या—मृत्यवे इति गृहस्वामिन इति शेषः । विशेषस्तु—

" गुरुर्लग्ने जले शुक्रः स्मरे ज्ञः सहजे कुजः । रिपौ भानुर्यदा वर्षशतायुः स्याद् गृहं तदा ॥ १ ॥
सितो लग्ने गुरुः केन्द्रे खे बुधो रविरायगः । निवेशे यस्य तस्यायुर्वेश्मनः शरदां शतम् ॥ २ ॥
त्रिशत्रुसुतलग्नस्थैः सूर्यारेज्यसितैर्भवेत् । प्रारम्भः सद्मनो यस्य तस्यायुर्द्वे समाशते ॥ ३ ॥
व्योम्नि चन्द्रः सुखे जीवो लाभे भौमशनैश्चरौ । यस्य धाम्नः समाशीति स्थितिस्तस्य श्रिया युता ॥ ४ ॥
स्वोच्चस्थे लग्नगे शुक्रे १ हिबुकस्थेऽथवा गुरौ २ । स्वोच्चे मन्देऽथवा लाभे ३ धाम्नः सश्रीः स्थितिश्चिरम् ॥ ५ ॥ "

चिरमिति अमितायुरित्यर्थः । येऽमी गृहारम्भलग्ने विशेषा उच्यमानाः सन्ति ते जिनालयादिप्रारम्भलग्नेष्वपि योज्याः । तथा—

"स्वर्क्षे चन्द्रे विलग्नस्थे जीवे कण्टकवर्तिनि । भवेल्लक्ष्मीयुते धाम्नि भूरिकालमवस्थितिः ॥ ६ ॥
स्वमित्रोच्चगृहांशस्थैस्तद्वेश्याश्चिरमासते । खगैरन्यगतैरन्ये नीचगैश्चापि निर्धनाः ॥ ७ ॥
अनस्तगैः सितेज्येन्दुजन्मराशिविलग्नपैः । स्वोच्चस्वक्षेत्रभागस्थैर्भवेच्छ्रीसौख्यदं गृहम् ॥ ८ ॥
गर्हिणीन्दौ गृहस्थोऽर्के गुरौ सौख्यं सिते धनम् । विबले नाशमायाति नीचगेऽस्तंगतेऽपि च ॥९॥" इति दैवज्ञवल्लभे । तथा—

"गृहेषु यो विधिः कार्यो निवेशनप्रवेशयोः । स एव विदुषा कार्यो देवताऽऽयतनेष्वपि ॥१॥" इति व्यवहारप्रकाशे। लग्ने दोषमाह—

वर्णेशो दुर्बलः कुर्यादावर्षादन्यहस्तगम् । एकोऽपि द्यून ७ कर्म १० स्थः परांशे स्याद्यदि ग्रहः ॥ ८४ ॥

व्याख्या—कुर्यादिति गृहमिति शेषः । परांशे इति परकीयनवांशे उत्तरार्धोक्तयोगे केवलजात्वनेकान्तः, पूर्वार्धोक्तयोगमिलने त्वेकान्त एव, द्वाभ्यां परनवांशगाभ्यां तु सकालेऽपि गृहनाशः स्यात् ॥ यात्रानिवृत्तनृपादेः सामान्येन नव्यगृहे वा प्रवेशविधिमाह—

गृहप्रवेशं सुविनीतवेषः, सौम्येऽयने वासरपूर्वभागे। कुर्याद्विधायालयदेवतार्चां, कल्याणधीभूतबलिक्रियां च ॥८५॥

व्याख्या—सुविनीतोऽनत्युद्भटः। १पविश्रोचितश्च । सौम्ये इति उत्तरायणे । यदुक्तं—

"सौम्येऽयने कर्म शुभं विधेयं, यद्गर्हितं तत्खलु दक्षिणे च ।" अत्र शुभमिति, नवरं—

"मासादिसङ्ख्यानियतं सीमन्तोन्नयनादिकम् । याम्यायनादौ तत्सर्वं क्रियमाणं न दुष्यति ॥ १ ॥" इति त्रिविक्रमः ।

अत्रादिशब्दादधिकमासक्षयमासावपि तत्र न दुष्टावित्यर्थः । पूर्वभागे इति चटत्यर्के इति भावः । आलयेति वास्तुशास्त्रोपदिष्टं वास्तुपूजनं भूतबलिं च दिक्षु विदिक्षु विधाय । कल्याणधीरिति तदानीं सद्बुद्धिरेवानेयेति भावः ॥ वारावाह—

प्रविशेद्वेश्म वारेषु हित्वाऽर्कक्षितिनन्दनौ । भैश्च पुष्यध्रुवस्वातिधनिष्ठामृदुवारुणैः ॥ ८६ ॥

विधाय वामतः सूर्यं पूर्णकुम्भपुरस्सरः । गृहं यद्दिङ्मुखं तद्दिग्द्वारधिष्ण्ये विशेषतः ॥ ८७ ॥ युग्मम् ।

व्याख्या—प्रविशेदिति चन्द्रे गोचराष्टकवर्गविधिनाऽनुकूलेऽरिक्ततिथौ विष्कम्भादिकुयोगाभावे चेति स्वयमूह्यं । यदुक्तं—"तारेन्द्वोर्बलकाले तिथावरिक्तेऽह्नि शुभदस्येति" व्यवहारप्रकाशे । हित्वेति रविकुजयो रोग-रक्तप्रकोपकारित्वात् । भैश्चेति, यदुक्तं—

"विशाखासु राज्ञी सुतो दारुणेषु, प्रणाशं प्रयात्युग्रभेषु क्षितीशः । गृहं दह्यते वह्निना वह्निधिष्ण्ये, चरैः क्षिप्रधिष्ण्यैश्च भूयोऽपि यात्रा ॥"

इति दैवज्ञवल्लभे । पूर्णकुम्भेति जलकलशानग्रतः कृत्वेत्यर्थः । गृहं यद्दिङ्मुखमिति, अयं भावः-पूर्वाभिमुखे गृहे पूर्वद्वारकेषु कृत्तिकादिसप्तभेषु प्रवेष्टुमधिकारः, तेन पूर्वोक्तगुणयुतमपि प्रवेशभं यदि गृहाभिमुखदिग्द्वारकं स्यात्तदाऽतीव शुभं । विशेषस्तु—

"सर्वग्रहैर्विमुक्तं प्रवेशभं शस्यते प्रयत्नेन । कश्चित्सौम्यसमेतं शुभप्रदं कीर्तितं मुनिभिः ॥ १ ॥" इति लल्लः ।

तथा नव्यगृहप्रवेशे शुक्रः सम्मुखस्त्याज्यः । यत् त्रिविक्रमः—

"त्यजेत् कुतारां प्रस्थाने शुक्रञ्च गृहवेशके । यात्रासु च नवोढस्त्रीवर्जं सम्मुखदक्षिणौ ॥ १ ॥"

अत्र गृहवेशके इति नव्यगृहप्रवेशे ॥ लग्नबलमाह—

१ पविश्रचित्तश्चेति साधीयान्.

जन्मराशिविलग्नाभ्यां प्रथमोपचयस्थितम् । लग्नं स्थिरं तदंशाश्च प्रवेशे सद्भिरिष्यते ॥ ८८ ॥

व्याख्या—प्रथमं जन्मराशिजन्मलग्नरूपमेव लग्नं प्रवेशे श्रेयः। यल्लुः—

" स्वनक्षत्रे स्वलग्ने वा स्वमुहूर्त्ते स्वके तिथौ । गृहप्रवेशमाङ्गल्यं सर्वमेतत्तु कारयेत् ॥ १ ॥ "

क्षुरकर्म विवादं च यात्रां चैव न कारयेत् । " ताभ्यामुपचयस्थोऽपि राशिर्लग्ने शस्तः । यल्लुः—

" आरोग्यदो १ धनहरो २ धनदः ३ सुखघ्नः ४, पुत्रान्तको ५ ऽरिगणहा ६ ऽथ नितम्बिनीघ्नः ७ ।
प्राणान्तकृत् ८ पिटकदो ९ ऽर्थं १० धनौघ ११ भीदो १२, जन्मर्क्षतस्तदुदयाश्च विलग्नराशिः ॥ १ ॥ "

स्थिरमिति सामान्योक्तेऽपि ग्राम्यं स्थिरं ग्राह्यं, न त्वारण्यं । अनेन वृषकुम्भयोरन्यतमे (रे) लग्ने तन्नवांशे च प्रवेशः श्रेष्ठः, तयोरेव ग्राम्यत्वादिति भावः । तदंशाश्चेति चकाराद् द्विस्वभावावपि लग्नांशौ प्रवेशे दुष्टौ, न चराणामेव लग्नांशानां दोषोक्तेः । तथाहि—

"पुनः प्रयाणं मेषे स्यान्मृत्युः कर्के तुले रुजः ।
धान्यनाशो मृगे लग्नैरंशैश्च फलमीदृशम् ॥ १ ॥" इति लल्लः ।

ग्रहसंस्था तु या गृहनिवेशने उक्ता, सैव गृहप्रवेशेऽपीति पृथग्नोक्ता ।
ग्रहाणामुत्तमादित्रिभङ्गी त्वेवं ज्योतिषसारे उक्ता—

"कूरा तिछगारसगा सोमा किंदे तिकोणगे सुहया ।
कूर टुम अह असुहा सेसा मज्झिम गिहारम्भे ॥ १ ॥
किंदट्ठमंति कूरा असुहा तिइगारहा सुहा सव्वे ।
कूरा बीआ असुहा सेस समा गिहपवेसे अ ॥२॥" स्थापना—

ग्रहसंस्थेयं गृहनिवेशप्रवेशयोः—

	उत्तम	मध्यम	अधम
रवि	३-६-११	९-५	८,-१-४-७-१०,-१२-२
चन्द्र	१-४-७-१०,-९-५,-३-११	८-२-६-१२	०
मंगल	३-६-११	९-५	८-१-४-७-१०-१२-२
बुध	१-४-७-१०-९-५-३-११	८-२-६-१२	०
गुरु	१-४-७-१०-९-५-३-११	८-२-६-१२	०
शुक्र	१-४-७-१०-९-५-३-११	८-२-६-१२	०
शनि	३-६-११	९-५	८-१-४-७-१०-१२-२
राहु	३-६-११	९-५	८-१-४-७-१०-१२-२

विशेषस्तु—

“ रात्रौ विवाहभे शस्तः सन्मुहूर्ते स्थिरोदये । वधूप्रवेशो नैवात्र प्रतिशुक्रादृयं विदुः ॥ १ ॥ ” इति भास्करः । तथा—
“ पुनर्वसौ च सूतिकागृहस्य निर्मितिः स्मृता । विरञ्चिविष्णुभान्तरे प्रवेशनं च तत्र तु ॥ १ ॥ ” इति रत्नमालायां ।
अत्र पुनर्वसाविति स्वाचिनि त्वस्य देवमातृस्वामिकत्वात् । विरञ्चीति अभिजिच्छ्रवणयोरन्तराले, सृष्टिपालनकर्तृस्वामिकत्वात्तयोः । अतीतसुक्वे त्वनयो-रुदयान्तरे तत्र प्रवेशः कार्यः ॥

॥ इति वास्तुद्वारम् ॥ ९ ॥

॥ इति श्रीमति आरम्भसिद्धिवार्तिके गम १ वास्तुनिवेशप्रवेशपरीक्षात्मक २ श्चतुर्थो विमर्शः सम्पूर्णः ॥ ४ ॥

“ श्रीसूरीश्वरसोमसुन्दरगुरोर्निःशेषशिष्याग्रणी-र्गच्छेन्द्रः प्रभुरत्नशेखरगुरुर्देदीप्यते साम्प्रतम् ।
तच्छिष्याश्रवहेमहंसरचितस्यारम्भसिद्धेः सुधी-शृङ्गाराभिधवार्तिकस्य समभूत्तुर्यो विमर्शोऽर्थतः ॥ १ ॥ ”



पञ्चमो विमर्शः ॥ ५ ॥

॥ विलग्नद्वारम् ॥ १० ॥

अथ विलग्नद्वारमाह—

लग्नं विवाहे दीक्षायां प्रतिष्ठायां च शस्यते । रवौ मकरकुम्भस्थे मेषादित्रयगेऽपि च ॥ १ ॥

व्याख्या—दीक्षायामिति उपस्थापनाऽपि दीक्षैव, प्रतिष्ठा जिनबिम्बप्रासादादीनां । चोऽनुक्तसमुच्चयार्थः, तेन राज्याभिषेकसूरिपदाभिषेकयोरपि ग्रहणं । शस्यते इति अवश्याऽऽदरणीयतया बहु मन्यते । एतानि कार्याणि शुद्धलग्नबलेनैव कार्याणि, नान्यथा । शेषकार्याणि तु दिननक्षत्रशुद्धौ सत्यां सुमुहूर्तमात्रेऽपि कार्याणीति भावः । ननु यदि जन्मलग्नाच्छुभाशुभं स्यात्तदा विवाहादिलग्नप्राबल्यविचारणैः किं प्रयोजनं? अथ चैतेषामेव प्रामाण्यं तदा जातकादिशास्त्राणामानर्थक्यप्रसङ्गः । मैवं, यतो यज्जातकादौ शुभाशुभफलमुक्तं तस्य विवाहादिलग्नबलेनाधिक्यं न्यूनता वा स्यात्, यथा किल जन्मफलं शुभमपि दशाप्रवेशकालीयतात्कालिकलग्ने दशापति–तन्मित्रादीनां लग्नादिस्थत्वेनेन्दोर्मित्रोच्चोपचयत्रिकोणादिस्थानवशाच्च शुभतरमुक्तं बृहज्जातके, तथाहि—

“ पाकस्वामिनि लग्नगे सुहृदि वा ×वर्गस्य सौम्येऽपि वा, प्रारब्धा शुभदा दशा त्रिदशषड्लाभेषु वा पाक–पे ।
मित्रोच्चोपचयत्रिकोणमदने पाकेश्वरस्य स्थित–श्चन्द्रः सत्फलबोधनानि कुरुते पापानि घातोऽन्यथा ॥ १ ॥ ”

अत्र पाकस्वामिनीति दशापतौ । अपि च प्राणिनां जन्मलग्नमशुभमपि तत्कालविवाहादिलग्नबलाच्छुभमपीति सर्वमनवद्यम् ॥

“विवाहादौ स्मृतः सौरः” इति रत्नमालाभाष्योक्तेर्लग्नेऽर्कसङ्क्रान्तिप्रवृत्तानां सौरमासानां नियम उक्तः । अथ चान्द्रमासान्नियमयति—

× वर्गेऽस्य वर्ग्येऽस्येति च प्रत्यन्तरे.

माघफाल्गुनयो राधज्येष्ठयोश्चापि मासयोः। लग्नं श्रेयः परे त्वाहुस्तद्वत्कार्तिकमार्गयोः॥ २ ॥

व्याख्या—राधो वैशाखः। एते शुक्लप्रतिपदाद्याश्चान्द्रमासा एव ग्राह्याः। ज्येष्ठयोरिति, ननु ज्येष्ठे तावन्मिथुनसङ्क्रान्तिः स्यात्, सा च प्रागपि ग्राह्योक्ता, ततः किमिति पुनर्ज्येष्ठोपन्यासः? उच्यते–आषाढमासे मिथुनसङ्क्रान्त्यामपि सत्यां सर्वथा निषेधार्थम्। केचिन्मिथुनसङ्क्रान्तौ सत्यामाषाढस्य शुक्लदशमीं यावदार्द्राद्विभाग आदृतोऽपि। तथा च त्रिविक्रमः—"केचिदिष्टस्त्र्यंशः शुचेरपीति"। कार्त्तिकेति कार्तिकमार्गशीर्षयोर्मध्यमत्वात् हीनजाति-विवाहः स्यादिति भावः, परं कार्तिकशुक्लैकादश्यनन्तरमेवेत्यूह्यं। यदुक्तम्—

"कार्तिकमासे शुद्धिर्गुरोर्विलोक्या रवेश्च चन्द्रबलम्। अक्रूरयुते धिष्ण्ये देवोत्थानाद्दशाहं स्यात्॥ १॥" इति व्यवहारप्रकाशे।

एतेन शेषेषु षट्सु चान्द्रमासेषु लग्नं न ग्राह्यमेवेत्यर्थः। पाकश्रीकारस्त्वाह—"चतुर्षु कार्तिकादिमासत्रिकेषु क्रमाच्चत्वारि स्थिरराशिलग्नान्य-मृतस्वभावानि" तथाहि–कार्तिकादिमासत्रये वृषलग्नं शुभं, माघादिमासत्रये सिंहलग्नं, वैशाखादित्रये वृश्चिकलग्नं, श्रावणादित्रिके कुम्भलग्नं च। एषां वर्गोत्तमस्य मध्यमांशस्योदये सर्वकार्यसिद्धिः॥ अथ येषु सत्सु लग्नं न गृह्यते तानाह—

जीवे सिंहस्थे धन्वमीनस्थितेऽर्के विष्णौ निद्राणे चाधिमासे च लग्नम्।
नीचेऽस्तं वाप्ते लग्ननाथेंऽशपे वा, जीवे शुक्रे वाऽस्तङ्गते वापि नेष्टम्॥ ३ ॥

व्याख्या—सिंहस्थे इति, यदाहुः सप्तर्षयः—

"गुरुर्मघायां पुरुषं हन्ति भाग्ये स्थितः स्त्रियम्। उत्तराफल्गुनीपादे द्वयं हन्ति न संशयः॥ १॥
गोदावर्युत्तरतो यावद्भागीरथीतटं याम्यम्। तत्र विवाहो नेष्टः सिंहस्थे देवपतिपूज्ये॥ २॥"

केऽप्याहुः—यावद्गुरुर्मघां नोल्लङ्घते तावत् सिंहस्थदोषो गरीयान्। यच्छौनकः—

"पितृभे यदि सुरपूज्यो नीचर्क्षे वाऽथवाऽरिसंयुक्तः कन्योढा वैधव्यं प्रयाति संवत्सरैः षड्भिः॥ १॥"

यदि तु मघामुत्तीर्णस्तदा न तादृग्दोषः। तेन कन्यातिकालक्रमणाद्वरलोभाद्देशविभ्रमादिहेतुना वा सम्पूर्णसिंहस्थस्य त्यक्तुमशक्यत्वे ते मघास्थमेव जीवं त्यजन्ति। आहुश्च—

" बह्वोऽप्येवं जगदुः सिंहारूढोऽपि वृत्रशत्रुगुरुः। समतिक्रान्तमघर्क्षो न विरुद्धः सर्व्वकार्येषु ॥ १ ॥ " पराशरस्त्वाह—

सिंहस्थेज्येन यद्याद्याः पञ्च नवांशाः सिंहस्य भुक्तास्तदा देशविशेषात् सिंहस्थदोषो न लगति। तथाहि—

" सिंहस्थेज्योऽनुसिंहांशाज्जाह्नवीतीरयोर्द्वयोः। न दुष्टो गङ्गयोर्मध्यदेशेषु तु स दुःखदः ॥ २ ॥ "

सप्तर्षयस्त्वाहुः—" देशविशेषात् सिंहस्थेज्य आदितोऽप्यदुष्ट एव "। तथाहि—

" भागीरथ्युत्तरे तीरे गोदावर्याश्च दक्षिणे। विवाहो व्रतबन्धो वा सिंहस्थेज्ये न दुष्यति ॥ १ ॥ "

अन्ये त्वाहुः—" मेषस्थेऽर्के चेल्लग्नं गृह्यते तदा भुक्तमघस्य सिंहस्थेज्यस्य न दोषः "। पठन्ति च—

" सिंहट्ठिअ जइ जीवो महभुत्तं होइ अह रवि मेसे। ता कुणह निव्विसंकं पाणिग्गहणाइकल्लाणं ॥ १ ॥ "

इह च ग्रन्थान्तरसंवादो विवाहफलमाश्रित्य दर्शितः। प्रतिष्ठादीक्षादिकेषु कार्येष्वप्येतदनुसारेण फलमूह्यं। एवमग्रेऽपि। धन्वमीनेति, अत्र विशेषः—

"झषो न निन्द्यो यदि फाल्गुने स्यादजस्तु वैशाखगतो न निन्द्यः। मध्याश्रितौ द्वावपि वर्जनीयौ, मृगस्तु पौषेऽपि गतो न निन्द्यः"॥

इति विद्याधरीविलासग्रन्थे। केचिदिदं वृत्तमेवं पठन्ति—

"झषो न निन्द्यो यदि फाल्गुने स्यादजस्तु चैत्रेऽपि गतो न निन्द्यः। मृगस्तु पौषेण च सम्प्रयुक्तो, वशिष्ठगर्ग्गादिभिरेतदुक्तम् ॥"

अस्मिन् पाठेऽयं विशेषः-चैत्रमासेऽपि यदि मेषेऽर्कः स्यात्तदा लग्नं गृह्यमाणं न दोषायेति। रत्नमालाभाष्ये त्वेवमूचे—

" कर्कादिराशिषट्कं च पूर्वार्धे पौषचैत्रयोः। अस्तमितं गुरुं शुक्रं त्यजेच्चूडादिकर्मणि ॥ १ ॥ "

अत्र पूर्वार्धे पौषचैत्रयोरित्येतदक्षममाणः श्रीपतिः प्राह—

" सौम्येऽयनेऽप्यविकलौ पौषचैत्रौ परित्यजेत्। पक्षोऽपरः शुभः कैश्चिन्न चैतद्युक्तिमद्वचः ॥ १ ॥ " इदं दैवज्ञवल्लभे।

" निवसति मुहूर्त्तकालो महानिशायां च दिनदले यस्मात् । दश पूर्वं दश परतस्तस्माद्वर्ज्याश्चरपलानि ॥ १ ॥ "

यत्तु केऽप्याहुः—दिनस्यापरार्धे प्रतिष्ठाविवाहादिलग्नं न स्यात्, अत एवोक्तं गृहप्रवेशाधिकारे—"सौम्येऽयने वासरपूर्वभागे" (वास्तुद्वारे श्लोक-८५) इत्यादि, तदयुक्तमिव विवाहे दिनापरार्धलग्नस्य सूत्रकारेणैवानुज्ञास्यमानत्वात् । तथा च वक्ष्यति—"विवाहे त्वर्कार्की त्रिरिपुनिधनायेषु शुभदौ" (मिश्रद्वारे श्लोक ३६) न हि खलु विवाहलग्नेऽर्कस्याष्टमस्थत्वमपराह्णं विना सम्भवतीति, परमपराह्णे प्रतिष्ठादिलग्नग्रहणव्यवहारः प्रायो न दृश्यते, विवाहलग्नं त्वपराह्णे गृह्णन्तः क्वचिद् दृश्यन्तेऽपि, तदत्र वृद्धाः प्रमाणम् ॥

जीर्णः शुक्रोऽहानि पञ्च प्रतीच्यां, प्राच्यां बालस्त्रीण्यहानीह हेयः ।
त्रिघ्नान्येवं तानि दिग्वैपरीत्ये, पक्षं जीवोऽन्ये तु सप्ताहमाहुः ॥ ४ ॥

व्याख्या—जीर्ण इत्यनेनास्तसूचा अस्तेच्छुः सन्नित्यर्थः । बाल इत्यनेनोदयसूचा नवोदितः सन्नित्यर्थः । त्रिघ्नानीति त्रिगुणानि पञ्चदश दिनानि नवेत्यर्थः । एवमिति जीर्णो बालश्च क्रमात् । दिग्वैपरीत्य इति, यदि प्राच्यामस्तेच्छुः प्रतीच्यां चोद्गत इति, तदयं पिण्डार्थः—प्राच्यामुदित शुक्रो बालत्वात्त्र्यहं त्याज्यः, प्रतीच्यां तु नव दिनानि । प्राच्यामस्तेच्छुः सन् स वृद्धत्वात् पक्षं त्याज्यः, प्रतीच्यां तु पञ्चाहं । पक्षं जीव इति । गुरुस्तु नवोदितत्वे बालोऽस्ताभिमुखत्वे वृद्धश्च पक्षमेव त्याज्यः । "गुरुरपि त्र्यहं बालः पञ्चाहं वृद्ध" इत्येके । गुरोस्तु पूर्वास्तपश्चिमोदयौ न स्तः । अन्ये तु (रिवति) सप्तर्प्याद्या उभयोर्गुरुशुक्रयोरुभयोरपि दिशोरुदयेऽस्ते च बाल्यं वार्द्धकं च, सप्ताहमेवाहुः । अनयोर्बाल्ये वार्धके च सति लग्नं न ग्राह्यमिति तात्पर्यं । "इयं च बाल्यवार्धककल्पना निर्बलस्वरूपतरफलज्ञप्त्यर्थमेव कृता, न तु तात्त्विकीति रत्नमालाभाष्ये" । विशेषस्तु—

"अरिगयनीप वक्क अत्थमिय लग्गरासि निसिनाहे । अबले रविगुरुसुक्क सामि अदिट्ठं चयह लग्गं ॥ १ ॥"

एते सर्वत्र भङ्गदा लग्नदोषाः ॥ आ. सि. १७.

॥ इति विलग्नद्वारम् ॥ १० ॥

॥ अथ मिश्रद्वारम् ॥ ११ ॥

अथ मिश्रद्वारं वदन्नादौ तावल्लग्नग्रहणे ग्रहगोचरशुद्धिमाह—

लग्ने गुरोर्वरस्याथ ग्राह्यं चान्द्रबलं बुधैः। शिष्यस्थापककन्यानां जीवेन्द्वर्कबलानि च ॥ ५ ॥

व्याख्या—लग्ने इति लग्नसमये । गुरोरिति दीक्षाप्रतिष्ठालग्नयोर्गुरोः, विवाहलग्ने तु वरस्य । चान्द्रबलमिति प्रागुक्तविधिना राशिगोचर १ नवांशगोचरा २ ष्टवर्गशुद्धि ३ शुभतारा ४ शुभावस्था ५ वामवेध ६ शुक्लेतरपक्षप्रारम्भ ७ मित्राधिमित्रगृहस्थिति ८ सौम्यगृहस्थिति ९ मित्राधि-मित्रांशस्थिति १० सौम्यांशस्थिति ११ मित्राधिमित्रग्रहयुति १२ सौम्यग्रहयुति १३ मित्राधिमित्रग्रहदृष्टि १४ सौम्यग्रहदृष्टि १५ प्रकाराणामन्यतरे-(मे)णापि प्रकारेण चन्द्रानुकूल्यबलं ग्राह्यमेव । यदुक्तं—

"सर्वत्रामृतरश्मेर्बलं प्रकल्प्यान्यखेटजं पश्चात् । चिन्त्यं यतः शशाङ्के बलिनि समस्ता ग्रहाः सबलाः ॥ १ ॥"

शिष्येति शिष्यो दीक्षणीयः पदे स्थाप्यमानो वा, स्थापको यः आद्यादिर्द्रव्यं व्ययति । जीवेन्द्वर्केति एतान्यवश्यग्राह्याणि । यदुक्तं—

"रविशशिजीवैः सबलैः शुभदः स्याद्गोचर......" इति । ग्रहाणां बलतारतम्यादिविभागश्चैवम्—

"पूर्णं २० खेटाष्टकबलमूनं पादेन १५ गोचरं प्रोक्तम् । वेधोत्थमर्द्धमानं १० पादबलं ५ दृष्टितः खेचरे ॥ १ ॥"

इदं सामान्येन सर्वग्रहानाश्रित्योक्तं । चन्द्रस्य तु विशिष्याह—

"एणाङ्के गोचरबल १ मष्टक २ तारोत्थ ३ वेध ४ पक्षभवम् ५ । क्रमशस्तारा १ वेधज २ पक्षभवानी ३इह गौणानि ॥ २ ॥"

क्रमश इति एतानि बलानि यथोत्तरं न्यून १ न्यूनतर २ न्यूनतमानि ३ । आद्यबलयोस्तु स्वरूपमाह—

"ग्रहगोचरा १ ष्टवर्गौ २ तुल्यबलौ शुद्धिकारणादनयोः । एकेनापि बलेन प्राप्तेन भवेत्सुशुद्धिरिह ॥ ३ ॥
चेद्गोचरान्न हि भवेत्तदाऽष्टवर्गाद्विलोक्यते शुद्धिः । गोचरतोऽष्टकवर्गो बलवानुद्वाहदीक्षादौ ॥ ४ ॥
तस्मादष्टकशुद्धिर्गुरोर्विलोक्या रवेश्च चन्द्रस्य । निधना ८ न्त्या १२ म्बु ४ गतेष्वपि रेखाधिक्यात्सुशुद्धिः स्यात् ॥ ५ ॥

समशुद्धिरपि श्रेष्ठा शुद्धिपतेर्यदि भवेच्छुभा रेखा । शुद्धीशस्य न रेखा यदा तदा षड्विधादिवीर्यवतः ॥ ६ ॥
मित्रग्रहस्य रेखा समरेखां शुद्धिमुत्तमां कुरुते । तामन्तरेण मुनिभिर्न ह्यधिकाऽपि प्रशस्यते रेखा ॥ ७ ॥
समशुद्ध्यामष्टकतः शुद्धिपते रेखिकामृते वेधात् । शुभदे ग्रहे सति शुभा शुद्धिः स्यात् प्रोच्यते विबुधैः ॥ ८ ॥ तथा—
नवमद्विपञ्चमगतः समरेखोऽप्यधिकशुभफलः सूर्य्यः । सङ्क्रमकालेन्दुबलात् समोऽपि सर्व्वत्र शुभदोऽर्कः ॥ ९ ॥ तथा—
दशमादूर्ध्वं केवललग्नबलेन स्त्रिया विवाहः स्यात् । शुद्धिर्नैवालोक्या रवीज्ययोः पूजयोद्वाहः ॥ १० ॥ "

अत्र दशमादिति वर्षादिति शेषः । इतीदं सर्व्वं व्यवहारप्रकाशे ।

" जन्मद्विपञ्चनवमद्युनगः खरांशुः, पूजां च वाञ्छति न चाष्टचतुर्थ्ययस्थः ।
जीवस्त्रिजन्मदशमारिगतस्तु पूजामिच्छेत्कदाचिदपि नाष्टचतुर्थ्ययस्थः ॥ १ ॥ " इति तु व्यवहारसारे ।

अत्र न चेति यत्रस्थः पूजां नेच्छति तत्रात्यन्तमशुभत्वात् पूजयाऽप्यनुकूलो न स्यादिति भावः । गर्गस्त्वाह–" गोचरविरुद्धे जीवे वैधव्य-मेव, पूजा त्वप्रमाणं " ॥ अथोक्तशेषां मासशुद्धिं दिननक्षत्रशुद्धी चैकश्लोकेनाह—

ज्येष्ठापत्यस्य न ज्येष्ठे मासि स्यात्पाणिपीडनम् । न पुनस्त्रयमप्येतन्मासाहर्भेषु जन्मनः ॥ ६ ॥

व्याख्या—ज्येष्ठापत्यस्य पुत्रस्य पुत्र्या वा पाणिपीडनमिति उपलक्षणमिदं शेषकार्याणां। यदुक्तं हर्षप्रकाशे—" सुहकज्जे वज्जे सव्वहिं पि जिट्ठस्स जिट्ठंति " । सप्तर्षयस्त्वाहुः—

" ज्येष्ठे न ज्येष्ठयोः कार्यं नृनार्योः पाणिपीडनम् । तयोरेकतमे (रे) ज्येष्ठे ज्येष्ठेऽपि न विरुध्यते ॥ १ ॥ "

त्रयमिति दीक्षाप्रतिष्ठोद्वाहरूपं । मासाहर्भेष्विति जन्मसम्बन्धिनि मासे दिने भे चोद्वाहादि त्याज्यं । इह चोद्वाहे वरकन्ययो,र्दीक्षायां शिष्यस्य, प्रतिष्ठायां च शिष्यस्थापकयोरिति स्वयमूह्यं । केऽप्याहुः–पक्षो यद्यपरस्तदा जन्ममासोऽपि न विरुद्धः । जन्मतिथिरपि दिनरात्रिभागपरावर्तेनाविरुद्धा । जन्मभमपि राशिपार्थक्ये भव्यमेव । उक्तञ्च —

" जन्ममासि विपरीतपक्षयोर्व्यत्यये दिननिशोर्जनुस्तिथौ । जन्मभेऽपि किल राशिभेदतः, पाणिपीडनविधिर्न दुष्यति ॥ १ ॥ "

इति व्यवहारसारे । एकपक्षेऽपि वाऽनया रीत्या जन्ममासोऽपि न विरुद्धः । तथाहि—शुक्लपञ्चम्यां कार्यचिकीर्षाऽस्ति शुक्लाष्टमी च जन्मतिथिरित्थं न दोषः, यतस्तस्य पुंसः किल शुक्लाष्टमीत एव जन्ममासप्रारम्भः, शुक्लपञ्चमी तत्त्वतोऽपरमासस्थैवेति, विपर्यये तु जन्ममासदोषो लागत्येवेति ज्योतिर्ज्ञाः । व्यवहारप्रकाशे तूक्तं—" बलिनि शुभग्रहे केन्द्रस्थे सति जन्मभमपि न दुष्टं " । तथाहि—

" नो जन्मभं च कार्यं बलिनि शुभं केन्द्रगे सौम्ये......" । दिनशुद्धि पृथगाह—

सादिमं ग्रहणस्याहः सप्ताहं च तदग्रतः, त्यजेत्त्रिंशांशमेकैकं प्राक् पश्चाच्चापि सङ्क्रमात् ॥ ७ ॥

व्याख्या—सादिममिति चतुर्दशीसहितं । केचित्त्रयोदशीमपि वर्जयन्ति । पठन्ति च—" त्रयोदशीतो दशाहं सूर्येन्दुग्रहणे त्यजेत्..." सप्ताहं चेति सामान्योक्तेऽप्ययं विशेषो द्रष्टव्यः—

" सर्वग्रस्तेषु सप्ताहं पञ्चाहं स्याद्दलग्रहे । त्रिद्व्येकार्धाङ्गुलग्रासे दिनत्रयं विवर्जयेत् ॥ १ ॥ " इत्यङ्गिराः । विशेषस्तु—

" राहौ दृष्टे शुभं कर्म वर्जयेद्दिवसाष्टकम् । त्यक्त्वा वेतालसंसिद्धि पापदंभमयं तथा ॥ १ ॥ " इति दैवज्ञवल्लभे ।

त्रिंशांशमिति सङ्क्रान्तिमासस्य त्रिंशत्तमं भाग सामान्येन दिनमित्यर्थः । सङ्क्रान्तिदिनात् पुरः पृष्ठे चैकैकं दिनं सङ्क्रान्तिदिनं चेति दिनत्रयमित्यर्थः । हरिभद्रसूरिभिरप्युक्तं—" संकंतीए पुव्वं संकंतिदिणं नयग्गिमं च दिणं, वज्जिज्जंति......" नारचन्द्रेऽपि—

" त्यज सङ्क्रमवासरं पुनः, सह पूर्वेण च पश्चिमेन च "......इति ॥

एकान्तिककार्ये तु दिनत्रयस्य त्यक्तुमशक्यत्वे प्राक् पश्चात् षोडशावश्यं त्याज्या नाड्योऽर्कसङ्क्रमात् इत्यपि बहूनां मतम् ॥

भद्रार्धयामगण्डान्तकुलिकोत्पातदूषितम् । दिनं तपसि राकां च स्थापने च कुजं त्यजेत् ॥ ८ ॥

व्याख्या—भद्रेत्यादि भद्राद्यैः क्रियासाध्यदोषैर्लग्नमपि हन्यते, यदुक्तं —

गण्डान्तेषु सवैधृतावुभयतः सङ्क्रान्तियामद्वये, यामार्धव्यतिपातविष्टिकुलिकैर्भग्नं विलग्नं जगुः । " इति विवाहवृन्दावने ।

उत्पाता भौमादिभेदाः प्राग्वर्णिताः । सारङ्गस्तूत्पातेषु पञ्चाहं त्याज्यमाह, तथाहि—

" निर्घातोल्कामहीकम्पग्रहभेदादिदर्शने । आपञ्चवासरावूढा नाशमाप्नोति कन्यका ॥ १ ॥ " तथा—

" दंपत्योः सह मरणं पाणिग्रहणोदिते केतौ......" । तपसि दीक्षायां राका त्याज्या, न तु प्रतिष्ठायां । यच्चारचन्द्रः—

" त्र्येकद्वितीयपञ्चमदिनानि पक्षद्वयेऽपि शस्तानि । शुक्लेऽन्तिमत्रयोदशमान्यपि च प्रतिष्ठायाम् ॥ १ ॥ "

" तेजस्विनी१क्षेमकृ२दग्निदाहविधायिनी३स्याद्वरदा४दृढा च५ । आनन्दकृ६त्कल्पनिवासिनी७च, सूर्यादिवारेषु भवेत्प्रतिष्ठा ॥ १ ॥ "

इति रत्नमालायां । अत्र तेजस्विनीति रविवारे कृता प्रतिष्ठा प्रतिमायास्तेजो वर्धयति कारयितुश्च । कल्पनिवासिनीति आचन्द्रार्कस्थायिनी । रव्यादीनां लग्नेषु षड्वर्गेऽपि च प्रतिष्ठायामेवमेव फलमूह्यमिति रत्नमालाभाष्ये । स्थापने चेति चकाराद्दीक्षोद्वाहराज्याभिषेकादिष्वपि कुजवारस्त्याज्यः । यदुक्तं यतिवल्लभे—

" राजाभिषेके विवाहे सत्क्रियासु च दीक्षणे । धर्मार्थकामकार्ये च शुभा वाराः कुजं विना ॥ १ ॥ "

श्रीपतिना तूद्वाहे रविकुजशनिवारा दारिद्र्यदौर्भाग्यदाः, सोमवारस्तु सपत्नीप्रद इत्युक्तं । विशेषस्तु—

" कृष्णपक्षे निषिद्धेषु वारधिष्ण्यक्षणादिषु । सङ्कीर्णानां प्रशंसन्ति दारकर्म न संशयः ॥ १ ॥ " इति दैवज्ञवल्लभे ॥ अनियममाह—

उद्वाहे मृगपैत्रर्क्षे प्रतिष्ठायां तु ते उभे । आदित्यपुष्यश्रवणधनिष्ठाभिः समं शुभे ॥ ९ ॥

व्याख्या —प्रतिष्ठायामिति प्रस्तावाज्जैनबिम्बादेः, देवतान्तरादीनां प्रतिष्ठासु तु भान्येवं रत्नमालायामूचिरे—

" रोहिण्युत्तरपौष्णवैष्णवकरादित्याश्विनीवासवानुराधैन्दवजीवभेषु गदितं विष्णोः प्रतिष्ठापनम् ।
पुष्यश्रुत्यभिजित्सु चेश्वरकयोर्वित्ताधिपस्कन्दयोर्मैत्रे तिग्मरुचेः करे निर्ऋतिभे दुर्गादिकानां शुभम् ॥ १ ॥ "

ईश्वरकयोरिति 'को' ब्रह्मा । तिग्मरुचेः करे इति सङ्क्षेपोऽयं, विस्तरस्त्वेवं भीमपराक्रमग्रन्थे उक्तः—

" भगधिष्ण्यचतुष्केण मैत्राहिर्बुध्न्यपूषभैः । सपुनर्वसुभिः कुर्यात् प्रतिष्ठामुष्णरोचिषः ॥ १ ॥ "

दुर्गादिकानामिति आदेर्भूतयक्षगणसर्पादिग्रहणं । तथा—

" गणपरिवृढरक्षोयक्षभूतासुराणां, प्रथमफणिसरस्वत्यादिकानां च पौष्णे ।
श्रवसि सुगतनाम्नो वासवे लोकपानां, निगदितमखिलानां स्थापनं च स्थिरेषु ॥ २ ॥ "

अत्राखिलानामिति उक्तशेषाणामिन्द्रादीनां स्थिरेषु भुवनेषु । तथा—

"सप्तर्षयो यत्र चरन्ति धिष्ण्ये, कार्या प्रतिष्ठा खलु तत्र तेषाम् । श्रीव्यासवाल्मीकिघटोद्भवानां, तथा स्मृता वाक्पतिमे ग्रहाणाम् ॥३॥"

अत्र सप्तर्षयो यत्रेत्यस्यायं भावः—

" आसन्मघासु मुनयः शासति राज्यं युधिष्ठिरे नृपतौ । षड्द्विकपञ्चद्वि२५२६मितः शककालस्तस्य राज्ञश्च ॥ १ ॥
एकैकस्मिन् धिष्ण्ये शतं शतं ते चरन्ति वर्षाणाम् । प्रागुत्तरतश्चैते सदोदयन्ते ससाध्वीकाः ॥ २ ॥ "

अत्र आसन्मघास्विति युधिष्ठिरराज्यसमये सप्तर्षयो मघायामभूवन् । तदनु षड्विंशत्यधिकपञ्चविंशतिवर्षशतैर्गतैः शककालो लग्नः, एकैकमे च वर्षशतमेषां स्थितिः, अतः शकादौ ते पुष्येऽभूवन्नित्यागतं । एषामुदयव्यवस्था चैवं—

" पूर्वे भागे भगवान् मरीचिरपरे स्थितो वशिष्ठोऽस्मात् । तस्याङ्गिरास्ततोऽत्रिस्तस्यासन्नः पुलस्त्यश्च ॥ १ ॥
पुलहः क्रतुरिति भगवानासन्नानुक्रमेण पूर्वाद्याः । तत्र वशिष्ठं मुनिवरमुपस्थिताऽरुन्धती साध्वी ॥ २ ॥ "

इदं सप्तर्षिस्वरूपं वाराहसंहितायां । श्रीव्यासेति यत्र भे सप्तर्षयश्चरन्ति तत्रैव भे श्रीव्यासादीनामपि प्रतिष्ठा कार्या । वाक्पतिमे इति ग्रहाणां स्ववारेषु पुष्यभे प्रतिष्ठा कार्या । तथा—

" स्वतिथिक्षणनक्षत्रकरणेषु न्यसेत्सुरान् । वापीकूपतडागाद्यं न्यस्येद्वरुणदैवते ॥ १ ॥
अहिर्बुध्न्याधिपे लेप्यमारामाद्यं तथाऽनिले । गृहस्थापनयोगा ये तानप्यत्र विचिन्तयेत् ॥ २ ॥ " इति दैवज्ञवल्लभे ।

इदं देवतान्तरादिप्रतिष्ठादिस्वरूपं ज्योतिर्विदां सम्मतमिति प्रसङ्गादुक्तं ॥

दीक्षायां त्वाश्विनादित्यवारुणश्रुतयः शुभाः । त्रिषु मैत्रं करः स्वातिर्मूलः पौष्णध्रुवाणि च ॥ १० ॥

व्याख्या—दिनशुद्ध्यादिग्रन्थेषु तु पूर्वभद्रपदापुष्ययोरपि दीक्षोक्ता । तथाहि—

" उत्तररोहिणिहत्थाणुराहसयभिसयपुव्वभद्दवया। मूलं पुणव्वसुरेवई पुस्सासिणि सवणसाइ वए ॥ १ ॥ " तथा—

" मृगचित्राधनिष्ठान्यमृदुक्षिप्रचरध्रुवैः । शिष्यस्य दीक्षणं कार्यं तथा मूलाजपादयोः ॥ १ ॥ "

त्रिष्विति प्रतिष्ठादीक्षोद्वाहेषु । ततश्चैवं भानां स्थापना—

जैनप्रतिष्ठायां	रो	मृ	पुन	पु	म	उ.फा	ह	स्वा	अनु	मू	उ.षा	श्र	ध	उ.भा	रे
दीक्षायां	अश्वि	रो	पुन	उ.फा	ह	स्वा	अनु	मू	उ.षा	श्र	श	उ.भा	रे	०	०
विवाहे	रो	मृ	म	उ.फा	ह	स्वा	अनु	मू	उ.षा	उ.भा	रे	०	०	०	०

विवाहभेषु विशेषमाह—

स्त्रियः प्रियत्वमुद्वाहे मूलाहिर्बुध्न्यवैश्वभैः । पौष्णब्राह्ममृगैः पुंसां मिथः शेषैस्तु पञ्चभिः ॥ ११ ॥

व्याख्या—प्रियत्वमिति न तथा पुमान् स्त्रियो वल्लभो यथा पुंसः स्त्री वल्लभा इति स्त्रियाः सौभाग्यमित्यर्थः । प्राग् भाधिकारे एषां मूलादित्र-याणामिन्दुना सह पश्चार्धयोगित्वेनोक्तेः । पुंसामिति स्त्रियाः पुमान् वल्लभो न तु पुंसः स्त्री तथा इति स्त्रिया न तादृक् सौभाग्यमित्यर्थः, पौष्णादित्र-याणां पूर्वार्धयोगिषूक्तेः । मिथ इति अन्योऽन्यं प्रियत्वं । पञ्चभिरिति मघो १ त्तरफल्गुनी २ हस्त ३ स्वात्य ४ नुराधाभिः ५, एषां पञ्चभानां मध्ययोगित्वात् । एषामेवैकादशभानां वैवाहिकत्वाच्छेषभानां न परिगणनं । अपि च—

" वल्लभः स्यान्नरो नार्या बलिभिः पुरुषग्रहैः । स्त्रीग्रहैः पुरुषस्य स्त्री सर्वैः प्रेमोभयोरपि ॥ १ ॥ " इति दैवज्ञवल्लभे ।

अत्र बलिभिरिति उद्वाहलग्ने इति शेषः ॥

वर्णकाद्यं विवाहर्क्षे कुमार्या वरणं पुनः । स्वातिपूर्वा३नुराधाभिर्वैश्वत्रयहुताशभैः ॥ १२ ॥

व्याख्या–वर्णको भित्त्यादौ चित्रकर्म्म वधूवरयोर्वर्ण्णकाद्यं मङ्गलकर्म वा आद्यशब्दाद्वक्ष्यमाणश्लोकोक्तं कुसुम्भाद्यपि विवाहकृत्यं सर्वं वैवाहिकमेष्वेव कार्यम् ॥

लग्नादर्वाग्न कुर्वीत त्रिषष्ठनवमे दिने । कुसुम्भमण्डपारम्भवेदीवर्ण–यवारकान् ॥ १३ ॥

व्याख्या—लग्नादिति लग्नदिनात् । यवारकानिति उपलक्षणत्वात् कन्यावरणाद्यपि लग्नादर्वाक् त्रिषष्ठनवमदिनेषु न कुर्यात् ॥

नान्ये प्रतिष्ठां जन्मर्क्षे दशमे षोडशे च मे । अष्टादशे त्रयोविंशे पञ्चविंशे च मन्वते ॥ १४ ॥

व्याख्या—जन्मर्क्षे इति प्रतिष्ठाप्यस्य प्रतिष्ठाकारयितुश्च जन्मभे तदपरिज्ञाने नामभे वा, तस्माद्दशमादिषु च भेषु प्रतिष्ठा न कार्या । श्रीहरिभद्रसूरिभिस्त्वेवमूचे–

" कारावयस्स जम्मण रिक्खं दस सोलसं तहट्ठारं । तेवीस पंचवीसं बिम्बपइट्ठाइ वज्जिज्जा ॥ १ ॥ "

विशेषतस्तु एषां भानां संज्ञा इमाः—

" जन्माद्यं दशमं कर्म सङ्घातं षोडशं पुनः । अष्टादश समुदयं त्रयोविंशं विनाशभम् ॥ १ ॥
मानसं पञ्चविंशं भमिति षड्भोऽखिलः पुमान् । जातिदेशाभिषेकैश्च नव धिष्ण्यानि भूपतेः ॥ २ ॥ " तत्र जातिधिष्ण्यान्येवम्—

" विप्राणां कृत्तिकापूर्वा३ राज्ञां पुष्यस्तथोत्तराः३ । सेवकानां धनिष्ठैन्द्रचित्रामृगशिरांसि च ॥ १ ॥
उग्राणां भानि वायव्यमूलार्द्राशततारकाः । कर्षकाणां मघाः पौष्णमनुराधाविरञ्चिभम् ॥ २ ॥
वणिजामश्विनी हस्तोऽभिजितादित्यमेव च । चण्डालानां श्रुतिः सार्पं यमदेवं द्विदैवतम् ॥ ३ ॥ "

देशभानि तु यथा पद्मचक्रे । राज्याभिषेकभं त्वभिषेकर्क्षं । ननु जन्मर्क्षादीनां त्यागः कस्मात् क्रियते? उच्यते–प्रायो भानि क्रूरग्रहाद्यैः पीड्यन्ते, यदि चेत्पुंसो जन्मर्क्षादीनि प्रतिष्ठादिष्वधिक्रियन्ते तदा तेषु क्रूरग्रहाद्यैः पीडितेषु सत्सु तस्य पुंसोऽनिष्टं स्यात्, यदि तु नाधिक्रियन्ते तदा तानि पीडितान्यपि नानिष्टफलं दातुमलं । कथमेवमिति चेदुच्यते यथा—

" विलग्नस्थोऽष्टमो राशिर्जन्मलग्नात् सजन्मभात् । न शुभः सर्वकार्येषु लग्नाच्चन्द्रस्तथाऽष्टमः ॥ १ ॥ " इत्यादि दैवज्ञवल्लभे ।

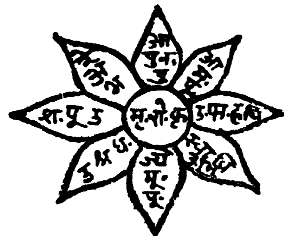
एवंविधाश्च लग्नादियोगा बहुशोऽपि मिलन्ति, न च किमप्यनिष्टफलं दद्युः । यदि तु यात्रादिस्वधिक्रियन्ते तदाऽनिष्टफलदाः प्रायः स्युरेव, तथाऽत्रापि जन्मर्क्षादीनां पीडा, तत्फलं चैवं—

" केत्वर्कार्किभिराक्रान्तं भौमवक्रभिदाहतम् । उल्काग्रहणदग्धं च नवधाऽपि न भं शुभम् ॥ १ ॥ " ततश्च—

" देहविनाशो जन्मर्क्षपीडने कर्मणश्च कर्मर्क्षे । उत्सवबान्धवनाशौ समुदयसङ्घातयोर्हतयोः ॥ २ ॥
स्वतनुविनाशो वैनाशिके हते मानसे मनस्तापः । कुलदेशस्त्रीनाशो जातिभदेशाभिषेकेषु ॥ ३ ॥
राज्याभिषेकदिवसेऽभिषेकधिष्ण्यं च देशनक्षत्रम् । पद्मविभागे ज्ञेयं प्रादक्षिण्येन भूमध्यात् ॥ ४ ॥ " पद्मचक्रस्थापना चैवम्—

" कर्णिकाष्टदलैराढ्ये पद्मे नाभौ दलेषु च । प्राच्यादिस्थेषु भानीह न्यस्याग्निभत्रयादितः ॥ ५ ॥ " तथाहि—

पद्मचक्र-स्थापना



ततश्च—" त्रितयैराग्नेयाद्यैः क्रूरग्रहपीडितैः क्रमेण नृपाः ।
पाञ्चालो१ मागधिकः२ कालिङ्गश्च३ क्षयं यान्ति ॥ ६ ॥
आवन्त्यो४ ऽथानर्तो५ मृत्युं चायाति सिन्धुसौवीरः६ ।
राजा च हारहूरो ७ मद्रेशो८ ऽन्यश्च कौणिन्दः९ ॥ ७ ॥"

अत्र क्षयं यान्तीति एषां देशानां कर्णिकायां पूर्वाद्याग्नेय्याद्यष्टदिक्पत्रेषु च स्थितत्वादिति भावः । दिङ्मात्रं चेदं देशेशानां नामपरिगणनं, तेन नवखण्डकल्पितोर्व्यां यत्र खण्डे ये ये देशाः स्थिताः स्युस्ते ते देशास्तत्रेषु पीडितेषु पीड्यन्ते इत्यूह्यं । नरपतिजयचर्यायां तु पद्मस्थाने कूर्मस्थापनयाऽयमेवार्थो वर्णितः । अन्ये जन्मभवदेकोनविंशमाधानभमपि क्रूरग्रहपीडितत्वे सति प्रवासदायित्वाद्वर्जयन्ति । सर्वमिदं लल्लकृते रत्नकोशे ॥

तस्य दौष्ट्ये सति नवांशशुद्धमपि कष्टमशुद्धमेवेति सत्सर्ग्युक्तैर्यथोक्तभानां दोषप्रकारमाह—

	कृ	रो	मृ	आ	पुन	पु	अश्ले	
भ								म
अ								पू.फा.
रे								उ.फा.
उ.भा.								ह
पू.भा.								चि
श								स्वा
ध								वि
	श्र	अभि	उ.षा.	पू.षा.	मू	ज्ये	अनु	

क्रूरेण मुक्तमाक्रान्तं भोग्यं ग्रहणभं तथा ।
दुष्टं ग्रहोदयास्ताभ्यां ग्रहैर्भिन्नं च भं त्यजेत् ॥ १५ ॥

व्याख्या—क्रूरेणेति क्रूरत्वमत्र स्वाभाविकं ग्राह्यं, न त्वौपाधिकं, यथा क्षीणत्वेनेन्दोः पापयुतत्वेन बुधस्य चेति । ततोऽयमर्थः—यद्भं क्रूरेण रविकुज-शनिराह्वन्यतरेण भुक्त्वा मुक्तं, आक्रान्तं तेनैव भुज्यमानं, भोग्यं तु तदनन्तरमेव भोक्ष्यमाणं । एषां फलानि त्वेवं—

"क्रूराश्रितक्रूरविमुक्तक्रूरगन्तव्यधिष्ण्येषु कुमारिकाणाम् ।
वदन्ति पाणिग्रहणे मुनीन्द्रा, वैधव्यमब्दैस्त्रिभिरत्रिमुख्याः ॥ १ ॥"

इति. सारङ्गः । अन्ये त्वाहुः—

" भुक्तं भोग्यं च नो त्याज्यं सर्वकर्मसु सिद्धिदम् ।
यत्नात्त्याज्यं तु सत्कार्ये नक्षत्रं राहुसंयुतम् ॥ १ ॥ "

ग्रहणभमिति यत्र दिनमेऽर्केन्द्वोर्ग्रहणं जातं । ग्रहोदयेति यत्र दिनमे ग्रहा उदयमस्तमयं वाऽकार्षुः । आगमे च वक्रिग्रहाक्रान्तमपि भं त्याज्यमूचे, तथाहि—"विड्डुरमवहारिअ" अत्रापहारितं वक्रिग्रहाक्रान्तमित्यर्थः । ग्रहैर्भिन्नमिति भौमाद्याः पञ्च ताराग्रहा यस्य कृत्तिकारोहिण्यादेर्मध्येन भित्त्वा ययुस्तद्ग्रहभिन्नं । तत्फल

लग्नशुद्धौ-" मज्झेण गहो जस्स उ गच्छइ तं होइ गहभिन्नं ।" नारचन्द्रटिप्पनके त्वेवं-यत्र ग्रहाणां वामदक्षिणा दृक् पतेत्तद्ग्रहभिन्नं ।
दृग्ज्ञानायात्र सप्तरेखचक्रवत्कृत्तिकादिसप्तसप्तभानां चतुर्दिक्षु स्थापना यथा (पृ. २०९)—
ततश्च— " यस्मिन् धिष्ण्ये स्थित: खेटस्ततो वेधत्रयं भवेत् । ग्रहदृष्टिप्रभावेण वामदक्षिणसम्मुखम् ॥ १ ॥
वक्रगे दक्षिणा दृष्टिर्वामदृष्टिश्च शीघ्रगे । भौमादिपञ्चकस्य स्यान्मध्यदृष्टिश्च मध्यमे ॥ २ ॥
राहुकेतू सदा वक्रौ, सदा शीघ्रौ विधूष्णगू । क्रूरा वक्रा महाक्रूरा:, सौम्या वक्रा महाशुभाः ॥ ३ ॥
वेधद्वयं भजति धिष्ण्यमिभारिदंष्ट्रासंस्थानदिग्द्वयगतोडुगतग्रहाभ्याम् ।
एकं तथाऽभिमुखसंस्थितमध्यनासापर्य्यन्तभागधृतधिष्ण्यगतग्रहेण ॥ ४ ॥ " इति नरपतिजयचर्यायां ।

उदाहरणं यथा—मृगशीर्षे कार्यचिकीर्षा, चित्रायां च कश्चिद्भौमादिसप्तकान्यतमो वक्री ग्रह: स्यात्तदा तस्य वक्रगतित्वेन दक्षिणा दृग्मृगशीर्षे पतिता । रेवत्यां चार्कादिसप्तकान्यतमः कश्चिदतिचारी ग्रह: स्यात्तदा तस्य शीघ्रगतित्वेन वामा दृगित्युभयतो ग्रहदृक्पातात्तदा मृगशीर्षं ग्रहभिन्नं स्यात् । उत्तराषाढायां च भौमादिपञ्चानां मध्ये कश्चिन्मध्यगतिर्ग्रहः स्यात्तदा सम्मुखदृशा तृतीयस्तद्वेधोऽपि । एवमन्यत्रापि भाव्यं । परमेष तृतीयो वेधो वेधेनैकार्गलेत्यस्मिन् श्लोकेऽधिकरिष्यते, शेषाभ्यां त्वत्राधिकारः ॥ अशुद्धभानां शुद्ध्युपायमाह—

धिष्ण्यं कार्याय पर्याप्तं चन्द्रभोगाद्ग्रहाहतम् । शुद्धं षड्भिर्भवेन्मासैरुपरागपराहतम् ॥ १६ ॥

व्याख्या—पर्याप्तमिति योग्यं भवेदिति सण्टङ्कः । ग्रहाहतमिति क्रूरग्रहेण विमुक्ताक्रान्तभोग्यत्वेन ग्रहैरुदयास्तकरणेन वक्रिग्रहाक्रान्तत्वादिना वा दूषितं । चन्द्रभोगादिति ग्रहकृतदोषापगमादनु यदि चन्द्रेण भुक्तं स्यात्तदाऽऽदरणीयमित्यर्थः । यदाह वराहः—
" दोषैर्मुक्तं यदा धिष्ण्यं पश्चाच्चन्द्रेण संयुतम् । ततः पश्चाद्विशुद्धं स्यान्नान्यथा शुभदं भवेत् ॥ १ ॥ " लल्लस्त्वाह—
" तत्सूर्येन्द्वोर्भोगात्कर्मण्यत्वं प्रयाति भूयोऽपि । धिष्ण्यं कर्मसु शुद्धं तापनिषेकात्सुवर्णमिव ॥ १ ॥ "
अत्र सूर्येन्द्वोर्भोगादिति सूर्येण ताप्यते पश्चाच्चन्द्रेण निर्वाप्यते इत्यर्थः । उपरागोऽर्केन्द्वोर्ग्रहणं (तेन) पराहतं दूषितं ग्रहणभमित्यर्थः, तत् षण्मा-

साँस्त्याज्यं । यावच्चार्को भुङ्क्ते तावत्त्याज्यमित्यन्ये । विशेषस्तु—

" पक्षान्तरेण ग्रहणद्वयं स्याद्यदा तदाद्यग्रहणोपगं भम् । पक्षाद्विशुद्धं भवति द्वितीयग्रहोपगं शुध्यति मासषट्कात् ॥ १ ॥ "

इति सप्तर्षयः । यत्र भे केतोरुदयः स्यात्तन्नैव षण्मासान् केतुरिति तदपि षण्मासाँस्त्याज्यं । यस्मिन् दिनभे ताराग्रहयोर्भौमादिपञ्चकान्यतरयोर्मिथो भेदनं स्यात्तदपि भं षण्मासाँस्त्याज्यं । उक्तञ्च विवाहवृन्दावने—

" यस्मिन् धिष्ण्ये वीक्षितौ राहुकेतू, भेदस्ताराखेटयोर्यत्र च स्यात् ।
आषण्मासाँस्तत्र लग्नेन्दुभाजि, भ्राजिष्णु स्यान्नो शुभं कर्म किञ्चित् ॥ १ ॥ "

यत्र दिनभेऽर्केन्द्वोर्ग्रहणं स्यात्तत्र राहुर्वीक्षित इत्युच्यते, यत्र भे केतोरुदयः स्यात्तत्र केतुर्वीक्षितः कथ्यते । ननु कथं केतूदयभं ज्ञायते इति चेदुच्यते—

" मेषेऽर्के सति रेवत्यां यदि याति विधुन्तुदः । भाद्रमासोत्तरार्धे स्यात् पुष्ये केतूदयस्तदा ॥ १ ॥
सूर्ये वृषस्थितेऽश्विन्यां यदि याति विधुन्तुदः । आश्विनस्योत्तरार्धे तद्रोहिण्यां केतुरीक्ष्यते ॥ २ ॥
भरणीमिथुनस्थेऽर्के यदि याति विधुंतुदः । कार्तिकस्योत्तरार्धे तदार्द्रायां केतुदर्शनम ॥ ३ ॥
कर्कस्थेऽर्के कृत्तिकायां यदि याति विधुंतुदः । मार्गशीर्षपरार्धे तत्केतूदयः पुनर्वसौ ॥ ४ ॥
सिंहेऽर्के सति रोहिण्यां यदि याति विधुन्तुदः । पौषमासापरार्धे तदश्लेषायां शिखीक्ष्यते ॥ ५ ॥
कन्यास्थेऽर्के मृगशीर्षे यदि याति विधुंतुदः । माघमासोत्तरार्धे तच्चित्रायां दृश्यते शिखी ॥ ६ ॥
तुलार्के सति आर्द्रायां यदि याति विधुन्तुदः । फाल्गुनस्योत्तरार्धे स्यान्मूले केतूदयस्तदा ॥ ७ ॥
वृश्चिकेऽर्के पुनर्वस्वोर्यदि याति विधुंतुदः । चैत्रमासोत्तरार्धे स्यात् स्वातौ केतूदयस्तदा ॥ ८ ॥
धनुःस्थिते रवौ पुष्यं यदि याति विधुंतुदः । वैशाखस्योत्तरार्धे स्यान्मूले केतूदयस्तदा ॥ ९ ॥
अश्लेषां मकरस्थेऽर्के यदि याति विधुंतुदः । ज्येष्ठमासोत्तरार्द्धे तज्ज्येष्ठायां दृश्यते शिखी ॥ १० ॥

कुम्भस्थेऽर्के मघा धिष्ण्यं यदि याति विधुंतुदः । आषाढमासोत्तरार्धे श्रुतौ केतूदयस्तदा ॥ ११ ॥
मीनेऽर्केऽपरफल्गुन्यां यदि याति विधुंतुदः । श्रावणस्योत्तरार्धे तद्वारुणे दृश्यते शिखी ॥ १२ ॥ "

इदं त्रिविक्रमशतकटीकायां । उल्कापातपरिवेषहतमपि भं षण्मासाँस्त्याज्यमित्येके ॥

वेधेनैकार्गलोत्पातपातलत्ताभिधैरपि । दोषैरुपग्रहाद्यैश्च नक्षत्रं दुष्टमुत्सृजेत् ॥ १७ ॥

व्याख्या—वेधेन सप्तरेखपञ्चरेखचक्राभ्यां वर्णितेन । उत्पाता भौमाद्यास्ते यस्मिन् दिनमेऽभूवँस्तन्नमुत्पातदूषितं । अपिशब्दाद्ग्रहयुद्धाद्यैरपि एतद्दोषदुष्टान्यपि च भानि तद्दोषापगमादनु चन्द्रभुक्त्या शुद्धानि स्युरिति रत्नभाष्ये ॥ वेलाशुद्धिमाह—

अर्केन्द्वोर्भुक्तांशकराशियुतौ क्रान्तिसाम्यनामायम् । चक्रदले व्यतिपातः पातश्चक्रे च वैधृतस्त्याज्यः ॥ १८ ॥

व्याख्या—स्फुटार्केन्द्वोः सायनयोर्भुक्तांशराशिमिलने राश्यङ्कस्थाने षट्कं द्वादशकं वा यदि स्यात्तदा क्रान्तिसाम्यसम्भवः, तद्वेला च त्याज्या, स च क्रान्तिसाम्यनामा दोषो यदि चक्रदले चक्रार्धे षड्रूपे स्यात्तदाऽस्य व्यतिपात इत्याह्वा । यदि च चक्रे द्वादशरूपे स्यात्तदाऽस्य 'पात इति' 'वैधृत इति' चाह्वयं । अथात्रेदं तत्त्वं–क्रान्तिसाम्यवेला तावन्नियता वक्तुं न पार्यते, प्रतिवर्षं तत्परावर्तभवनात् । तदुक्तं विवाहवृन्दावने—

" त्रिभागशेषे ध्रुवनाम्नि चैन्द्रत्र्यंशे गते सम्प्रति सम्भवोऽस्य " । इति ।

तदनु च कैश्चिदूचे–" पूर्वार्धे पुनरैन्द्रस्य पश्चिमार्धे ध्रुवस्य च " इति ।

साम्प्रतं तु–" ब्रह्मणश्चरणे शेषे ध्रुवस्य चरणे गते । तत्सम्भव इत्याहुर्ज्ञाः० ॥ "

कोऽत्र प्रत्यय इति चेत्, उच्यते–एतद्वेलासत्कावर्केन्दू राश्यंशादिरूपतया स्फुटीकृत्य तद्वर्षीयायनांशांस्तयोर्मध्ये क्षिप्त्वा पश्चात्तयोर्मिथो मीलने चेद्राशीनां षट्कं द्वादशकं वा स्यात्तदा क्रान्तिसाम्यसम्भवोऽस्तीति ज्ञेयम् । तत्रापि विशेषः–यदि निरवयवमेव षट्कं द्वादशकं वा स्यात्तदा तदानीयं क्रान्तिसाम्यम् । यदि तु किञ्चिदधिकं तत्तदा क्रान्तिसाम्यमतीतं । यदि तु किञ्चिन्न्यूनं तदाऽतः परं भावि । कियता कालेन प्राग् भूतं भविष्यति वेति ज्ञातुमिच्छा चेत्स्यात्तदाऽर्केन्द्वोर्गती कलाविकलात्मिके स्पष्टीकृत्य मिथः सम्मील्य विकलारूपे कार्ये । तदनु सायनार्केन्दुमीलने यत्किञ्चिदधिकषट्कद्वादशकरूपं राश्यं-

शादिजातमस्ति तन्मध्याद्राइयङ्कं त्यक्त्वा शेषस्य विकलाः कृत्वा तस्याङ्कस्य विकलारूपेण गत्यङ्केन भागो देयः, यल्लब्धं तद्दिनं, शेषं षष्ट्या सङ्गुण्य पुनस्तेनैव भागे यल्लब्धं ता घट्यः, तथैव पुनर्भागे लभ्यन्ते तानि पलानि । इमान्यतीतानि इयद्दिनघटीपलेभ्यः प्राक् क्रान्तिसाम्यमतीतमित्यर्थः । यदि च षट्कं द्वादशकं वा किञ्चिदूनं तदा तत्सर्वं षट्कद्वादशकाङ्कमध्यात् पातयित्वा शेषस्य विकलाः कार्याः, तस्याङ्कस्य प्राग्वद् गतिविकलाङ्केन भागे यल्लब्धं तद्दिनं, पुनः प्राग्वद् गुणने भजने च लब्धं घटीपलानि, इतानि एष्याणि इयद्भिर्दिनघटीपलैर्गतैः क्रान्तिसाम्यं भविष्यतीत्यर्थः । यदि च प्रथमवारभजने भागो न प्राप्नोति तदा दिनस्थाने शून्यं क्रान्तिसाम्यादर्वाग्दिनं गतमेष्यं वा नास्ति, किन्तु घटीपलान्येव कियन्ति सन्ति । यदि च द्वितीयवारभजनेऽपि भागो नाप्यते, तदा घटीस्थानेऽपि शून्यं, कोऽर्थः? क्रान्तिसाम्यादर्वाक् घट्योऽपि गता एष्या वा न सन्ति, किं तु पलान्येव कियन्ति सन्तीत्यर्थः ॥

तत्र षट्कोदाहरणं यथा—संवत् १५१२ वर्षे वैशाखशुक्लदशम्यां १० गुरौ मघायां प्रातर्घटी१ पलानि४५ समये ध्रुवस्याद्यपादे गते सति क्रान्तिसाम्यं विचार्यते। तथाहि—तदानीं राश्यंशकलाविकलारूपः स्फुटोऽर्कः ०—१८—५०—२६, तद्वर्षे चायनांशाः १५ कला ३४ युताः सन्ति, तद्योजने सायनोऽर्कः १—४—२४—२६ । रविगतिः स्फुटा कलाः ५७ विकलाः ५८ । तदा च स्फुटेन्दुः ४—११—२—३० । अयनांशकलाः १५ (विकलाः) ३४, योजने सायनेन्दुः ४—२६—३६—३० । चन्द्रगतिः स्फुटा कलाः ७५० । सायनार्केन्दुमीलने जातं ६—१—०—५६ । अत्र क्रान्तिसाम्यमतीतं, कियता कालेनेति ज्ञातुमंशा (शः) वारद्वयं षष्ट्या सङ्गुण्य विकलारूपः कृतः, ५६ विकलाक्षेपे (च) जातं ३६५६। सूर्येन्दुगती अपि मीलयित्वा षष्ट्या ६० गुणने विकलाः कृताः, ५८ (विकला) क्षेपे जातं ४८४७८ । अनेन प्राक्तनाङ्कस्य ३६५६ भजने भागो न लभ्यत इत्यतो दिनस्थाने शून्यं । ततः सोऽङ्कः ३६५६ षष्ट्या गुणने जातं २१९३६०, पश्चात्तनाङ्केन ४८४७८ भागे लब्ध घटी ४ । शेषं षष्ट्या सङ्गुण्य पुनस्तेनैव भागे लब्धं ३१ पलानि, एतैर्घटी४ पलैः ३१ क्रान्तिसाम्यं प्रागतीतम् ॥

द्वादशकोदाहरणं यथा—संवत् १५१३ वर्षे लौकिकवैशाखकृष्णाष्टम्यां८ भौमे धनिष्ठायां घ०१८ प० ५४ समये ब्रह्मयोगस्यान्त्यपादे शेषे सति क्रान्तिसाम्यं विचार्यते । तथाहि—तदानीं राश्यादिरूपः स्फुटोऽर्कः १—०—४१—१३ । अयनांश (१५—३४) क्षेपे सायनोऽर्कः १—१६—१५—१३ । रविगतिः स्फुटा क० ५७ वि० ३० । तदा च स्फुटेन्दुः ९—२९—१०—५३ सायने—(१५—३४) न्दुस्तु १०—१४—४४—५३ । चन्द्रगतिः स्फुटा क० ८४२

वि० ६ । सायनार्केन्दुमीलने जातं ०–१–०–६ । अत्रापि क्रान्तिसाम्यमतीतं, कियता कालेनेति ज्ञातुमत्रापि प्राग्वत् करणेन लब्धं घट्यः४, ४ घटीभ्यः प्राक् क्रान्तिसाम्यमतीतम् । एवं किञ्चिन्न्यूनषट्कद्वादशके एष्यस्यापि क्रान्तिसाम्यस्य पूर्वोक्तयुक्त्या एष्यदिनघट्यानेयम् । ग्रहाणां तद्गतीनां च स्फुटीकरणविधिरग्रे वक्ष्यते । इदं च स्थूलमानेन क्रान्तिसाम्यसम्भवस्थानमेव सूत्रकृतोक्तम् । अस्माभिरपि तदनुवर्त्तनया तदेव विवृतं । यस्तु सूक्ष्मेक्षिकार्थी स्यात्, तथाहि–क्रान्तिसाम्यं कदा भवितुं प्रवृत्तं ? कियतीं वेलां भूत्वा कदा च समाप्तं ? क्रान्तिसाम्यशब्दस्य च कोऽन्वर्थः ? कथं च षट्कद्वादशकोत्पत्तावपि क्रान्तिसाम्यं न स्यात् ? कथं च षट्कद्वादशकानुत्पत्तावपि क्रान्तिसाम्यं स्यादिति ? कथं च क्रान्तिसाम्यं सदपि दोषकारि न स्यात् ? इत्यादि, तेन **करणकुतूहलभास्करसिद्धान्ताद्यन्वेष्यम्** । ननु यदुक्तं भवद्भिः क्रान्तिसाम्यस्य स्थानं प्रतिमासवर्षं परावर्तते इति, तत्रास्ति कापि तत्परावर्तस्थानसीमा यद्वा नास्ति ? उच्यते–अस्ति सीमा, तथाहि—

“ गण्डोत्तरार्धाच्छुक्लादेः क्रान्तिसाम्यस्य सम्भवः । सार्धपञ्चसु योगेषु तत्त्र्यहं परिवर्ज्जयेत् ॥ १ ॥ ”

अस्यार्थः—गण्डोत्तरार्धादारभ्य सार्धं योगपञ्चकं यावत् क्रान्तिसाम्यशङ्का । एवं शुक्लयोगस्यादेरारभ्य सार्धयोगपञ्चकावधि क्रान्तिसाम्यस्य शङ्का, तदनन्तरं तु न तच्छङ्कापीति खण्डखाद्यभाष्यादौ । एतेन–स्थानद्वयेऽपि सार्धं योगपञ्चकमेव क्रान्तिसाम्यस्य परावर्त्तनास्थानं, सार्धयोगपञ्चकं व्यतीत्य तु न कदापि यातं यास्यति वेत्यर्थः । तत्त्र्यहमिति, अस्यायं भावः–प्रह्वान्त्यपादध्रुवाद्यपादरूपादुक्तस्थानतः पश्चाद्गच्छत्क्रान्तिसाम्यं कदाचिद्गतदिने याति, अग्रतो गच्छच्च कदाचिदग्रेतनदिने यातीत्यतः क्रान्तिसाम्यसम्भवस्थानाङ्कितमेकं दिनं तत्पुरः पृष्ठे चैकैकमिति त्रिदिनी त्याज्या । अन्यथापि वा त्र्यहं त्याज्यं । यदुक्तं—

“ गत १ मेष्य २ द्वर्तमानं ३ सुख १ लक्ष्म्या २ युषां ३ क्रमात् । क्रान्तिसाम्यं सृजेद्धानिं त्र्यहं तेनात्र वर्ज्यताम् ॥ १ ॥ ”

केचित्क्रान्तिसाम्याक्रान्तमेकमेव दिनं त्याज्यमाहुः । अन्ये तद्दिनेऽपि क्रान्तिसाम्यभवनसमयमेव त्याज्यमाहुः । पठन्ति च—

“विषप्रदिग्धेन हतस्य पत्रिणा, मृगस्य मांसं सुखदं क्षतादृते । यथा तथैव व्यतिपातयोगे, क्षणोऽत्र वर्ज्यो न तिथिर्न वारः ॥१॥”

क्रान्तिसाम्यस्य वेलायास्तात्त्विकं यथावत्परिमाणं च **करणकुतूहलाद्युक्तविधिना** निर्द्धार्यमिति तूक्तमेव प्राक् । महादोषश्चैषः । यल्लल्लः—

“ खड्गाहतोऽग्निना दग्धो नागदष्टोऽपि जीवति । क्रान्तिसाम्यकृतोद्वाहो म्रियते नात्र संशयः ॥ १ ॥ ”

अत्रावश्योद्धरणीयाष्टादशदोषसङ्ग्रहकाव्यं यथा—

“ स्युर्वेधः १ पात२ लत्ते३ ग्रहमलिनमुडु४ क्रूरवारा५ ग्रहाणां, जन्मर्क्षं६ विष्टि७ रर्धप्रहरक८कुलिको९पग्रह१०क्रान्त्य११वस्था: १२ । कर्कोत्पातादि१३ घंटो१४विगतबलशशी१५ दुष्टयोगार्गलाख्या१६, गण्डान्तो१७दग्धरिक्ताप्रमुखतिथि१८रथो नामतोऽष्टादशैते ॥१॥”

अस्य विषमपदगमनिका–ग्रहेण मलिनं “क्रूरेण मुक्तमाक्रान्तं” इतिश्लोकोक्तदोषदुष्टं चन्द्रभुक्त्याऽव्याप्यसञ्जातशुद्धि च भं । क्रूरवारा इति क्रूरहोरा अप्यत्र लक्ष्याः । ग्रहाणां जन्मर्क्षं “भरचितुत्तरे” त्याद्युक्तं “विशाखाकृत्तिके” त्यादिश्लोकोक्तञ्च । अर्धप्रहरकुलिकेति “यामार्द्धेन भवेच्छोषः कुलिकेन तनुक्षयः” इति सारङ्गः । तथा—

“ लग्नं पञ्चचतुर्वर्गं दूष्यते क्रूरहोरया । अपि षड्वर्गसंशुद्धं कुलिकेन विहन्यते ॥ १ ॥ ” इति रत्नमालाभाष्ये ।

अत्र कालवेलाकण्टकोपकुलिका अपि लक्ष्याः, तेन यथाशक्ति तेऽपि त्याज्याः । उपग्रहेति दुष्टरवियोगा अप्यत्र लक्ष्याः । क्रान्तीति अर्कसङ्क्रान्तिः क्रान्तिसाम्यञ्च च । अवस्था दुष्टा इन्दोः प्रोषिताद्याः । कर्कोत्पातादीति आदिशब्दाद्ये योगास्तिथिनक्षत्रसम्भववारप्रातिकूल्यरूपा मृत्युकाणसंवर्तकवज्रपातादयस्तेऽत्र सर्वेऽपि ग्राह्याः । घंटो यमघंटः सत्यभामा भामेतिवत् । अस्य पृथग्गणनमतिदौष्ट्यज्ञप्त्यर्थम् । यल्लल्लः—

“ यमघण्टे गते मृत्युः कुलोच्छेदः करग्रहे । कर्तुर्मृत्युः प्रतिष्ठायां शिशुर्जातो न जीवति ॥ १ ॥ ”

विगतबलशशीति, अत्र गोचरादिविरुद्धोऽपीन्दुः, कृष्णपक्षे विरुद्धतारा चोह्या । दुष्टयोगा विष्कम्भाद्याः । अर्गल एकार्गलः, स च विष्कम्भादिकुयोगनान्तरीयकत्वात्तत्सम्मिलित एव पेठे । गण्डान्त इति, अत्र तिथ्यादिसन्धिदोषोऽपि विवाहवृन्दावनाद्युक्तो लक्ष्यः । प्रमुखेत्यनेन पक्षच्छिद्रक्रूरतिथ्यवमफल्गुतिथिग्रहः । यत्सारङ्गः—

“ सूर्योदये यथा तारा विनश्यन्ति समन्ततः । यथाऽग्निरम्बुना लग्नं तथा वृद्धिक्षये तिथिः ॥ १ ॥ ”

शेषं स्पष्टं । एतेऽष्टादश दोषाः शुद्धनक्षत्रबलेन च्छायालग्नादौ यदा प्रतिष्ठादीक्षादिकार्यं क्रियते तदाप्यवश्यं त्याज्या एव, घटिकालग्नेषु तु किं वाच्यं ! । एषु च केषांचिद्दोषाणां भङ्गविधिः पूर्वाचार्यैरेवमूचे । तथाहि—

“लग्ने गुरुः सौम्ययुतेक्षितो वा, लग्नाधिपो लग्नगतस्तथा वा । कालाख्यहोरा च यदा शुभा स्याद्वेधदोषस्य तदा हि भङ्गः ॥१॥”

इति वशिष्ठः । अत्र भ-वेधेति नक्षत्रवेधस्यैव भङ्गो न तु तत्पादवेधस्येति भावः । व्यवहारप्रकाशे त्वनया रीत्या वेधः प्रत्युत शुभोऽप्युक्तः, तथाहि—"सौम्यैश्चरणान्तरितः शुभः शुभैः केन्द्रगैर्वेधः" । इति वेधदोषभङ्गः १ ।

"एकार्गलोपग्रहपातलत्ताजामित्रकर्तर्युदयादिदोषाः । लग्नेऽर्कचन्द्रेज्यबले विनश्यन्त्यर्कोदये यद्वदहो तमांसि ॥१॥" इति सप्तर्षयः । तथा—

"अङ्गेषु वङ्गेषु वदन्ति पातं, सौराष्ट्रयाम्ये खचरस्य लत्ताम् । उपग्रहं मालवसैन्धवेषु गण्डान्तयुक्तिं सकले पृथिव्याम् ॥१॥"

इति केचित् । वामदेवस्त्वाह—

"लत्तां बंगालदेशे च पातं कौशलिके त्यजेत् । उपग्रहं गौडदेशे (च) वेधं सर्व्वत्र वर्जयेत् ॥१॥" इति पातलत्तोपग्रहैकार्गलानां भङ्गः ५ ।

" होराः क्रूराः सौम्यवर्गाधिके स्युर्लग्ने मोघाः सौम्यवारे च राघ्याम् ।
पापारिष्टं निष्फलं शक्तिभाजां, स्यात् षड्वर्गे लग्नगे सद्ग्रहाणाम् ॥ १ ॥ "

त्रिविक्रमोऽप्याह—" क्रूरस्य कालहोरां च क्रूरवारे दिवा त्यजेत् " इति ।

अस्यार्थः—यदि क्रूरो दिनवारो, दिवा च कार्यं, तदा क्रूरहोरां त्यजेत्, किं तु सौम्यया कालहोरया क्रूरवारदोषस्यापगमात्सा ग्राह्या, सौम्यवारे तु दिवा रात्रौ वा होरया नास्त्यधिकार इत्यर्थः । इति सूर्येन्दुग्रहणवर्जग्रहमलिनोडु १ क्रूरवारहोरा २ दोषयोर्भङ्गः ७ । जन्मर्क्षदोषभङ्गस्तु वक्ष्यमाण-कर्कादिभङ्गसम एव ८ । विष्टेस्तु नास्ति भङ्गः, अस्ति वा "विष्टिपुच्छे ध्रुवं जय" इत्यादि ९ । अवस्थादोषभङ्गस्तु वक्ष्यमाणविगतबलेन्दुदोषभङ्गव-च्छिद्रचक्रबलेन कार्यः १० । कर्कोत्पातादीति—

" अयोगास्तिथिवारर्क्षजाता येऽमी प्रकीर्तिताः । लग्ने ग्रहबलोपेते प्रभवन्ति न ते क्वचित् ॥ १ ॥
यत्र लग्नं विना कर्म क्रियते शुभसंज्ञकम् । तत्रैतेषां हि योगानां प्रभावाज्जायते फलम् ॥ २ ॥ " इति व्यवहारसारे ।

इति कर्कोत्पातादिदोषभङ्गः ११ । घंट इति, अस्य दुष्टघट्य एवं—

"पनरस १ तेर २ हारस ३ पगा ४ सग ५ सत्त ६ अट्ठ ७ घडिआओ । जमघंटस्स उ दुट्ठा रविमाइसु सत्तवारेसु ॥ १ ॥"

इदमर्थतः श्रीहरिभद्रफलग्रन्थे । अन्ये त्वाहुः—

"तिथि१५रस६रुद्रा११स्वरगुण३०सार्द्धहया७॥र्तु६०खगुण३०मितघटिकाः। त्याज्या घंटे रव्यादिष्वाद्या उत्तरास्तु शनिबुधयोः ॥१॥"

शेषघट्यस्त्वदुष्टा एवेति यमघंटदोषभङ्गः १२ । विगतबलशशिदोषस्तु "लग्ने गुरोर्वेरस्येति" श्लोकोक्तपञ्चदशान्यतरस्यापि चन्द्रानुकूल्यप्रकारस्य सर्वथाऽप्यलाभे शिवचक्रबलेन हन्यते चन्द्रादेः प्रातिकूल्यं हरतीत्युक्तेः १३ । दुष्टयोगानां तु विष्कम्भादीनां दुष्टघट्य एवावश्यं हेयाः, शेषाणां त्यागे तु कामचार इत्युक्तेः स्फुट एव दोषभङ्गः १४ । गण्डान्तस्य तु लग्नतिथ्युडूनां त्रिस्त्रिभागान्तरे जायमानस्य नास्ति भङ्गः । यस्तु सर्वतिथिभयोगानां सन्धिषु सन्धिनामा दोष उक्तस्तद्भङ्ग एवं—

"धिष्ण्यस्यादावन्ते त्यजेच्चतस्रो घटीः करग्रहणे। यदि शुद्धे द्वे धिष्ण्ये विवाहयोग्ये तदा श्रेष्ठे ॥ १ ॥" इति व्यवहारप्रकाशे। तथा—

"गुरुर्भृगुर्वा केन्द्रे वा त्रिकोणे वा यदा भवेत् । भसन्धिस्तिथिसन्धिश्च योगसन्धिर्न दोषदः ॥ १ ॥
येऽन्ये सन्धिकृता दोषास्ते सर्वे विलयं ययुः । इति प्रोक्तं तु गर्गेण वशिष्ठात्रिपराशरैः ॥ २ ॥"

इति भतिथियोगादिसन्धिदोषभङ्गः १५। तिथिदोषस्तु "तिथिरेकगुणा प्रोक्ता" इतिवचनात्सुभञ्ज एव, यद्वा "दिने बलवती तिथिः" इति, "तिथ्यर्धे तिथिफलं समादेश्यम्" इति वा १६ । अपि च—

"सर्वेषां तु कुयोगानां वर्जयेद् घटिकाद्वयम् । उत्पातमृत्युकाणानां सप्त षट् पञ्च नाडिकाः ॥ १ ॥" इति नारचन्द्रटिप्पनके ।

केचिन्मृत्युयोगे द्वादश घट्यस्त्याज्या इत्याहुः । तथा—

"यमघंटे नवाष्टा च कालमुख्यां विवर्जयेत् । दग्धे तिथौ कुवारे च नाडिकानां चतुष्टयम् ॥ १ ॥" इत्यप्यन्ये । तथा—

"कुतिहिकुवारकुजोगा विट्ठी वि अ जम्मरिक्ख दड्ढतिही । मज्झण्हदिणाओ परं सव्वं पि सुभं भवेऽवस्सं ॥ १ ॥"

इति हर्षप्रकाशे । लल्लोऽप्याह—

"विष्टयामङ्गारके चैव व्यतीपातेऽथ वैधृते । प्रत्यरे जन्मनक्षत्रे मध्याह्नात् परतः शुभम् ॥ १ ॥"

अत्र प्रत्यरे इति सप्तमताराया। उपलक्षणं चेदं तृतीयपञ्चमाधानताराणां, तेन तास्वपि मध्याह्नात् परतः शुभमेव इति, सामान्येन प्रतिष्ठायां बहुदोषभङ्गः ॥

अथ प्रतिष्ठायां लग्नांशनियममाह—

लग्नं श्रेष्ठं प्रतिष्ठायां क्रमान्मध्यमथावरम्। द्व्यङ्गं स्थिरं च भूयोभिर्गुणैराढ्यं चरं तथा ॥ १९ ॥

व्याख्या—जैनप्रतिष्ठायां द्विस्वभावलग्नं श्रेष्ठं, स्थिरं तु मध्यमं, चरं त्ववरमिति अधमं, तच्चातीवसबलबहुशुभग्रहभूषितं चेत् स्यात्तदा तृतीयभङ्गे ग्राह्यमपि। स्थापना यथा—

श्री जिनेश्वरप्रतिष्ठायां लग्न-स्थापना

द्विस्व० ल०	मि	क	ध	मी.	श्रेष्ठं
स्थि० ल०	वृष	सिं	वृ.	कुं	मध्यमं
चर० ल०	मे	कर्क	तु	म	अधमं

देवान्तरप्रतिष्ठायां तु लग्नान्येवं—

"सिंहोदये दिनकरो घटमे विधाता, नारायणस्तु युवतौ मिथुने महेशः।
देव्यो द्विमूर्तिभवनेषु निवेशनीयाः, क्षुद्राश्चरे स्थिरगृहे निखिलाश्च देवाः ॥१॥"

इति रत्नमालायाम्। अत्र क्षुद्रा इति व्यन्तराद्याः निखिला इति उक्तशेषा इन्द्राद्याः।

लल्लस्त्वाह—" सौम्यैर्देवाः स्थाप्याः क्रूरैर्गन्धर्वयक्षरक्षांसि। गणपतिगणांश्च नियतं कुर्यात्साधारणे लग्ने ॥ १ ॥ "

अंशास्तु मिथुनः कन्या धन्वाद्यार्धं च शोभनाः। प्रतिष्ठायां वृषः सिंहो वणिग्मीनश्च मध्यमाः ॥ २० ॥

व्याख्या—धन्वाद्यार्द्धमिति धनुरंशस्य प्रथमार्धं तच्चप्रस्ताष्टादशांशरूपम्। मध्यमा इति देवस्य सुपूज्यत्वभवनेऽपि कर्तृस्थापकादीनां हानिकरत्वात्। सामर्थ्याच्चेदं लभ्यते-शेषा मेषकर्कवृश्चिकमकरकुम्भांशा धनुरंशान्त्यार्धं चाधमान्येव। उक्तञ्च नारचन्द्रटिप्पनके—

" मेषांशे स्थापितो देवो वह्निदाहभयावहः १।
वृषांशे म्रियते कर्त्ता स्थापकश्च ऋतुत्रये२। मिथुनांशः शुभो नित्यं भोगदः सर्वसिद्धिदः३ ॥ १ ॥ षट्पदी ॥
कुमारं तु हन्ति कर्कः कुलनाश ऋतुत्रये। विनश्यति ततो देवः षड्भिरब्दैर्न संशयः ४ ॥ २ ॥
सिंहांशे शोकसन्तापः कर्तृस्थापकशिल्पिनाम्। सञ्जायते पुनः ख्याता लोकेऽर्चा सर्वदैव हि५ ॥ ३ ॥

भोगः सदैव कन्यांशे देवदेवस्य जायते । धनधान्ययुतः कर्ता मोदते सुचिरं भुवि६ ॥ ४ ॥
उच्चाटनं भवेत्कर्तुर्बन्धश्चैव सदा भवेत् । स्थापकस्य भवेन्मृत्युस्तुलांशे वत्सरद्वये७ ॥ ५ ॥
वृश्चिके च महाकोपं राजपीडासमुद्भवम् । अग्निदाहं महाघोरं दिनत्रये विनिर्दिशेत्८ ॥ ६ ॥
धन्वांशे धनवृद्धिः स्यात् सद्भोगं च सदा सुरैः । प्रतिष्ठापककर्तारौ नन्दतः सुचिरं भुवि९ ॥ ७ ॥
मकरांशे भवेन्मृत्युः कर्तृस्थापकशिल्पिनाम् । वज्राच्छस्त्राद्वा विनाशस्त्रिभिरब्दैर्न संशयः१० ॥ ८ ॥
घटांशे भिद्यते देवो जलपातेन वत्सरात् । जलोदरेण कर्ता च त्रिभिरब्दैर्विनश्यति११ ॥ ९ ॥
मीनांशे त्वर्च्यते देवो वासवाद्यैः सुरासुरैः । मनुष्यैश्च सदा पूज्यो विना कारापकेन तु१२ ॥ १० ॥ ”
रत्नमालायां तु भौमवर्जसर्वग्रहाणां षड्वर्गाः प्रतिष्ठायामनुज्ञाताः ॥ अथ दीक्षायां लग्नांशानाह—

व्रताय राशयो द्व्यङ्गाः स्थिराश्चापि वृषं विना । मकरश्च प्रशस्याः स्युर्लग्नांशादिषु नेतरे ॥ २१ ॥

व्याख्या—प्रशस्या इति, एवं मिथुन१ सिंह२ कन्या३ वृश्चिक४ धनु५मकर६ कुम्भ७ मीनाः८ एतेऽष्टौ शस्याः। इतर इति, मेष१ वृष२ कर्क३ तुला४ एते चत्वारो लग्नेषु नवांशेष्वादिशब्दाद् द्वादशांशेष्वपि च हेयाः । उक्तञ्च नारचन्द्रे—

“ भृगोरुदय१ वारांऽश३ भवने४ क्षण५ पञ्चके । चन्द्रांशो१ दय२ वारे च३ दर्शने च४ न दीक्षयेत् ॥ १ ॥ ”

अत्र भृगोरुदयेति शुक्रस्योदयस्थत्वं लग्नस्थत्वमित्यर्थः १ । तथा शुक्रवारः २ । लग्ने शुक्रनवांशकः ३ । शुक्रभवनयोर्वृषतुलयोः ४ । यदि सकलदृष्ट्या शुक्रो मूर्तिं सप्तमगृहं वा पश्यतीति ५ पञ्चके । तथा चन्द्रांशे१ । चन्द्रस्योदयस्थत्वे कोऽर्थः ? लग्नस्थत्वे२ । तथा चन्द्रवारे३ । चन्द्रदर्शने च४ । दीक्षालग्नं न देयमिति षड्वर्गशुद्धिः । तथा—

“ जीवमन्दबुधार्काणां षड्वर्गो वारदर्शने । शुभावहानि दीक्षायां न शेषाणां कदाचन ॥ १ ॥ ”

हर्षप्रकाशे तु वृषांशः शुक्रसत्कोऽपि वर्गोत्तमत्वादनुज्ञातः, तथाहि—

"मेसविसाणं मुत्तूण सेसरासीण पंचमे अंसे। न य दिक्खिज्ज जओ सो विणसइ तह तह पओगाओ ॥१॥" अथ विवाहे लग्नांशानाह—

विवाहे नाग्रहः कोऽपि लग्नानामिह केवलम् । नवांशा धनुराद्यार्द्धयुग्मकन्यातुलाः शुभाः ॥ २२ ॥

व्याख्या—नाग्रह इति, एतानि लग्नानि ग्राह्याणि, एतानि हेयानीति यो नियमः स आग्रहः। स किल यथा प्रतिष्ठादीक्षयोरुक्तस्तथा विवाहे कोऽपि नास्ति । केवलमिहेति विवाहे यत्तल्लग्नमस्तु, परमंशा एत एव मनुष्यत्वाद् ग्राह्या, नान्ये, "मनुष्यांशेभ्योऽन्यत्रासती दरिद्रा च स्यादिति" रत्नमालाभाष्योक्तेः। "धनुषि पराभवयुक्ता" इति केऽप्याहुः। ग्रन्थकृन्मते तु धनुरन्त्यार्धमेव विरुद्धं पूर्वार्धस्य मनुष्यत्वात् । रत्नमालायां तु लग्नान्यपि नियमितानि—

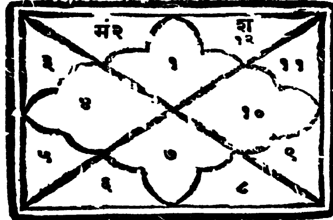
"कन्या नृयुग्मं च वणिग्विलग्ने, स्थितो विवाहः शुभमादधाति" । इति परं तेष्वप्यंशनियमो यथोक्त एव । यल्लास्करः—

"निन्द्येऽपि लग्ने द्विपदांश इष्टः, कन्यादिलग्नेष्वपि नान्यभागः" इति । व्यवहारप्रकाशे त्वेवमूचे—

"धन्वंशो न बुधास्ते भौमास्ते नो तुलांशकः कार्यः । न तुलांशश्चरलग्ने देयस्तुलमकरसंस्थेन्दौ ॥ १ ॥" अथ सर्वलग्नसाधारणमाह—

त्रिष्वपि क्रूरमध्यस्थौ शुक्रक्रूराश्रितद्युनौ। नेष्टौ लग्नविधू केन्द्रस्थितसौम्यौ तु तौ मतौ ॥ २३ ॥

व्याख्या—त्रिष्वपीति प्रतिष्ठादीक्षोद्वाहेषु । मध्यस्थाविति एतेनायमर्थः—लग्नस्य द्वयोरपि पार्श्वयोर्द्वितीयद्वादशगृहयोश्चेत् क्रूरग्रहौ चन्द्रस्यापि चैवमिति द्वेधाऽपि क्रूरकर्तरी। इयं च प्रत्येकं त्रेधा—अतिदुष्टा१ दुष्टा२ अल्पदुष्टा३ च। तथाहि—यदा धनस्थः क्रूरग्रहो वक्री व्ययस्थस्तु मध्यगतिः क्रूरस्तदोभयतः संघटमानात्क्रूरकर्त्तर्यतिदुष्टा । स्थापना यथा—



यदा तु व्ययस्थः क्रूरोऽतिचरितस्तदा विशिष्यातिदुष्टा, शीघ्रमेव संघटमानत्वात् १ । यदा धनव्ययोरपि मध्यगती क्रूरौ, यद्वा द्वयोरपि तयोः वक्रगती क्रूरौ तदा मध्यदुष्टा सा, एकत एव संघटमानत्वात् २ । यदा तु धने मध्यगतिः क्रूरो व्यये च वक्री तदाऽल्पदुष्टा, कर्तर्या उभयतोऽपि विघटमानत्वात्, तत्रापि धनस्थश्चेदतिचारवाँस्तदा तु विशिष्य स्वल्पदुष्टा, शीघ्रमेव विघटमानत्वात्३ । भावना स्थापनायां कार्या । एवं चन्द्रस्यापि पार्श्वद्वयस्थग्रहैः क्रूरकर्तर्यास्त्रिविधता भाव्या । विशेषस्तु—

" क्रूरग्रहस्यान्तरगा तनुर्भवेन्मृतिप्रदा शीतकरश्च रोगः । शुभैर्धनुस्थैरथवान्त्यगे गुरौ, न कर्तरी स्यादिह भार्गवा विदुः ॥ १ ॥
त्रिकोणकेन्द्रगो गुरुस्त्रिलाभगो रविर्यदा । तदा न कर्तरी भवेज्जगाद बादरायणः ॥ २ ॥ "

अपि चान्यलग्नाभावेन यदि क्रूरकर्तरी त्यक्तुं न शक्यते, तदा लग्नस्योभयपार्श्वयोः प्रत्येकं पञ्चदशानां त्रिंशांशानां मध्ये यदि क्रूरग्रहौ स्यातां तदा सा क्रूरकर्तर्य्यवश्यं त्याज्या । एवं चन्द्रस्यापि । यदुक्तं व्यवहारप्रकाशे—

"पूर्व्वे पश्चात् पापास्तिथ्यंशा १५ घाटमध्यगश्चन्द्रः । वर्जयितव्या योगे यस्मान्नाश्यंशरश्मियुतिः ॥ १ ॥ "

शुक्रक्रूरेति, लग्नाच्चन्द्राच्च सप्तमे शुक्रः क्रूरग्रहो वा चेत्स्यात्तदा जामित्राख्यो दोषः । उक्तञ्च—

" उदयात्सप्तमसंस्थे शुक्रे सूर्येऽथवा शनौ राहौ । वैधव्यं क्षितितनये सप्तमगे कन्यका म्रियते ॥ १ ॥ " इति सारङ्गः । तथा—

"सुक्क १ गारय २ मंदाण ३ सत्तमे ससहरे गहिअदिक्खो । पीडिज्जए अवस्सं सत्थ १ कुसीलत्त २ वाहीहिं ॥१॥" इति लग्नशुद्धौ । तथा—

" शुक्रार्कशनिभौमानां सप्तमेन्दौ विवाहिता । सपत्न्या १ च विधवा २ निष्पुत्रा ३ स्वैरिणी ४ क्रमात् ॥ १ ॥ " इति दैवज्ञवल्लभे ।

राहुस्तु विशेषानुक्तौ सर्व्वत्र शनिवत् । विशेषस्तु—

"द्वौ ग्रहौ यदि जामित्रे क्रूरौ सौम्यौ च संस्थितौ । अब्दत्रयेण दारिद्र्यं कन्या प्राप्नोति दारुणम् ॥ १ ॥ " इति दैवज्ञवल्लभे ।

अथ शुक्रक्रूरेत्यस्यापवादमाह—केन्द्रस्थितेत्यादि लग्नाच्चन्द्राच्चतुर्ष्वपि केन्द्रेषु सौम्यग्रहाश्चेत् स्युस्तदा शुक्रक्रूराश्रितद्युनावपि लग्नेन्दू मताविति । कोऽर्थः ? क्वचिदादरणीयावपि । सारङ्गस्तु चन्द्रात्केन्द्रस्थक्रूरस्य दोषमेवमाह—

" लग्ना१म्बु२सप्त३व्योम४स्थो भवेत्क्रूरग्रहो विधोः । आपीडा१चैव सम्पीडा २ भृग्वाद्या३ वर्तिताः ४ क्रमात् ॥ १ ॥
आत्मनो१बन्धुवर्गस्य२जायायाः३कर्मणः४क्रमात् । विनाशो जायते नूनं तद्वेलाकार्यकारिणः ॥ २ ॥ "

ननु किमित्यत्र लग्नेन्द्वोर्गुणदोषयोः समकक्षतयाऽऽख्यानं ? उच्यते—

" लग्नबलाच्छरीरं चन्द्रबलान्मानसं ग्रहाः सर्वे । दद्युर्भावाश्रयजं शुभमशुभं वा फलं नियमात् ॥ १ ॥ " इति व्यवहारप्रकाशे ॥

अथ चन्द्रात्सप्तमक्रूरभवत्वामित्वावदोषस्य भङ्गमाह—

गुरुर्बुधश्च शीतांशुसप्तमक्रूरदोषहृत् । पुष्टयेन्दुं दृशा पश्यन् लग्न १ खा १० म्बु ४ त्रिकोण ९-५ गः ॥ २४ ॥

व्याख्या—शीतांश्विति चन्द्रात्सप्तमस्थक्रूरग्रहस्य दोषं हरति । पुष्टयेति पूर्णया पादोनया वा ॥ अथ दीक्षायां चन्द्रस्य युतेः फलमाह—

दीक्षायां कुरुते चन्द्रः क्रमाद्भौमादिभिर्युतः । कलिं १ भियं २ मृतिं ३ नैःस्व्यं ४ विपदं ५ भूमिभृद्भयम् ६ ॥ २५ ॥

व्याख्या—कलिमिति भौमादारभ्यार्कं यावत्क्रमेणामूनि फलानि । विशेषस्तु नीचेऽस्त वार्हे इत्यत्र ये ग्रहाणामस्तमयविषये कालांशा उक्ताः सन्ति तेषामर्धविभागे यदि ग्रहाणां योगः स्यात्तदा सा युतिर्दुष्टा । यदि तु कालार्द्धविभागप्राप्ता अतीता वा स्युर्ग्रहास्तदा यथोक्तदोषा उत्पद्यन्ते, परं निवर्तन्ते । यच्छौनकः—“ योगा यथोक्तफलदाः कालार्धविभागसंश्रितानां तु । अप्राप्तातीतानामिच्छामात्रं फलं तेषाम् ॥ १ ॥ ”

विवाहदीक्षयोः साधारणमाह—

विवाहदीक्षयोर्लग्ने द्यूनेन्दू ग्रहवर्जितौ । शुभौ केचित्तु जीवज्ञयुक्तमिन्दुं शुभं विदुः ॥ २६ ॥

व्याख्या—ग्रहवर्जिताविति सप्तमं गृहं ग्रहशून्यं शुभं, यदाहुः सप्तर्षयः—

“ वैधव्यं१सापत्न्यं२वन्ध्यात्वं३निष्प्रजत्वं४दौर्भाग्यम्५ । वेश्यात्वं६गर्भच्युति७रर्काद्या लग्नतोऽस्तगाः कुर्युः ॥ १ ॥ ”

चन्द्रश्चैकाकिस्थितः शुभः । केचिदिति ते हीन्दोर्बुधगुरुवर्जग्रहयुतेः फलमेवमाहुः, तथाहि—

“ रविणा१सणि२भोमेहिं३सुक्क४केऊहिं५राहुणा६ । पगरासिगए चंदे जुइदोसो पवुच्चइ ॥ १ ॥
दरिद्दा१समणी२चेव मरए३ससवत्तिआ४ । कवालिणी अ५दुस्सीला६कमा नारी विवाहिआ ॥ २ ॥ ”

शुक्रेन्द्वोर्युतिर्विवाहे सर्वथा त्याज्येति व्यवहारसारे । सत्यसूरिस्त्वाह—

“ अन्यर्क्षेऽन्यगृहे वा कुजबुधगुरुशुक्रशौरिभिः सार्धम् । न भवति दोषाय शशी प्रदक्षिणं याति यदि चैषाम् ॥ १ ॥ ”

---

१ ससपत्नीका ।

विशेषस्तु—" बुधाद्यैः क्रूरैर्युते चन्द्रे व्यसुः प्रव्रजितः शुभैः । " इति दैवज्ञवल्लभे ॥

अथ शुक्रकूराश्रितयुनावित्यस्य मतान्तरेणापवादमाह—

पञ्चपञ्चाशमेवांशं जामित्रं परमं परे । अंशादुज्झन्ति लग्नेन्द्वोर्गर्हितग्रहदूषितम् ॥ २७ ॥

व्याख्या—अंशादिति लग्नेन्द्वोः सत्काद्धिकृतादंशात् पञ्चपञ्चाशमेवांशं । गर्हितग्रहदूषितं सन्तं तत एव हेतोः परमजामित्राख्यं तं दोषं परे उज्झन्तीत्यन्वयः । भावना त्वेवं–यत्संख्यो नवांशो लग्नेऽधिकृतस्तत्संख्यः सप्तमस्थानस्थराश्यंशः पञ्चपञ्चाशः स्यात्, इन्दुरपि राशौ यत्संख्येंऽशेऽस्ति तत्सप्तमराशेस्तावत्संख्योंऽशश्चन्द्राक्रान्तादंशात् पञ्चपञ्चाशः स्यात्, ततो लग्नांशाच्चन्द्रांशाद्वा पञ्चपञ्चाशेंऽशे चेत्क्रूरग्रहोऽस्ति शुक्रो वा तदा परमं जामित्रं । यथा–मेषस्याद्यांशे लग्नं चन्द्रो वा तुलायाश्चाद्येंऽशे क्रूरग्रहः शुक्रो वेति, मेषस्य द्वितीये चेत्तदा तुलाया अपि द्वितीये, एवं द्वयोरपि तृतीये तुर्ये चेत्यादि । एतस्याऽयमेव । यदुक्तम्—

" लग्नेन्दुसंयुतादंशात् पञ्चपञ्चाशदंशके । ग्रहोऽन्यो यद्यसौ दोषो न गुणैरपि हन्यते ॥ १ ॥ " इति दैवज्ञवल्लभे ।

यदि तु पञ्चपञ्चाशान्न्यूनोऽधिको वा स्यात्तदा स जामित्राख्य एव दोषो न तु परमजामित्राख्यः । यथा मेषस्य तृतीयेंऽशे लग्नमिन्दुर्वा तुलायाश्चाद्ये द्वितीये वा क्रूरग्रहः शुक्रो वा स्थितस्तदा सोंऽशस्त्रिपञ्चाशश्चतुःपञ्चाशो वा स्यात् । यदा च मेषस्याद्येंऽशे लग्नमिन्दुर्वा तुलायाश्च द्वितीये तृतीये तुर्ये वांशे क्रूरग्रहः शुक्रो वा, तदा स तस्मात् षट्पञ्चाशः सप्तपञ्चाशोऽष्टापञ्चाशो वा स्यादित्यादि । अयं च दोषो नातिदुष्ट इति तन्मतं । बहुमतं चैतत् ॥ प्रतिष्ठायां ग्रहयुतिदृष्टयोः फलमाह—

स्थापने स्युर्विधौ युक्ते दृष्टे वाऽऽरादिभिः क्रमात् । अग्निभी१ऋद्धि२सिद्धार्चा३श्री४पञ्चत्वा५ग्निभीतयः६ ॥ २८ ॥

व्याख्या—स्थापने प्रतिष्ठायां आरेण युते दृष्टे वा चन्द्रेऽग्निभीः १ । बुधेन ऋद्धिः २ । गुरुणा सिद्धार्चा, कोऽर्थः ? प्रतिमा साधिष्ठायिका स्यात् " गुरुणा सर्वपूजिता " इति तु दैवज्ञवल्लभे ३ । शुक्रेण श्रीः ४ । शनिना मृत्युः ५ । रविणा त्वग्निभीः ६ । अत्र दृष्टिः सामान्योक्तेऽपि पुष्टा ज्ञेया ॥ अथ सर्वकार्यलग्नानां साधारणानि व्याख्यानि षड्भिः श्लोकैराह—

जन्मराशिं जनेर्लग्नं ताभ्यामन्त्यं तथाष्टमम् । लग्नलग्नांशयोश्चेशौ लग्नात् षष्ठाष्टमौ त्यजेत् ॥ २९ ॥

व्याख्या—जन्मराशिं मूर्तौ त्यजेत्, स च दीक्षायां शिष्यस्य, प्रतिष्ठायां स्थापकशिक्षयोर्विवाहे वरकन्ययोश्चेत्यूह्यं, एवमग्रेऽपि । जनेर्लग्नमिति इदं नारचन्द्रे वर्जितं नास्ति । तथाऽष्टममिति केचित्तुर्यमपि त्याज्यमाहुः, तथाहि—

" दम्पत्योरुपचयभं जन्मर्क्षादुदयतश्च शुभलग्नम् । निधनं व्ययं च हिबुकं नेष्टं शेषाणि मध्यानि ॥१॥ " इति व्यवहारप्रकाशे । तथा—

" चतुर्थद्वादशे कार्ये लग्ने बहुगुणे यदि । अष्टमं तु न कर्त्तव्यं यदि सर्व्वगुणान्वितम् ॥ १ ॥ " इति गर्गः । विशेषस्तु—

" अष्टमर्क्षोदयोद्भूतदोषो नश्यति भावतः । लग्नेशाष्टमराशीशौ मिथो मित्रे यदा तदा ॥ १ ॥ " इति बृहस्पतिः ।

" तथा चतुर्थं रिष्फं वा मित्रत्वेन शुभं स्मृतम् । गुरुणा भृगुणा केन्द्रत्रिकोणस्थेन चेक्षितम् ॥ १ ॥ " इति सारङ्गः । तथा—

" होराष्टमं जन्मगृहाष्टमं वा, लग्नं शुभं श्चेज्यसितेक्षितं चेत् ...." । इति केशवः । तथा—

" जन्मगृहजन्मभाभ्यामष्टमभवनं मृतिप्रदं लग्ने । व्ययहिबुककेन्द्रसंस्थैः शुभग्रहैः शोभनं बलिभिः ॥ १ ॥ " इति व्यवहारप्रकाशे ।

लग्नलग्नांशयोश्चेति, चकाराद् द्रेष्काणस्यापि लग्नात् षष्ठाष्टमौ त्यजेदिति ।

यल्लल्लः—" लग्नस्थेऽपि गुरौ दुष्टः षष्ठस्थो लग्ननायकः.........." । इति । लक्ष्मीधरोऽप्याह—

" विलग्नाधिपतौ षष्ठे वैधव्यं स्यात्तथांशपे । द्रेष्काणाधिपतौ मृत्युर्विलग्ने बलवत्यपि ॥ १ ॥ "

अष्टमस्तु लग्नेशस्तावदशुभ एव । ततोऽपि यदि लग्नेशोऽष्टमभवने लग्नद्रेष्काणाद् द्वाविंशे द्रेष्काणे स्यात्तदा भृशमशुभः । यदि च लग्नपति-मृत्युपती एकद्रेष्काणस्थौ स्यातां तदा भृशतरमशुभं । अथ षष्ठाष्टमान् लग्नांशद्रेष्काणेशानाश्रित्य रत्नमालाभाष्ये श्लोकोऽयम्—

" वर्षमासदिनैर्गेहद्रेष्काणनवमांशपाः । राशिमानेन दास्यन्ति फलमित्याह शौनकः ॥ १ ॥ "

षष्ठाष्टमावित्युपलक्षणत्वाद् द्वादशोऽपि लग्नेशो न शुभः । विशेषस्तु " लग्नलग्नांशयोश्चेशौ " इत्यस्यापवादोऽयं । वृश्चिके लग्नेंऽशे वा गृह्यमाणे तदीशे भौमे मेषस्थे सति, तथा वृषे लग्नेंऽशे वा गृह्यमाणे तदीशे शुक्रे तुलास्थे सति, तथा कुम्भे लग्नेंऽशे वा गृह्यमाणे तदीशे शनौ

मकरस्थे सति न कश्चिद्दोषः, एकस्वामिकत्वात् । उक्तञ्च—

"न वृश्चिकं हन्ति कुजोऽजवर्ती, वृषं न शुक्रोऽपि तुलाधरस्थः । तथैव कुंभं रविजो न हन्ति, मृगस्थितो वा तनुगं व्ययस्थः ॥१॥"

तथाऽनयैव युक्त्या मेषे तुलायां वा जन्मलग्ने सति जन्मराशौ वा सति ताभ्यामष्टमावपि वृश्चिकवृषौ लग्नत्वेन गृह्यमाणौ न दोषाय । तदुक्तं विवाहवृन्दावने—

"व्यलिवृषं जननर्क्षविलग्नयोर्भवनमष्टममभ्युदितं त्यजेत्" इति

तथा—"जन्मराशिजन्मलग्नाभ्यां द्वादशमष्टमं च लग्नेशं त्यजेदित्यपि" रत्नमालाभाष्ये ॥

इन्दुक्रूरयुतं लग्नं तथा लग्नोदितांशकात् । अधिकांशग्रहं दूष्यगृहादर्वागपि त्यजेत् ॥ ३० ॥

व्याख्या—इन्दुक्रूरेति, यल्लल्लः—

"सौम्यग्रहयुक्तमपि प्रायः शशिनं विवर्जयेल्लग्ने । क्रूरग्रह न लग्ने कुर्यान्नवपञ्चमधने वा ॥ १ ॥"

तथा—"लग्नस्थे तपने व्यालो१ रसातलमुखः कुजे२ । क्षयो मन्दे३ तमो राहौ४ केतावन्तकसंज्ञितः५ ॥ १ ॥

योगेष्वेषु कृतं कार्य मृत्युदारिद्र्यशोकदम् ।"

इति दैवज्ञवल्लभे । लग्नोदितांशकादिति लग्ने उदिताः कथिताः कन्यादयो ये नवांशास्तेऽपीन्दुक्रूरयुता हेयाः, कोऽर्थः? यस्मिन् राशाविन्दुः क्रूरग्रहो वा स्यात्तन्नामा लग्नेशस्य नवांशोऽपि त्याज्यः । यद्गदाधरः—

"यस्मिन् राशौ भवेच्चन्द्रस्तमंशं परिवर्जयेत् । तस्माद्भवेच्च वैधव्यमावर्षान्मुनयो जगुः ॥ १ ॥

यस्मिन् राशौ भवेत् क्रूरस्तमंशं परिवर्जयेत् । लग्ने मृत्युं विजानीयात् पञ्चमेऽब्दे न संशयः ॥ २ ॥"

तथा अधिकांशग्रहमितिलग्नेऽधिकृत उदयप्राप्तो योंऽशऽस्तस्मादधिकेष्वग्रेतनेष्वंशेषु यो ग्रहस्तिष्ठति स भावरीत्याऽग्रेतनगृह एव स्थित उच्यते, तन्नस्थफलस्यैव दायकत्वात् । ततोऽनयापि रीत्या तेन ग्रहेणाधिष्ठीयमानं सत्तद्गृहं यदि दूषणीयतां प्राप्नोति तदाऽर्वाकस्थितमपि ग्रहं त्यजेत् तद्ग्रहेणाप्राप्तमपि तद्गृहं दूष्यते इत्यर्थः । आह च भास्करः—

"लग्नोदितांशाभ्यधिको ग्रहो यो, भावेऽग्रिमे भावफलेन स स्यात् । ग्रहो यदा भावफलेन याति, स्थाने निषिद्धे तमपीह जह्यात् ॥१॥"

तदयं भावः—येंऽशा लग्नस्योदितास्तेषु तिष्ठन् ग्रहस्तद्भावफलप्रदः । यस्तु तानुल्लंघ्य स्थितः सोऽग्रेतनभावफलप्रदः । एवमन्यभावेष्वपि धनसहजादिषु विचार्यं । उक्तं च भास्करेणैव—

" लग्नस्य येऽंशा उदिता ग्रहो यस्तेषु स्थितः स्थानफलं स दत्ते ।
यस्तानतीतः स भवेद्द्वितीयः, स्थानेषु शेषेष्वपि चिन्त्यमेतत् ॥ १ ॥ " दैवज्ञवल्लभेऽप्युक्तम्—

" लग्नस्थः प्रोच्यते सोऽत्र ग्रहो य उदितांशगः । द्वितीयोऽनुदितांशस्थः सर्वराशिष्वयं क्रमः ॥ १ ॥ "

अत्र सर्वराशिष्विति अयं तावदाम्नायः—यावतिथोऽशो लग्नसत्कः कार्ये वर्तमानतयाऽधिकृतस्तावतिथ एवांशो द्वादशस्वपि भावेषु वर्तमानतयोच्यते । एवं च सति यत्र तत्रापि भावे यो ग्रहो वर्तमानमुल्लङ्घ्य स्थितः सोऽग्रेतनभावस्थ एव ज्ञेयः । ततश्च दूष्यगृहादर्वागपि त्यजेदित्यस्यायं भावः । अनयाऽपि रीत्याऽग्रेतनभावस्थोऽसौ ग्रहो यदि त्याज्यत्वेनोक्तः स्यात्तदा लग्नं न ग्राह्यं । यथा प्रतिष्ठायां कन्यालग्ने षष्ठे मिथुनांशे गृह्यमाणे सति कुंभराशौ यदि सप्तमाद्यंशेषु कुजः स्यात्तदा भावरीत्या मीनस्थत्वात् सप्तम एवेत्यतस्तल्लग्नमपि त्याज्यमेव । तत्स्थापना यथा—



इदं विवाहमाश्रित्य विवाहवृन्दावनादौ ॥

एवमन्यत्रापि भाव्यं । ननु यद्येवं दूष्यगृहं त्याज्यमूचे तदाऽनयैव रीत्या यद्गृहं ग्रहेण दूष्यमाणं स्यात्तस्यादरणीयतयाऽपि भविष्यति, मैवं, ईदृग्गुणानामाहार्यत्वेनानादरणीयत्वस्यैवार्हत्वात् । उक्तं च—

" नाङ्गीकारो भावजानां गुणानां, तद्दोषाणां तत्त्वतस्त्याग एव ।
भावव्यक्तावष्टमत्वं गतोऽपि, त्याज्यो लग्नात्सप्तमः सप्तसप्तिः ॥ १ ॥ " तथा—

" सप्तमस्थो यदा चन्द्रो भवेद्भावफलाष्टमः । न तदा दीयते लग्नं शुभैः सर्वग्रहैरपि ॥ १ ॥ "

तथा—" प्रत्याख्येयः पाक्षिकोऽपीह दोषः सम्यग्व्यापी यो गुणः सोऽनुगम्यः ।
यस्मादंशैर्देहभावादिकः सन्न स्याद्भूत्यै भार्गवः पञ्चमोऽपि ॥ १ ॥ "

भवेज्जन्मनि जन्मर्क्षान्मृत्युधामनि यो ग्रहः । शुभोऽपि लग्नवर्त्त्येष सर्वकार्येषु नो शुभः ॥ ३१ ॥

व्याख्या—जन्मनि जन्मकाले । जन्मर्क्षादिति ऋक्षशब्दस्योभयार्थत्वेन जन्मर्क्षाज्जन्मराशितो जन्मलग्नाद्वा शुभोऽपीति क्रूरस्य तु किं वाच्यं ? । भास्करस्त्वाह—" जन्मर्क्षजन्मलग्नाभ्यां यौ रन्ध्रेशावथाष्टमे । लग्ने तांश्च तदंशांश्च तद्राशीनपि च त्यजेत् ॥ १ ॥ "

शनिस्त्रिकोणकेन्द्रस्थो बलीयान् सुहृदीक्षितः । कुजः केन्द्रान्त्यधर्माष्टस्थितो वा भद्रभञ्जनः ॥ ३२ ॥

व्याख्या—अतिशयेन बली बलीयान् । बलीयान् सुहृदीक्षित इति कुजेऽपि योज्यं । अष्टस्थित इति यद्गर्गः—

" लग्नात्क्षौमेऽष्टमगे दम्पत्योर्वह्निना मृतिः समकम् । जन्मनि यो वाऽष्टमगस्तस्मिँल्लग्नं गते वाऽपि ॥ १ ॥ "

भद्रभञ्जन इति अस्य कुयोगस्य सान्वर्थेयं संज्ञा ॥

रविः कुजोऽर्कजो राहुः शुक्रो वा सप्तमस्थितः । हन्ति स्थापककर्तारौ स्थाप्यमप्यविलम्बितम् ॥ ३३ ॥

व्याख्या—कर्ता प्रतिष्ठाया गुर्वादिः । अयं श्लोकः प्रतिष्ठामाश्रित्य ज्ञेयः ॥

लग्ना१म्बु४स्मर७गो राहुः सर्वकार्येषु वर्जितः । त्रिषडेकादशः शस्तो मध्यमः शेषराशिषु ॥ ३४ ॥

व्याख्या—सर्वकार्येष्विति दीक्षाप्रतिष्ठादिषु । केतुस्तु जन्मसप्तमस्थः शशियुतश्च त्याज्यः, त्रिषडेकादशो ग्राह्यः, शेषस्थानेषु मध्यम इति नारचन्द्रोक्तिः । अनया च राहुर्नवमद्वादशोऽपि श्रेष्ठ इत्यागतं । अन्यथा केतोस्त्रिषष्ठत्वसंपरयसंभवात् । इत्युक्ताः सामान्येन घटिकालग्नेषु त्याज्या दोषाः ॥

अथ सर्वकार्येषु घटिकालग्नेषु साधारणी भद्रदा ग्रहसंस्था तावदेवं—शनिरवीन्दुभौमा लग्नस्थाः, चन्द्रभौमबुधगुरुशुक्रा अष्टमस्थाः, चन्द्रशुक्रलग्नेशांशेशाः षष्ठगाः, सर्वे सप्तमगाश्चाशुभाः । यत्त्रिविक्रमः—

" त्याज्या लग्नेऽब्धयो ४ मन्दात् षष्ठे शुक्रेन्दुलग्नपाः । रन्ध्रे८चन्द्रादयः पञ्च सर्वेऽस्तेऽब्जगुरू समौ ॥ १ ॥ "

अत्र मन्दादिति राहुरपि मन्दवज्ज्ञेयः । समाविति सर्वेऽप्यस्तेऽशुभाः, केषाञ्चिन्मते तु चन्द्रगुरू सप्तमे उदासीनावित्यर्थः सर्वकार्येषु शुभग्रहसंस्था त्वेवं—

“ लग्नादुपचयस्थे ३-५-१०-११ऽर्केऽन्त्या १२स्त७कर्मा १०य ११गे विधौ । क्षोणीपुत्रेऽर्कपुत्रे च दुश्चिक्य३रिपु६लाभ ११गे ॥ १ ॥
त्यक्तरिष्फा१२ष्टमे८सौम्ये जीवेऽष्टा८रि६व्ययो१२ज्झिते । सर्वकार्याणि सिध्यन्ति त्यक्तषट्सप्तमे सिते ॥ २ ॥ ” इति दैवज्ञवल्लभे ।

एतत्प्रकारद्वयोत्तीर्णा तु मध्यमा ग्रहसंख्या । त्रिविधानामप्यासां स्थापना—

	उत्तम	मध्यम	अधम
रवि	३-६-१०-११	२-४-५-८-९-१२	१-७
चन्द्र	१२-७-१०-११	३-२-४-५-९	३-८-१
मंगल	३-६-११	२-४-५-९-१०-१२	१-७-८
बुध	१-२-३-४-५-६-७-९-१०-११	१२	८
गुरु	१-२-३-४-५-७-९-१०-११	६-१२	७
शुक्र	१-२-३-४-५-८-९-१०-११-१२	०	६-७
शनि	३-६-११	२-४-५-८-९-१०-१२	१-७
राहु	३-६-११	२-५-८-९-१०-१२	१-४-७
केतु	३-६-११	२-५-८-९-१०-१२	१-४-७

एवं सत्यपि दीक्षालग्नेऽसाधारणीं शुभग्रहसंख्यामाह—

दीक्षायां नरणिर्धन२त्रि३तनया७रि६स्थः शशी द्वि२त्रि३षड्६,
व्योम१०स्थः क्षितिभूस्त्रिषड्दशमगो ज्ञेज्यौ व्यया१२ष्टो८ज्झितौ १-२-३-४-५-६-७-१०-११
शुक्रोऽन्त्या१२रि६सुत५त्रि३धर्म९धन२गो मन्दो धन२भ्रातृ३षट्६,
पुत्र५च्छिद्र८गतश्च शोभनतमः सर्वे च लाभस्थिताः ॥ ३५ ॥

व्याख्या—एते यथोक्तस्थानस्था दीक्षालग्ने श्रेष्ठत्वाद्रेखाप्रदाः हर्षप्रकाशादिषु तु ग्रहाणामुत्तमादिभंग्येवमूचे—

"दु पण छ रवि ति दु छ ससी, कुज ति छ दह, बुह ति दु छ पण दसमो । किंद तिकोणे य गुरू, सुक्को तिअ छ नव बारसमो ॥ १ ॥
मंदो दु पण छ अट्ठमो, सुक्क विणा सव्विगारसहा सुहया । चंदाउ कूर सत्तम अइअसुहा दिक्खसमयम्मि ॥ २ ॥
रवि ति ३, ससि सत्त दसमो, बुहेग चउ सत्त नव गुरू ति छ दो । सुक्को दु पंच सणि तिअ मज्झिम सेसा असुह सव्वे ॥ ३ ॥"

स्थापना—

	उत्तम	मध्यम	अधम
रवि	३–५–६–११	३	१–४–७–८–९–१०–१२
चन्द्र	२–३–६ ११	७–१०	१–४–५–८–९–१२
मंगल	३–६–१०–११	०	१–२–४–५–७–८–९–१२
बुध	३–२–६–५–१०–११	१–४–७–९	८–१२
गुरु	१–४–७–१०–९–५–११	३–६–२	८–१२
शुक्र	३–६–९–१२	२–५	१–७ ४–८–१०–११
शनि	२–५–६–८–११	३	१–४–७–९–१०–१२
राहु-केतु	३–६–११	२-५-८-९-१०-१२	१–४–७

इदमिह तत्त्वं—

"अहवा वि मज्झिमबलं काऊण सणिं गुरु च बलवंतं ।
अबलं सुक्कं लग्गे तो दिक्खं दिज्ज सीसस्स ॥ १ ॥"

इति श्रीहरिभद्रसूरिवचः । एते च क्रमान्मध्यमोत्कृष्टहीनबला एवमेव स्युः, तथाहि—शनिर्द्विपञ्चाष्टैकादशः पणफरस्थत्वान्मध्यमबलः । षष्ठस्तु आपोक्लिमस्थत्वेऽपि दिग्बलाढ्यत्वान्मध्यमबलः । गुरुस्तु केन्द्रत्रिकोणेषु बलिष्ठ इति स्फुटमेव । एकादश तु गुरोर्हर्षस्थानं वक्ष्यते तेन तत्रापि बलिष्ठः । शुक्रस्तु त्रिषड्नवद्वादशेष्वापोक्लिमस्थत्वाद्धीनबलः । उक्तञ्च त्रैलोक्यप्रकाशे—"रूपा २० र्धे १० पाद ५ वीर्याः स्युः केन्द्रादिस्था नभश्चराः" ।

तेनैते उत्तमभङ्गे न्यस्ताः । शेषग्रहास्तु यत्रस्थाः सर्वसम्मतत्वेन रेखाप्रदास्तेऽप्युत्तमभङ्गे । येषां तु रेखाप्रदत्वे ग्रन्थान्तरविसंवादस्ते मध्यमभङ्गे । चन्द्रस्तु सप्तमः प्रस्तुतगाथानुसरणार्थमेव मध्यमभङ्गेऽलेखि । एतद्भङ्गद्वयोत्तीर्णास्त्वधमभङ्गे । शुक्रस्त्वेकादशः सूत्रे रेखाप्रदत्वेनोक्तोऽपि तारचन्द्रलग्नशुद्ध्यादिषु निषिद्धत्वादधमभङ्गेऽलेखि ॥ विवाहलग्नरेखाप्रदां ग्रहसंस्थामाह—

विवाहे त्वर्कार्की त्रि३रिपु६निधना८ ११येषु शुभदौ, विधुः स्व२त्र्या ३येषु११ क्षितितनय आय ११त्रि३ रिपु६गः ।
बुधेज्यौ सप्ता ७ ष्ट ८ व्यय १२ विरहितावास्फुजिदरि६—
स्मरा ७ ष्टा ८ न्त्या १२ न्मुक्त्वा वितनु १ सुख ४ कामे ७ ष्वथ तमः ॥ ३६ ॥

व्याख्या—स्वत्र्यायेष्वपि, यल्लल्लः—

"यत्रेन्दुर्नायगतो न तृतीयो न द्वितीयगश्चापि । अनुकूलैरपि शेषैस्तल्लग्नं वर्जयेन्मतिमान् ॥ १ ॥" सप्ताष्टेति यच्छौनकः—

" सप्तमगते बुधे सति सप्ताब्दान्मारयेत् पतिं कन्या । मासत्रयेण कन्या निधनगते पञ्चतां याति ॥ १ ॥
आयुःसौभाग्ययोभङ्गः पुंसां द्यूनगते गुरौ । भृगौ तु योषितामाह विवाहे देवलो मुनिः ॥ २ ॥ "

आस्फुजित् शुक्रः । अरिस्मराष्टेति, यदुक्तं दैवज्ञवल्लभे—" लग्नस्थेऽपि गुरौ दुष्टे, भृगुः षष्ठोऽष्टमः कुजः । " इति ।

वितन्विति यच्छौनकः—" लग्नस्थो वरमरणं राहुर्दिशति द्युने कनीमरणम् । " इति । " त्यज्या लग्नेऽब्धयो मन्दात् "

इति श्लोकोक्तभङ्गदस्थानानि तुर्यं च विना शेषेषु पञ्चमसप्तमेषु नवमदशमानामन्यतमे सौम्यक्षेत्रे शुभदृष्टश्च शशी रेखाप्रद एवेति त्रिविक्रमः ॥

अथ षष्ठाष्टमद्वादशस्थानानामशुभत्वात्तत्र ग्रहस्थितिनिर्धारसङ्ग्रहमाह—

विवाहे नाष्टमाः श्रेष्ठाः पञ्च सूर्यशनी विना । षष्ठौ चेन्दुसितौ तद्वदन्त्येऽन्त्य इति केचन ॥ ३७ ॥

व्याख्या—शुक्रशनी त्वष्टमावपि श्रेष्ठौ, न शेषाः । षष्ठौ चेन्दुसितौ तद्वदिति चन्द्रशुक्रौ षष्ठौ न श्रेष्ठौ, शेषाः पञ्च श्रेष्ठा एव । केचित्त्वाहुः—
अन्त्ये द्वादशेऽन्त्यः केतुर्न श्रेष्ठः । एषा क्लिष्टोत्तमभङ्गे ग्रहसंस्था । विशेषस्तु—

" भौमे लग्नकलत्रनैधनगते शुक्रेऽरिसप्ताष्टगे, चन्द्रे रन्ध्रविलग्नषष्ठनिरते लग्नास्तगे भास्वति ।
तद्वज्ज्ञानुसुते गुरौ निधनगे सौम्येऽष्टजामित्रगे, जायाम्भोनिधिलग्नभाजि तमसि प्राहुर्न पाणिग्रहम् ॥ १ ॥

एतेऽधमा यतिवल्लभोक्ताः । भङ्गद्वगोत्तीर्णास्तु मध्यमभङ्गे । स्थापना त्वियम्—विवाहलग्नग्रहसंस्थेयम्—

	उत्तम	मध्यम्	अधम
रवि	३—६—८—११	२—४—५—९—१०—१२	१—७
चन्द्र	२—३—११	४—५—७—९—१०—१२	१—६—८
मंगल	३—६—११	२—४—५—९—१०—१२	१—७—८
बुध	१—२—३—४—५—६—९—१०—११	१२	७—८
गुरु	१—२—३—४—५—६—९—१०—११	७—१२	८
शुक्र	१—२—३—४ ५—९—१०—११	१२	६—७—८
शनि	३—६—८—११	२—४—५—९—१०—१२	१—७
रा० के०	२—३—५—६—८—९—१०—११	१२	१—४—७

अथ चतुर्भिः श्लोकैर्विवाहलग्ने विशेषानाह—

चन्द्रे च लग्ने च चरेऽङ्गनाग्रहैर्दृष्टे च
केन्द्रे बलिभिः श्रिते खरैः १ ।
युग्मर्क्षगे वाऽथ विधौ विलोकिते
पापग्रहैः २ स्याद्युवतेः पतिद्वयम् ॥ ३८ ॥

व्याख्या—चन्द्रे चरराशिस्थे सति, लग्ने च चरे सति, तयोश्च चन्द्रलग्नयोः स्त्रीग्रहाणां दृष्टौ सत्यां । तथा केन्द्रे इति, एकस्मिन्नपि केन्द्रे किं पुनर्द्वित्रिषु बलवद्भिः क्रूरग्रहैर्यायिसंज्ञैः, सूर्येन्दुकुजशुक्ररूपैरधिष्ठिते च सति इत्येको योगः १ । मिथुनस्थे चन्द्रे पापग्रहैः पूर्णदृशा दृष्टे चेति द्वितीयः २ । उक्तञ्च दैवज्ञवल्लभे—

"चरराशौ विलग्नेन्द्वोरङ्गनाग्रहदृष्टयोः । बलिभिर्यायिभिः केन्द्रे भजेन्नारी पतिद्वयम् ॥ १ ॥"

"चन्द्रे युग्मस्थिते पापैर्दृष्टेऽन्यो योषितः पतिः ।" इति तथा—

रविचन्द्रकुजैर्नीचे १ लग्नेशे शत्रुराशिगे २ । निर्वीर्ये चापि जामित्रे ३ युवत्या निरपत्यता ॥ ३९ ॥

व्याख्या—जामित्रं सप्तमं, स्वामिसौम्यग्रहयुतिदृष्ट्यभावकृतस्तद्भावादिना निर्वीर्यत्वं । अत्र त्रिभिः पादैस्त्रयो योगाः ॥ तथा—

जामित्रेशः पतिः स्त्रीणां श्वशुरौ भृगुभास्करौ । तैरुच्चादिस्थितैस्तेषां श्रेयः स्यादन्यदन्यथा ॥ ४० ॥

व्याख्या—श्वशुराविति भृगुः श्वश्रूः, रविः श्वशुरः, एकशेषे श्वशुरौ । तैरिति जामित्रेशाद्यैः । उच्चादीति स्वोच्चे दीप्तः १ । स्वर्क्षे स्वस्थः २ । सुहृद्गृहे मुदितः ३ । स्ववर्गगः शान्तः ४ । स्फुटकिरणभृत् शक्तः ५ । स्वं नीचमतिक्रान्तः स्वोच्चाभिमुखः प्रवृद्धवीर्यः ६ । स्वांशस्थः सौम्यैर्दृष्टोऽधिवीर्यः ७ । सूर्यहतो विकलः ८ । शत्रुगृहे खलः ९ । ग्रहविजितः पीडितः १० । नीचर्क्षे दीनः ११ । इति लल्लोक्तास्वेकादशसु ग्रहावस्थासु शुभावस्थैः तेषां पत्यादीनां । अन्यदन्यथेति, आस्वेवावस्थास्वशुभावस्थैर्जामित्रशशुक्रार्कैः क्रमात्तेषां पत्यादीनामश्रेयः ॥ तथा—

लग्नोदिनांशः स्वेशेन युतो दृष्टोऽथवा नृणाम् । तद्वज्जामित्रगः स्त्रीणामिष्टोऽनिष्टो विपर्यये ॥ ४१ ॥

व्याख्या—लग्नेऽधिकृत उदयी यो नवांशः स लग्नोदितांशः तन्नामा राशिर्यत्र तत्र स्थितोऽपि चेत्स्वस्वामिना युतो दृष्टो वा स्यात्तदा लग्नोदितांशः स्वेशयुतदृष्ट उच्यते । स नृणामिति वरस्य इष्ट इति लग्नस्थो यस्मत्कल्योऽंश उदयी तत्संख्यः सप्तमगृहस्यांशो यदि पूर्ववत् स्वेशयुतदृष्टस्तदा स्त्रीणामिति कन्यायाः शुभदः । विपर्यय इति उदयी लग्नांशश्चेत् स्वेशयुतदृष्टो न स्यात्तदा पत्युर्मृत्युः । द्यूनस्य तत्संख्य एवांशश्चेत् स्वेशयुतदृष्टो न स्यात्तदा वध्वा मृत्युः । तदयं भावः—एकः किलोदयास्तशुद्धिप्रकारोऽयं । यदुक्तं यतिवल्लभे —

"लग्नोदिते तत्प्रभुणा नवांशे, दृष्टे युते वोदयशुद्धिरुक्ता । तत्सप्तमांशे तु कलत्रभाजि, स्वस्वामिनैवं कथिताऽस्तशुद्धिः ॥ १ ॥"

अत्र तत्सप्तमांशे त्विति कोऽर्थः? लग्ने यावतिथोऽंश उदितः सप्तमभावस्य कलत्राख्यस्य तावतिथोऽंशो लग्नोदितांशाद्गणनया सप्तम एव स्यात्, इत्येकोऽयमुदयास्तशुद्ध्योः प्रकारः । अन्यश्चाग्रे वक्ष्यते । उभावपि चोदयास्तशुद्धिप्रकारौ विवाहलग्नेऽवश्यं ग्राह्यौ । भास्करस्तु पञ्चमगृहे तावतिथं पुत्रनवांशकमपि स्वेशयुतदृष्टमिच्छति । आह च—

“ नाथायुक्तेक्षिता लग्नभार्यापुत्रनवांशकाः । क्रमात् पुंस्त्रीसुतान् घ्नन्ति न घ्नन्ति युतवीक्षिताः ॥ १ ॥ ”

अथ नवभिः श्लोकैः सर्वकार्यसाधारणान् ग्रहसंस्थात्मकान् शुभाशुभयोगानाह—

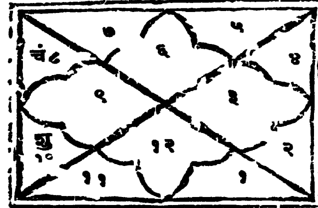
लाभेऽर्कारौ शुभा धर्मे श्रीवत्सो यद्यरौ६ शनिः१ । अर्धेन्दुर्विक्रमे मन्दो रविर्लाभे रिपौ कुजः २ ॥ ४२ ॥

व्याख्या—यद्यराविति ये ये ग्रहाः स्थानेषु नियमितास्ते ते तथा विलोक्यन्ते, शेषास्तु यथेच्छं । एवं सर्वयोगेषु यथासम्भवं ज्ञेयम् ॥

शङ्खः शुभग्रहैर्बन्धुधर्मकर्मस्थितै र्भवेत् ३ । ध्वजः सौम्यैर्विलग्नस्थैः क्रूरैश्च निधनाश्रितैः४ ॥ ४३ ॥

गुरुर्धर्मे व्यये शुक्रो लग्ने ज्ञश्चेत्तदा गजः५ । कन्यालग्नेऽलिगे चन्द्रे हर्षः शुक्रेऽज्ययोर्मृगे६ ॥ ४४ ॥

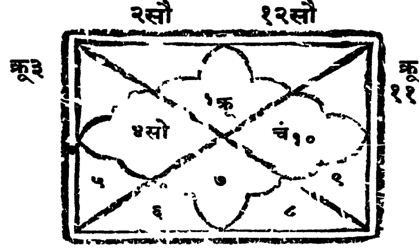
व्याख्या—कन्येति हर्षयोगे कन्यालग्नं नियमयन् ज्ञापयति, अपरयोगेषु लग्ननियमः कोऽपि नास्तीति । हर्षयोगस्थापना—



धनुरष्टमगैः सौम्यैः पापैर्व्ययगतैर्भवेत् ७ ।
कुठारो भार्गवे षष्ठे धर्मस्थेऽर्के शनौ व्यये ८ ॥ ४५ ॥

मुशलो (लं) बन्धुगे भौमे शनावन्त्येऽष्टमे विधौ९ ।
चक्रं च प्राचि चक्रार्धे चन्द्रात् पापशुभैः क्रमात्१० ॥४६॥

व्याख्या—प्राचि चक्रार्धे इति, लग्नस्य यावन्तोऽंशा उदिताः दशमस्य तावद्भ्योऽंशेभ्योऽग्रे प्रदक्षिणं गमने तुर्यस्य तावदंशान् यावच्चक्रस्य प्राच्यमर्धं तत्र धुरि चन्द्रस्तस्मादेकान्तरं गृहेषु पापः शुभश्चेति ग्रहसंस्थायां चक्रयोगः । स्थापना—



कूर्मः पुत्रा५र्थ२रन्ध्रा८न्त्ये१ष्वारमन्देन्दुभास्करैः११ ।
यापी पापैस्तु केन्द्रस्थै१र्योगाः स्युर्द्वादशेत्यमी ॥ ४७ ॥

व्याख्या—कूर्मयोगे स्थानानां ग्रहाणां च यथासङ्ख्यं ज्ञेयं ।

रत्नमालायां तु गजादिचतुष्कलक्षणमेवमूचे—

"तनुनवभवगैः क्रमेण योगो, बुधविबुधार्चितपङ्गुभिर्गजः स्यात् ।"

"अत्र भवेत्येकादश रुद्रा इत्येकादशं गृहं लक्ष्यते । व्ययरिपुहिबुकेषु वक्रशुक्रद्युमणिसुतैः क्रमशः कुठार पषः ॥ १ ॥
रविकविरविजेन्दुभिः क्रमेण, व्ययधनषड्निधनेषु कूर्म पषः । व्ययनिधनतनूषु मन्दचन्द्रारुणकिरणैर्मुशलं जगुर्मुनीन्द्राः ॥ २ ॥"

एभ्यः श्रीवत्सपूर्वाः षट् पूर्वे सर्वेषु कर्मसु । श्रेयस्तमा धनुर्मुख्यास्त्वन्यथा स्युः षडुत्तरे ॥ ४८ ॥

व्याख्या—श्रीवत्सपूर्वा इति श्रीवत्साद्याः षट् पूर्वे प्रथमाः । अन्यथेति अत्यन्तमशुभाः । विशेषस्तु—

"उदयट्ठमगे मम्मं १ नवपंचमि कूरकंटयं भणियं २ । दसमचउत्थे सल्लं ३ कूरा उदयत्थितं छिद्दं ४ ॥ १ ॥
मम्मदोसेण मरणं कंटयदोसेण कुलक्खओ होइ । सल्लेण रायसत्तू छिद्दे पुत्तं विणासेइ ॥ २ ॥ इति पूर्णभद्रः ॥

आनन्द१श्रीव२नन्दन३जीमूत४जय५स्थिरा६मृता७योगाः । ज्ञगुरुसितैः प्रत्येकं द्विकत्रिकैश्चापि लग्नगतैः ॥ ४९ ॥

व्याख्या—लग्ने स्थितैः प्रत्येकं ज्ञाद्यैः क्रमेणानन्दादि त्रयं ३, ज्ञगुरुभ्यां जीमूतः ४, ज्ञशुक्राभ्यां जयः ५, गुरुशुक्राभ्यां स्थिरः ६, त्रिभिरपि लग्नस्थैरमृतः ७ । द्विकत्रिकैश्चेति द्विका द्वयरूपाः, त्रिकास्त्रयरूपाः ॥

योगा यथार्थनामानः सर्वेषूत्तमकर्मसु । ऐश्वर्यराज्यसाम्राज्यविधातारः क्रमादमी ॥ ५० ॥

व्याख्या—साम्राज्येति "सम्राट् तु शास्ति यो नृपान्" । अमी इति, क्रमात्त्रिद्व्येकमिता एककद्विकत्रिकयोगाः एवमेते सर्वयोगास्त्रयोविंशतिः ॥

प्रतिष्ठालग्ने रेखाप्रदग्रहसंस्थामाह—

प्रतिष्ठायां श्रेष्ठो रविरुपचये ३–६–१०–११ शीतकिरणः,
स्वधर्माद्ये तत्र २–३–६–९–१०–११ क्षितिजरविजौ त्र्यायरिपुगौ ३–११–६ ।
बुधस्वर्ग्याचार्यौ व्ययनिधनवर्जौ १–२–३–४–५–६–७–९–१०–११ भृगुसुतः,
सुतं यावल्लग्नान्नवमदशमायेष्वपि तथा १–२–३–४–५–९–१०–११ ॥ ५१ ॥

व्याख्या—भङ्गदास्त्वेवं त्रिविक्रमेणोक्ताः—

" लग्नमृत्युसुतास्तेषु पापा रन्ध्रे शुभाः स्थिताः । त्याज्या देवप्रतिष्ठायां लग्नषष्ठाष्टगः शशी ॥ १ ॥ "

अत्र पापा इति रव्यारशनिराहवो नान्ये, तत एकस्मिन्नपि भङ्गदस्थानस्थे ग्रहे सति रेखाधिकेऽपि लग्ने प्रतिष्ठा न कार्या, भङ्गदत्वं विना केषुचिदिष्टेषु केषुचिदनिष्टेषु च सत्स्वपि रेखाधिके लग्ने प्रतिष्ठा कार्या । यत्तु कैश्चित् षष्ठशशी प्रतिष्ठायां रेखाप्रद इत्युक्तं तद्योगवशादेव नापरथेत्यू-ह्यमिति त्रिविक्रमशतकटीकायां । नारचन्द्रे तूत्तम १ मध्यम २ विमध्यमा ३ धम ४ चतुर्भङ्गी ग्रहाणामूचे । तथाहि—

"त्रिरिपा१ वासुतखे२ स्वत्रिकोणकेन्द्रे३ विरैस्मरेऽत्रा४ न्यर्थे५ । लाभे६ क्रूर१ बुधार्२चित३ भृगु४ शशि५ सर्वे६ क्रमेण शुभाः ॥१॥"

आसुतेति आद्यात् पञ्चमं यावद्यानि स्थानानि तेषु । विरैस्मरेऽत्रेति, स्वत्रिकोणकेन्द्रैर्यानि सप्त स्थानानि तन्मध्यात् रैस्मरेति द्वितीयसप्तमे त्याज्ये, शेषपञ्चस्थानेष्वित्यर्थः । अग्निस्तृतीयं, अर्थो द्वितीयं । अर्चितो गुरुः । अपि च—

" खेऽर्कः केन्द्रारिधर्मेषु शशी ज्ञोऽरिनवास्तगः । षष्ठेज्यः स्वत्रिगः शुक्रो मध्यमाः स्थापनक्षणे ॥ २ ॥
आरेन्द्वर्काः सुतेऽस्तारिरिःफे शुक्रस्त्रिगो गुरुः । विमध्यमाः शनिर्धीखे सर्वे शेषेषु निन्दिताः ॥ ३ ॥ "

प्रतिष्ठायां ग्रहसंस्थेयं–स्थापना यथा—

	उत्तम	मध्यम	विमध्यम	अधम
रवि	३–६–११	१०	५	१–२–४–७–८–९–१२
चन्द्र	२–३–११	१–४–६–७–९–१०	५	८–१२
मंगल	३–६–११	०	५	१–२–४–७–८–९–१०–१२
बुध	१–२–३–४–५–१०–११	६–७–९	०	८–१२
गुरु	१–२–४–५–९–७–१०–११	६	३	८–१२
शुक्र	१–४–५–९–१०–११	२–३	६–७–१२	८
शनि	३–६–११	०	५–१०	१–२–४–७–८–९–१२
रा. के.	३–६–११	२–४–५–८–९–१०–१२	०	१–७

पूर्णभद्रस्तु ग्रहसंस्थाफलान्येवमाह—

"प्रासादभङ्ग१हानी२धनं३स्वजन४ पुत्रपीड५रिपुघाताः६। स्त्रीमृति७मृति८धर्मगमाः९सुख१०र्द्धि११शोका१२ स्तनोः प्रभृति सूर्यात् ॥ १ ॥
कर्तृविनाश१ धनागम२ सौभाग्य३ द्वन्द्व४ दैन्य५ रिपुविजयाः६ । शशिनोऽसुख७ मृति८ विघ्न९ नृपपूजा१० विषय११ वसुहानी१२ ॥ २ ॥
दहनं१ सुरगृहभङ्गो२ भूलाभो३ रोग४ पुत्रशस्त्रमृती५ । रिपु६ नारी७ स्वजन८ गुणभ्रंशा९ रोगा१० र्थ११ हानयो१२ भौमात् ॥ ३ ॥
चिरमहिम१ धन२ रिपुक्षय३ सुख४ सुत५ परिपन्थिमरण६ वरकन्याः७ । शशिजेन सूरिमृत्यु८ र्वसु९ कर्मा१० भरण११ रैनाशाः१२ ॥ ४ ॥
कीर्ति१ र्वृद्धिः२ सौख्यं३ रिपुनाशः४ सुतसुखं५ स्वजनशोकः६ । स्त्रीसुख७ गुरुमृति८ धन९लाभ१० र्द्धयो११ हानि१२रमरगुरोः ॥ ५ ॥
सिद्धि१धन२मान३तेजः४स्त्रीसुख५दुष्कीर्तयः६सुतासियुता । चैत्यादि सर्वहानि७श्चासुख८मितरेषु९-१०–११–१२ पूज्यता शुक्रात् ॥ ६ ॥

पूजा १ कर्तृविघात २ भूरिविभव ३ प्रासादबन्धुक्षयाः ४, पुत्राक्षेम५ विपक्षरोगविलय ६ ज्ञातिप्रियाघ्यापदः ७ ।
गोत्रप्राणविपत्ति ८ पातकपरिष्वङ्गौ च ९ कार्यक्षतिः १०, कान्ताकाञ्चनरत्नजीवितधनं ११ मन्देन मान्द्योदयः १२ ॥ ७ ॥ ”

“ सकलकुण्डलिकासु विधुन्तुदः, शनिसमानफलो हि विचार्यताम् । ”

लल्लस्त्वाह—“ बलवति सूर्यस्य सुते बलहीनेऽङ्गारके बुधे चैव । मेषवृषस्थे सूर्ये क्षपाकरेऽर्चार्हती स्थाप्या ॥ १ ॥ ”

“ मेषमृगस्थे सूर्ये.............” इति केचित् पठन्ति ।

“ बलहीने त्रिदशगुरौ बलवति भौमे त्रिकोणसंस्थे वा । असुरगुरौ चायस्थे महेश्वरार्चा प्रतिष्ठाप्या ॥ २ ॥
बलहीने त्वसुरगुरौ बलवति चन्द्रात्मजे विलग्ने वा । त्रिदशगुरावायस्थे स्थाप्या ब्राह्मी तथा प्रतिमा ॥ ३ ॥
शुक्रोदये नवम्यां बलवति चन्द्रे कुजे गगनसंस्थे । त्रिदशगुरौ बलयुक्ते देवीनां स्थापयेदर्चाम् ॥ ४ ॥
बुधलग्ने जीवे वा चतुष्टयस्थे भृगौ हिबुकसंस्थे । वासवकुमारयक्षेन्दुभास्कराणां प्रतिष्ठा स्यात् ॥ ५ ॥
यस्य ग्रहस्य यो वर्गस्तेन युक्ते निशाकरे । प्रतिष्ठा तस्य कर्तव्या स्वस्ववर्गोदयेऽपि वा ॥ ६ ॥
अस्मात्कालाद् भ्रष्टास्ते कारकसूत्रधारकर्तृणाम् । क्षयमरणबन्धनामयविवादशोकादिकर्तारः ॥ ७ ॥ ”

विशेषस्तु सर्वग्रहै रेखाप्रदैः सर्वकार्येषु विंशतिविंशोपकं लग्नं स्यात् । तथाहि—

“ अध्धुट्ठ विसा रविणो पण ससिणो तिन्नि हुंति तह गुरुणो । दो दो बुहसुक्काणं सड्ढा सणिभोमराहूणं ॥ १ ॥ ”

एवं मीलने विंशतिर्विंशोपाः ॥ प्रतिष्ठालग्ने विशेषानाह—

बलहीनाः प्रतिष्ठायां रवीन्दुगुरुभार्ग्गवाः । गृहेश१गृहिणी२सौख्य३स्वानि४हन्युर्यथाक्रमम् ॥ ५२ ॥

व्याख्या-बलहीना इति, अष्टादशधा नवधा वाऽबलता प्रागुक्ता, यद्वा नीचः क्रूरयुतोऽस्तमितो वा ग्रहो विबल एव ॥ तथा—

तनु१बन्धु४सुत५ द्यून७धर्मेषु९ तिमिरान्तकः । सकर्मसु१० कुजार्कौ च संहरन्ति सुरालयम् ॥ ५३ ॥

व्याख्या—तिमिरान्तकोऽर्कः । सकर्मस्विति कुजार्कौ तन्वादिदशमस्थावपि । सुगलयं प्रासादम् ॥ अथ सर्वकार्ये शुभग्रहाणां शक्तिफलमाह—

सौम्यवाक्पतिशुक्राणां य एकोऽपि बलोत्कटः । क्रूरैरयुक्तः केन्द्रस्थः सद्यो रिष्टं पिनष्टि सः ॥ ५४ ॥

व्याख्या—बलोत्कट इति, ग्रहे किल बलं विंशतिधा, तथाहि—

"स्व१ मित्र२ क्षों३ च्च४ मार्गस्थ५ स्व६ मित्रवर्गगो७ दितः८ । जयी९ चोत्तरचारी च१० सुहृत्११ सौम्यावलोकितः१२ ॥ १ ॥
त्रिकोण१३ यगतो लग्नात्१४ हर्षी१७ वर्गोत्तमांशगः१८ । मुथुशिलं१९ मूशरिफं२० यदि सौम्यैर्ग्रहैः सह ॥ २ ॥
सर्वयोगे भवेदेवं बलानां विंशतिर्ग्रहे । यावद्बलयुताः खेटास्तावद्विशोपकाः फलम् ॥ ३ ॥"

हर्षीति कोऽर्थः? ग्रहाणां तावच्चतुर्धा हर्षस्थानं, तथाहि—

"गो९ऽन्त्य३ङ्गे६का१य११धी५रिष्प१२स्थानानि भास्करादिषु । हर्षस्थानमिदं पूर्वं १ सर्वेषु स्वोच्चमं परम् ॥ १ ॥
निशि सायं १ दिने २ योषित् १ पुंग्रहैश्च २ परं क्रमात् ३ । तुर्यं व्योम्नस्तनुं यावत्तुर्य्याद्यावच्च सप्तमम् ॥ २ ॥
पुंग्रहेषु तनोर्यावत्तुर्यं सप्तमतो नभः । स्त्रीग्रहेषु मुदः स्थानं ४ फलं तदनुमानतः ॥ ३ ॥"

एषूक्तं प्रागुक्तत्वान्न गणितमिति त्रिधा हर्षित्वं । पूर्वोक्तैकादशावस्थासु शुभावस्थः षड्विधादिबलयुक्तो वा बली । एवमन्यत्रापि सबलता भाव्या । सद्यो रिष्टमिति तात्कालिकं रिष्टयोगं । कोऽर्थः? तत्काले यानि लग्नतिथिवारादीनि दृयुस्तेषां योगेनोत्पन्नो रिष्टयोगो मधुसर्पिषोः समसमायोगेन विषयोगवत् तं । स चैवं—

"उदयाद्गतलग्नमिति(तिं)सङ्क्रान्तेर्भुक्तदिवसमितियुक्ताम् । सैकां च विधाय बुधः पृथक् पृथक पञ्चधा न्यसेत् ॥ १ ॥
क्षिप्त्वा तत्र क्रमशः तिथि१५रवि१२दश१०वसु८मुनीन्७ भजेन्नवभिः । शेषाङ्कः शरसङ्ख्यो यदि भवति तदा वदेन्निपुणः ॥ २ ॥
कलह१कृशानुभीति२र्भूपभयं३चौरविद्रवो४मृत्युः५ । क्रमशो भवेत् प्रतिष्ठा परिणयनादौ तदा रिष्टम् ॥३॥ इति ज्योतिषसारादौ । यद्वा—
"तिथिवारभलग्नाङ्कान् सम्मील्य न्यस्य पञ्चशः । रसा६रामा३मही१नागा८वेदा४स्तेषु क्रमाद् ध्रुवाः ॥ १ ॥

क्षेप्यास्ततो ग्रहै ९ र्भागे पञ्चशेषे फलं क्रमात् । रुजा१ग्नि२क्षितिभृ३च्चौरभयं४मृत्युभयं ५तथा ॥ २ ॥
राशिपञ्चकशेषाणां योगे तु नवभिर्हृते । पञ्चशेषे भवेन्नागभीतिर्लग्ने निशागते ॥ ३ ॥

॥ इति बुधपञ्चकदोषः ॥

पिनष्टीति जातकवृत्तावप्येवमुक्तं यदुत बुधगुरुशुक्राणां बलोत्कट्येन योगकर्तृग्रहोपरि तेषां पुष्टदृष्ट्या च सर्वेषां रिष्टयोगानां निर्बलत्वमितीहापि तथैवोचे ॥ एषामेव तुङ्गत्वे शक्तिफलमाह—

बलिष्ठः स्वोच्चगो दोषानशीतिं शीतरश्मिजः । वाक्पतिस्तु शतं हन्ति सहस्रं चासुरार्चितः ॥ ५५ ॥

व्याख्या—अतिशयेन बलवान् बलिष्ठः रविबिम्बायुतत्वादिना, इदं–स्वोच्चग इति च, गुरुशुक्रयोरपि योज्यं । दोषानिति पादगतवेधक्रान्ति-साम्याद्यसाध्यदोषविवर्जानिति स्वयमूह्यं । अशीतिशतसहस्रशब्दा बहुबहुतरबहुतमत्वमात्रलक्षकाः, न तु यथोक्तसङ्ख्यानिष्ठाः । ऐष्वीदृशेषु सत्सु प्रतिष्ठादि श्रेष्ठमित्याशयः । एवमग्रेऽपि ॥ एषामेव केन्द्रस्थत्वे शक्तिमाह—

बुधो विनार्केण चतुष्टयेषु, स्थितः शतं हन्ति विलग्नदोषान् ।
शुक्रः सहस्रं विमनोभवेषु, सर्वत्र गीर्वाणगुरुस्तु लक्षम् ॥ ५६ ॥

व्याख्या—विनार्केणेति त्रिष्वपि योज्यम् । विमनोभवेष्विति सप्तमवर्जकेन्द्रेषु । सर्वत्रेति चतुर्ष्वपि केन्द्रेषु । रत्नमालाभाष्ये तु विमनोभवेष्विति त्रिष्वपि योजितम् । तच्च विवाहदीक्षे अधिकृत्यात्रापि सम्यग्योज्यं, " विवाहदीक्षयोर्लग्ने द्यूनेन्दुग्रहवर्जितौ " इत्युक्तेः । लक्षमिति, उक्तञ्च—

" तिथिवासरनक्षत्रयोगलग्नक्षणादिजान् । सबलान् हरतो दोषान् गुरुशुक्रौ विलग्नगौ ॥ १ ॥
त्रिकोणकेन्द्रगा वाऽपि भङ्गं दोषस्य कुर्वते । वक्रनीचारिगा वाऽपि ज्ञजीवभृगवः शुभाः ॥ २ ॥ शुभाः इत्यस्यायं भावः—
" वक्रारिनीचराशिस्थः शुभकृत्प्रोच्यते गुरुः । स्वोच्चांशस्थः स्ववर्गस्थो भृगुणा ज्ञेन वा युतः ॥ १ ॥ इति व्यवहारप्रकाशे ।

विशेषस्तु—दोषाः किल द्विधा–एकाकिनोऽप्येके लग्नमुपघ्नन्ति, केचित्तु द्वित्रा मिलित्वैव घ्नन्ति, न त्वेकाकिनः । ते चैवं—

दीक्षायां पूर्णिमा तिथिः १ । प्रतिष्ठायां मंगलवारः २ । प्रतिष्ठादौ गुरोश्चन्द्रबलं न ३ । शिष्यस्थापकयोस्तु जीवेन्द्वर्कबलानि समुदितानि विलोक्यन्ते तानि न सन्ति ४ । विवाहे वरस्य चन्द्रबलं न ५ । कन्यायास्तु जीवेन्द्वर्कबलानि समुदितानि विलोक्यन्ते तानि न स्युः ६ । शिष्यस्थापकवरकन्यानां जन्मराशिलग्नानि १०, जन्मलग्नलग्नानि १४, ताभ्यामेवाष्टमानि २२, द्वादशानि च लग्नानि ३० । तेषामेव शिष्यादीनां जन्मराशितो ३४ जन्मलग्नाद्वाऽष्टमस्थग्रहाणां तात्कालिकलग्ने मूर्तावस्थानं ३८ । तेषामेव जन्मभानि ४२ । प्रतिष्ठादिसर्वकार्यलग्नेषु च क्रूरैर्मुक्त ४३ भोग्या ४४ ऽऽक्रान्तभानि ४५ । ग्रहविद्धं वा ४६, ग्रहभिन्नं वा ४७, ग्रहैरुदया ४८ स्तकरणेन दूषितं वा ४९, वक्रग्रहाक्रान्तं वा ५०, उल्काद्युत्पातदूषितं वा भं ५१ । क्रम ५२ तिथि ५३ नक्षत्रगण्डान्ताः ५४ । एकार्गल ५५ विष्टि ५६ व्यतिपात ५७ वैधृत ५८ क्रान्तिसाम्यानि ५९ । सङ्क्रान्तेरुभयपार्श्वयोः षोडश षोडश घट्यः ६० । अर्धयाम ६१ कुलिकौ ६२ । ग्रहणभं ६३ । ग्रहणदूषितदिनाः ६४ । लग्नाद्वा ६५ चन्द्राद्वा ६६ उभाभ्यां वा परमजामित्रस्थः क्रूरग्रहः ६७, शुक्रो वा ७० । अशुभे वारहोरे युगपत् ७१ । अशुभस्थानेषु ग्रहाः ७२ । भावरीत्यापि निषिद्धस्थानेष्वापतन्तो ग्रहाः ७३ । लग्नस्य ७४ चन्द्रस्य ७५ उभयोरपि वा प्रत्येकमुभयतः पञ्चदशत्रिंशांशमध्ये क्रूरग्रहाविति क्रूरकर्तर्यः ७६ । लग्नेशः ७७ अंशेशः ७८ उभावपि भावाषष्ठौ ७९, तथैव भावाष्टमौ वा ८२ । अनुक्तो नवांशः ८३ । चन्द्रेण ८४ क्रूरेण वाऽऽश्रितत्वेनाशुद्धं लग्नं ८५, नवांशो वा ८७ । उदया ८८ स्तयोरशुद्धि ८९ श्चेति ॥

" एषां मध्यादेकेनापि हि दोषेण दूष्यते लग्नम् । द्वित्रैर्दोषैर्मिलितैर्यैर्न शुभं तानथो वक्ष्ये ॥ १ ॥
चन्द्रस्य मृतावस्था १ यमाहिरक्षोऽग्निपः क्षणो यत्र २ । अवमं त्रिदिनस्पृग्वा ३ भवेत्तदा लग्नमशुभाय ॥ २ ॥
पापग्रहलत्ता १ चेदुपग्रहः २ स्याद्वरायुधः पातः ३ । ज्ञात्वैवं त्रिभिरेतैर्भवेत्तदा लग्नमशुभाय ॥ ३ ॥
द्विव्ययगाश्चेत् क्रूराः १ सौम्यानां केन्द्रसंस्थितिर्न भवेत् २ । लग्नपतिर्दुष्टयुतो ३ भवेत्तदा लग्नमशुभाय ॥ ४ ॥
शुभदृग्हीनं लग्नं १ प्रसूतिभं नो शुभैर्युतं दृष्टम् २ । केन्द्रस्थाश्चेन्न शुभा ३ भवेत्तदा लग्नमशुभाय ॥ ५ ॥ "

अत्र प्रसूतिभमिति, शिष्यस्थापककन्याद्यन्यतरस्य जन्मराशिः शुभैर्युतदृष्टो न स्यादित्यर्थः ।

“ रविजीवौ समरेखौ शुद्धयां १ लग्नेऽपि मध्यभावफलौ २ । केन्द्रगतौ नो सौम्यौ ३ भवेत्तदा लग्नमशुभाय ॥ ६ ॥
व्ययगः सौरो १ नवमे पापखग. सद्ग्रहैर्वियुक्तः स्यात् २ । भृगुसुतयुक्तश्चन्द्रो ३ भवेत्तदा लग्नमशुभाय ॥ ७ ॥ ”

प्रतिष्ठायां शुक्रेन्दुयुतिः श्रेष्ठा । तेन विवाहादावयं योगो योज्यः ।

“ अन्त्यचतुर्थं लग्नं जन्मतिथिर्मास एव जन्माख्यः ३ । फाल्गुनमीनार्कयुतिर्भवेत्तदा लग्नमशुभाय ॥ ८ ॥ ”

इत्येते समुदायिनो दोषा बुधगुरुशुक्रैः केन्द्रादिस्थैर्हन्यन्ते, यदुक्तं व्यवहारप्रकाशे—

“ हन्ति शतं दोषाणां शशिजः समुदायिनां हि केन्द्रस्थः । शुक्रो हन्ति सहस्रं बली गुरुलक्षमेकं हि ॥ १ ॥ ”

अथ ये एकाकिनो दोषास्ते द्विधा—साध्या असाध्याश्च । तत्र गण्डान्तविष्टिपरमजामित्रवेधादयो साध्याः, तेषु सत्सु सर्वग्रहबलादिनानागुणसद्भावेऽपि लग्नं न ग्राह्यम् । यदुक्त—

“ एकोऽपि दूषयेद्दोषः प्रवृद्धं गुणसञ्चयम् । सम्पूर्णं पञ्चगव्येन मद्यबिन्दुर्घटं यथा ॥ १ ॥ ”

ये तु साध्यदोषास्तेषां प्रतीकार श्लोकद्वयेनाह—

लग्नजातान्नवांशोत्थान् क्रूरदृष्टिकृतानपि । हन्याज्जीवस्तनौ दोषान् व्याधीन् धन्वन्तरिर्यथा ॥ ५७ ॥

व्याख्या—तनाविति मूर्तिस्थोऽतिबलिष्ठो गुरुरेतान् दोषान् हन्ति । लग्नजातानिति “जन्मराशि जनेर्लग्नं...............” इत्याद्युक्तान् । नवांशोत्थानिति अनधिकृतनवांशत्वादिना जातान् । क्रूरदृष्टिकृतानिति, उक्तं हि “स्थापने स्युर्विधौ दृष्टे युक्ते च” इत्यादि । तथा सति—

“ दर्शने यदि स्याद्दशद्वादशकमध्यगः क्रूरः । इन्दोर्लग्नस्य तथा न शुभः सर्व्वेषु कार्येषु ॥ १ ॥ ”

अस्यार्थः—लग्न चन्द्रोऽन्येऽपि च ग्रहाः स्वस्वत्रिंशांशकस्थास्तात्कालिकाः स्पष्टीकार्याः । ततो यैर्ग्रहैर्लग्नेन्दू दृश्येते तेषां लग्नेन्द्वोश्च भुक्तत्रिंशांशानां विश्लेषे कृते चेत् द्वादश यावदुद्धरन्ति तावत् क्रूरग्रहो न शुभः, सौम्यग्रहस्तु शुभः । यथा शनिर्विंशांशस्थो लग्नं चन्द्र वाऽष्टमांशस्थं पश्यति, अन्तरे कृते द्वादश, एवमेकादशदशादयोऽपि वर्ज्या द्वादशभ्योऽशेम्य उपरिस्थस्य तु क्रूरस्य दृष्टिर्न दुष्टेति भावः । कृतानपीत्यपिशब्दात् क्रूर-

युतिकृता अपि दोषा इह कथ्याः । उक्तं हि–"दीक्षायां कुरुते चन्द्रः" इत्यादि । व्याधीनिति यथा तनौ शरीरे धन्वन्तरिर्व्याधीन् हन्ति ॥

शुभग्रहाणां दृष्टेः शक्तिमाह—

लग्नात् क्रूरो न दोषाय निन्द्यस्थानस्थितोऽपि सन् । दृष्टः केन्द्रत्रिकोणस्थैः सौम्यजीवसितैर्यदि ॥ ५८ ॥

व्याख्या—निन्द्येति, उक्तं हि–"त्रिष्वपि क्रूरमध्यस्थो" इत्यादि । "भवेज्जन्मनि जन्मर्क्षात्" इत्यादि । "शनिस्त्रिकोणकेन्द्रस्थ" इत्यादि । "रविः कुजोऽर्कजो राहुः" इत्यादि । "तनुबन्धुसुतद्यून" इत्यादि च, तेषां तेषां दोषाणामपवादोऽयं । दृष्ट इति च, सामान्योक्तेऽप्यत्र दृष्टिः पुष्टाऽभ्यूह्या । यदि च तस्य क्रूरस्य सौम्यजीवसितैः सह मैत्री नैसर्गिकी तात्कालिकी वा स्यात्तदा दृष्टेरधिकतरो विशेषः । केन्द्रत्रिकोणस्थैरिति उपलक्षणत्वात् स्वोच्चगत्वादिना बलिष्ठतैररिति भावः । जीवेति, उक्तञ्च—

"कूरा हवन्ति सोमा सोमा दुगुणं फलं पयच्छन्ति । जइ पासइ किंदठिओ तिकोणपरिसंठिओ वि गुरू ॥ १ ॥"

शुभग्रहसंस्थां सङ्कलयन्नाह—

त्रिकोणकेन्द्रायगतैः शुभग्रहैर्विसप्तमेनासुरपूजितेन च ।
स्युः क्रूरचन्द्रै रिपु६विक्रमा३य११गैः, कर्तुः श्रियः सन्निहिताश्च देवताः ॥ ५९ ॥

व्याख्या—सप्तमवर्जकेन्द्रेषु त्रिकोणे वा स्थितः शुक्रः । क्रूरचन्द्रैरिति क्रूराश्चन्द्रश्चेति स, क्रूरग्रहाः प्रतिष्ठितादिलग्ने त्रिषडायगता एव शुभा, इत्यत्रापवादोऽयं—"पापोऽपि कर्तृजन्मेशः केन्द्रस्थः शस्यते ग्रहः । अशून्यानि च केन्द्राणि मूर्तौ जीवज्ञभार्गवाः ॥ १ ॥"

अस्यार्थः—कर्तुः प्रतिष्ठाकारयितुः श्रावकस्य दीक्षणीयस्य दीक्षादातुर्गुरोर्वा जन्मनि नाम्नि वा यो राशिस्तत्स्वामी पापोऽपि केन्द्रस्थोऽपि शस्यते, केन्द्राणि च शुभग्रहैरेवाधिष्ठितानि श्रेयांसि, न तु शून्यानीति भावः । सन्निहिताश्चेति, देवता प्रतिमायामवतिष्ठते इत्यत एवंरूपे लग्ने प्रतिष्ठा कार्येति भावः । इह प्रतिष्ठोद्देशेनोक्तं परमीदृशी ग्रहसंस्था सर्वकार्येषु सिद्धिदेति ज्ञेयम् ॥ अथोदयास्तशुद्धी प्राह—

पश्यन्नंशाधिपो लग्नं भवेदुदयशुद्धये । अंशास्ते७शस्तु लग्नास्तमस्तशुद्धये विलोकयन् ॥ ६० ॥

पञ्चम
विमर्शे
मिश्रद्वारे
शुभग्रहाणां
दृष्टिशक्तिः
प्रतिष्ठा-
दीक्षादिषु
ग्रहसंस्थि-
तिश्च ॥

व्याख्या—अंशाधिप इति, अंशशब्देनात्र सर्वत्र नवांश एव ग्राह्यः, तत्रैव ह्युदयास्तशुद्धी अन्वेष्ये, "प्रभुरिह नवांश" इत्युक्तेः, न तु द्वादशांशत्रिंशांशेषु । उदयशुद्धये, इत्यत्र तादर्थ्ये चतुर्थी, एवमग्रेऽपि, तत उदयिनवांशेशः स्वस्थानस्थो लग्नं पश्येत्तदोदयशुद्धिः स्यात्, लग्नवीक्षणे तत्स्थस्य नवांशस्यापि तदपृथग्भूतत्वेन वीक्षणभवनादित्यर्थः । अंशाधिप इत्युपलक्षणं, तेन पृच्छादिलग्नेषु लग्नेश एव लग्नं पश्यन् विलोक्यते, "शिरः शून्यं तदा लग्नं यदा स्वामी न पश्यति" इत्युक्तेः । अंशास्तेश इति, अस्तं सप्तम ततो लग्ने यद्राशिनामा नवांशस्तस्माद्राशितो यदस्तं सप्तमं स्थानं तदीशस्तेनाप्यपेक्षयाऽस्तं सप्तमं गृहं पश्येत्तदाऽस्तशुद्धिः । इयमत्र भावना-किल कर्कलग्नस्य तृतीये कन्यानवांशे गृह्यमाणे चेन्नवांशराशिकन्या-स्थानात्सप्तमस्थानस्थस्य मीनराशेः स्वामी गुरुर्मेषवृश्चिकवृषकन्यातुलमिथुनकर्काणामन्यतमस्थः कर्कलग्नात्सप्तममकरराशिं पश्येत्तदा कर्कलग्ने कन्यानवांशेऽस्तशुद्धिः । एवमन्यत्रापि भाव्या (व्यं) । अन्ये त्वाहुः—"लग्नवांशसमनामा राशिर्यत्र तत्रस्थः स्वेशदृष्टः स्यात्तदोदयशुद्धिः स्यात्" । श्रीहरिभद्रसूरयोऽप्याहुः—"उदयत्थसुद्धिमिण्हि भणामि उदओ नवंसगो इत्थ । तम्मि अ लग्गविहूणे सनाहदिट्ठे उदयसुद्धी ॥१॥"

अस्योदाहरणं यथा—मिथुनलग्ने मीननवांशे गृह्यमाणे तदीशजीवेन मीनराशौ दृष्टे सत्युदयशुद्धिः, एवं सर्वत्र । स्थापना यथा—



व्यवहारप्रकाशे त्वेतत्प्रकारद्वयमपि बहु मेने । तथाहि—

"अंशाधिपतेर्दृष्टिर्यदंशकेंऽशास्तपस्य भागास्ते१ । भागपतेर्लग्ने वाऽप्यंशास्तपतेर्विलग्नास्ते२ ॥१॥
उदयास्तस्य च यदि दृष्टेः शुद्धिर्भवेद्विलग्नेऽत्र । कान्ताया मङ्गल्यान्यतनूनि तनौ प्रजायन्ते ॥२॥"

यतिवल्लभे त्वेवमप्यस्ति—

"उदयास्तांशतुल्याख्यराश्योरपि विलोकने । योगेऽथवा परे प्राहुरुदयास्तविशुद्धताम् ॥ १ ॥"

विलोकने इति, स्वस्वामिभ्यामिति शेषः । योगे इति, उदयास्तांशाख्यराश्योः स्वस्वाम्यधिष्ठितयोः सतोरित्यर्थः । इह चोदयास्तशुद्ध्यधिकारे दृष्टिमात्रेणैव कार्यं, तेन पुष्टाऽपुष्टा वा दृष्टिरिति विशेषो नान्वेष्यः ॥

विवाहेषु द्वयोर्ग्राह्या विशुद्धिरुदयास्तयोः । प्रतिष्ठादीक्षयोस्तावानस्तशुद्धौ तु नाऽऽग्रहः ॥ ६१ ॥

व्याख्या—प्राह्येत्यावश्यके ध्यण्, अवश्यप्राह्येत्यर्थः। नाग्रह इति, उदयशुद्धिस्तु सर्वकार्यलग्नेषु विलोक्यत एवेत्याशयः। श्रीहरिभद्रसूरयस्त्वाहुः—

" वयगहणपइट्ठासु उदयत्थविसुद्धिवज्जिअं पि सुहं। मन्नंति केइ लग्गं तं च मयं बहुमयं नेयं ॥ १ ॥ "

अथ प्राह्ये लग्ने तन्नवांशादौ च गुणदोषचिन्तां कृत्वा, निर्णीतेऽपि तत्समयः कदा समेतीति लग्नात्कालानयनं वक्ष्यते, तत्रादौ लग्नानां मानमाह—

मध्ये मेषझषौ पलैर्भनयनै २२७र्मातङ्गतत्त्वै२५८र्वृषः, कुम्भो वा मिथुनः पुनर्मकरवत्तर्क्षाभ्रधूमध्वजैः ३०६।
कर्की धन्विवदम्बराम्बुधिगुणै३४०रब्धिरामैरलिः३४०, सिंहश्चाथ कनीघटौ प्रहरदे३२९रुद्यन्त्यमी राशयः ॥६२॥

व्याख्या—मध्य इति "हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्य" मित्यादिनिघण्टूक्ते मध्यदेशे एवे एते राशय उद्यन्ति उदयं यान्ति, इयद्भिरियद्भिः पलैर्वक्ष्याः षष्टिभागरूपैः, पलमानं च षष्टिगुर्वक्षरैः, तथाहि—

" देवः श्रीसर्वज्ञो विश्वश्रीशः सिद्धिश्रीकान्तः, कामद्रुद्रोहाग्निर्मायादोषाभास्वाञ्शोरागः।
चन्द्रश्वेतश्लोकः स्याद्वादारामाब्दो लोकार्च्यो, वीतापायः शान्तो लोकेभ्योऽसङ्ख्यं सौख्यं देयात् ॥ १ ॥ "

कामक्रीडाच्छन्दः। ईदृशस्य पलप्रमाणवृत्तस्य षष्टिवारान् पठने घटी स्यात्। ननु द्रुतं द्रुततरं मन्थरं मन्थरतरं वा पलप्रमाणवृत्तस्य पठनसम्भवात् कथमिदं पलमानं न विसंवदते? मैवं, अद्रुतमन्थरं मध्यमगत्या पठनस्यैवात्रेष्टत्वात्, सर्व्वव्यवहाराणां मध्यममानेनैव लोके प्रवृत्तेः। सूक्ष्मेक्षिकार्थिनां त्वेवं वा वाच्यं—सङ्गीतशास्त्रप्रसिद्धस्य पञ्चमातृकतालस्याविच्छेदेन चतुर्विंशतिवारान् हस्तमुखाभ्यां सम्यगुद्घट्टने सर्व्वथाऽप्यविसंवादि जलपलमेकं स्यादिति। तालस्य स्वरूपं तदुद्घट्टनविधिश्च संगीतशास्त्रवेदिनां मुखाज्ज्ञेयः। भनयनैरिति, अत्रायं सम्प्रदायः—

" लङ्कोदया नागतुरङ्गदस्रा२७८, गोऽङ्काश्विना२९९ रामरदा ३२३ विनाड्यः।
क्रमोत्क्रमस्थाश्चरखण्डकैः स्वैः, क्रमोत्क्रमस्थैश्च विहीनयुक्ताः ॥ १ ॥
मेषादिषण्णामुदयाः स्वदेशे, तुलादितोऽमी च षडुत्क्रमस्थाः............ । "

अस्यार्थः—लङ्काया उदया लग्नानि विनाड्यः पलानि, ततो लङ्कालग्नपलमानानां क्रमोत्क्रमेण स्थापनेयम्—

लङ्कालग्नपलमानम् ।		
मेष	२७८	मीन
वृष	२९९	कुम्भ
मिथुन	३२३	मकर
कर्क	३२३	धन
सिंह	२९९	वृश्चिक
कन्या	२७८	तुला

एभ्य एव "अयनलवे" त्यादिकरणकुतूहलरीत्याऽऽस्वस्वदेशचरखण्डानां क्रमेण शोधनक्षेपाभ्यां स्वस्वदेशीयानि लग्नमानान्यायान्ति । सा रीतिश्चेयं—

"अयनलवदिनैः प्राग्मेषसङ्क्रान्तिकालाद्भवति दिवसमध्ये या प्रभाऽक्षप्रभा सा,
दश१० गज८ दश१० निघ्नी सा प्रभाऽन्त्या त्रिभक्ता, प्रतिग्रहचरखण्डानीति० ॥ १ ॥"

अस्यार्थः—यद्दिने मेषेऽर्कः सङ्क्रामति तद्दिनात् प्रागयनांशमितदिनानि मुक्त्वा पाश्चात्यदिने मध्याह्नसमये यत्र देशे यावती देहच्छाया स्यात्सा विषुवच्छायाऽक्षप्रभा चोच्यते, सा त्रिर्न्यस्य क्रमाद्दश१० ष्ट८ दश१०भिर्गुण्यते, अन्त्या च त्रिभिर्भज्यते, लब्धं चाखण्डानि स्युः । एवं च मध्यदेशे एकपञ्चाशत् एकचत्वारिंशत् सप्तदश चेत्येतानि ५१–४१–१७ चरखण्डानि । क्रमोत्क्रमस्थाश्चरखण्डकैः स्वैरित्यादि, ततो यथा लङ्कोदयानां राशित्रयं क्रमोत्क्रमेण न्यस्तं, तथा चरखण्डानां राशित्रयमपि क्रमोत्क्रमाभ्यां न्यस्य पूर्वेभ्यस्त्रिभ्यो लग्नेभ्यः शोध्यते, अग्रेतनेषु त्रिषु क्षिप्यते, ततो मेषादीनि षड् लग्नानि मध्यदेशसत्कानि यथोक्तानि स्युः, तान्येव च षडुत्क्रमेण तुलादीनि लग्नानि स्युः । तेषां स्थापना—

मध्यदेशलग्नपलस्थापना ।		
मेष	२२७	मीन
वृष	२५८	कुम्भ
मिथुन	३०६	मकर
कर्क	३४०	धन
सिंह	३४०	वृश्चिक
कन्या	३२९	तुला

अथ तथैव रीत्याऽणहिल्लपत्तने त्रिपञ्चाशत्त्रिचत्वारिंशदष्टादश चेत्येतानि ५३–४३–१८ चरखण्डानि स्युः । कथं ?–" अणहिल्लपुरे तस्मिन् दिने मध्याह्नसम्भवा । छाया विषुवती पञ्चाङ्गुलाव्यङ्गुलविंशतिः ॥१॥
दशादिघ्ने द्वये षष्ट्या हृतेऽथ व्यङ्गुलाङ्कके । लब्धं चोपरि संयोज्यं मानमेवं ततो भवेत् ॥२॥ "
इति मुहूर्त्तसारे ॥

तत एतैः संस्कृतानि लङ्कालग्नानि पत्तनीयानि लग्नानि स्युरित्याह—

श्रीमद्गौर्जरपत्तने त्वजझषौ नत्त्वाक्षिभि २२५ र्गोघटौ,
षट्नत्त्वैः२५६शरखाग्निभिश्च३०५मिथुनो माग्गौननो वा पलैः ।

पञ्चम विमर्शे मिश्रद्वारे स्वस्वदेशीय चरखण्डानि ॥

कर्की क्ष्मातिशये३४१र्धनुर्वदलिवर्त्सिहो द्विवेदत्रिकैः ३४२,
कन्येन्दुत्रिदशै३३१स्तुलावदुदयं यान्तीति मेषादयः ॥ ६३ ॥

व्याख्या—उदयं यान्तीति दूर्याङ्गिरियङ्गिः पलैरेतान्येतानि लग्नान्युदीयन्ते । स्थापना यथा—

लग्नानां उदयपल-स्थापना ।		
मेष	२२५	मीन
वृष	२५६	कुम्भ
मिथुन	३०५	मकर
कर्क	३४१	धन
सिंह	३४२	वृश्चिक
कन्या	३३१	तुला

अथ लग्नानां घटीमानं होरादीनां च पलमानमुदयसत्कं प्रसङ्गादत्र लिख्यते, तथाहि—

लग्नानां मानं घटी—पल		होराणां मानं पल—अक्षर	द्रेष्काणानां मानं पल—अक्षर	नवांशानां मानं पल—अक्षर-व्यक्षर	द्वादशांशानां मानं पल—अक्षर	त्रिंशांशानां मानं पल—अक्षर
मेष	३–४५	११२–३०	७५	२५	१८–४५	७–३०
वृष	४–१६	१२८	८५–२०	२८–२६–४०	२१–२०	८–३२
मिथुन	५–१५	१५२–३०	१०१–४०	३३–५३–२०	२५–२५	१०–१०
कर्क	५–४१	१७०–३०	११३–४०	३७–५३–२०	२८–२५	११–२२
सिंह	५–४२	१७१	११४	३८	२८–३०	११–२४
कन्या	५–३१	१६५–३०	११०–२०	३६–४६–४०	२७–३५	११–२०
तुला	५–३१	१६५–३०	११०–२०	३६–४६–४०	२७–३५	११–२०
वृश्चिक	५–४२	१७१	११४	३८	२८–३०	११–२४
धन	५–४१	१७०–३०	११३–४०	३७–५३–२०	२८–२५	११–२२
मकर	५—५	१५२–३०	१०१–४०	३३–५३–२०	२५–२५	१०–१०
कुम्भ	४–१६	१२८	८५–२०	२८–२६–४०	२१–२०	८–३२
मीन	३–४५	११२–३०	७५	२५	१८–४५	७–३०

विशेषस्तु—" रेवत्युदयादश्व्यादीन्युद्गच्छन्ति जलपलैः क्रमशः । चित्रान्तान्यृतुनन्दै९६र्द्विखरूपै१०२रष्टखावनिभिः १०८ ॥ १ ॥
शरक्षकुभिः११५खद्विकुभि१२०र्युगगुणरूपै१३४र्वसूदधिमृगाङ्कैः १४८ ।
शशिपञ्चकुभि१५१स्त्रिशरक्ष्माभिः१५३करविषयवसुधाभिः१५२ ॥ २ ॥
त्रीषुकुभि१५३रष्टयुगकुभि१४८रगचतुरेकैः१४७षडब्धिकुभि१४६रेवम् । हस्तादेः प्रतिलोमं स्वात्याद्युदये क्रमान्मानम् ॥३॥"

"अभिजिच्च वसुजिनै२४८रिति ऋक्षाणामुदयपलसंस्था...............।" स्थापना—

ऋक्षाणामुदयपलस्थापना।

	पलानि	
रे	९६	अ
उ. भा.	१०२	भ
पू. भा.	१०८	कृ
श	११५	रो
ध	१२०	मृ
श्र	१३४	आ
उ. षा.	१४८	पुन
पू. षा.	१५१	पु
मू	१५३	अश्ले
ज्ये	१५२	म
अनु	१५३	पू. फा.
वि	१४८	उ. फा.
स्वा	१४७	ह
	१४६	चि
अभिजित्	२४८	

एवमभिजिद्वर्जं सपादभद्वयमानमीलने यथोक्तं राशिमानं स्यात् ॥

राशिषु संज्ञाविशेषांस्तत्प्रमाणानि चाह—

द्वादशराशिर्भगणो राशिस्तु त्रिंशता भवति भागैः ।
भागे षष्टिर्लिप्ता लिप्ता षष्ट्या विलिप्ताभिः ॥ ६४ ॥

व्याख्या—भागस्य 'त्रिंशांश' इति नामान्तरं । तन्मानं चैवं—

" लग्नानां सर्वदेशेषु यन्मानं घटिकादिकम् । तच्च द्विघ्नं पलाद्यं स्यान्मानं त्रिंशांशकस्य हि ॥ १ ॥ "

लिप्ताविलिप्तयोः कलाविकलेति नामान्तरं । विशेषस्तु—विलिप्तायां षष्टिः परमविकलास्तासामक्षरेत्याख्यान्तरं । अक्षरेऽपि षष्टिर्व्यक्षराणि स्युस्तानि चातिसूक्ष्मत्वादसंव्यवहार्याणि ।

उक्तं लग्नानां मानं । अथार्कं स्पष्टयितुं द्वादशसङ्क्रान्तीनामन्तरालघटीराह—

सङ्क्रान्त्यन्तरनाडिका अथ धृति१८र्मेषादितोऽश्वेषुभि५७—
र्भूतेभै८५र्मुनिगोभि९७रष्टवसुभि८८र्नेत्रर्तुभि६२र्भै२७स्तथा ।

अत्यष्टिभ्य १७समन्विता त्रिनवभिः९३ खेटर्तुभिः६९स्वर्तुभिः ६०,
सप्ताङ्कै६७र्निधिकुञ्जरै८९रथ धृति१८श्चन्द्रेक्षणैश्च२१क्रमात् ॥ ६५ ॥

व्याख्या—सङ्क्रान्तयोऽर्कस्य द्वादशराशिषु तासामन्तरे नाड्य एतावत्य एतावत्यः स्युः । धृत्यत्यष्टी अष्टादशसप्तदश्यौ छन्दोजाती । मेषादित इति, मेषवृषसङ्क्रान्त्योरन्तराले धृति१८रत्येषुभिः५७ समन्विता, कोऽर्थः? अष्टादश शतानि सप्तपञ्चाशद्युतानि घटीनां स्युरित्यर्थः । एवमग्रेऽपि । अथ सङ्क्रान्त्यन्तरभुक्तीनां स्थापना—

सङ्क्रान्त्यन्तरनाडिकास्थापना ।

	घट्यः	
मेष	१८५७	वृष
वृष	१८८५	मिथुन
मिथुन	१८९७	कर्क
कर्क	१८८८	सिंह
सिंह	१८६२	कन्या
कन्या	१८२७	तुला
तुला	१७९६	वृश्चिक
वृश्चिक	१७६९	धन
धन	१७६०	मकर
मकर	१७६७	कुम्भ
कुम्भ	१७८९	मीन
मीन	१८२१	मेष

अथ भानुयोग्यं स्पष्टीकर्तुमाभिर्भानोः स्पष्टीकरणमाह—

स्फुटोऽथ भानुर्गतनाडिकाभ्यः, सङ्क्रान्तितः खज्वलना ३० हताभ्यः ।
भागादिभिः स्वान्तरभुक्तिलब्धै, राश्यादिकं स्याद्गतराशियुक्तैः ॥ ६६ ॥

व्याख्या—गतनाडिकाभ्य इति, इष्टकाले वर्तमानार्कसङ्क्रान्तेर्यावत्यो घट्यो गताः स्युः ताः सर्वाः सम्मील्य, खज्वलनेति त्रिंशता गुण्यन्ते, स्वान्तरभुक्तिः सङ्क्रान्त्यन्तरनाडिकाश्चेत्येकोऽर्थः । ततः स्वकीययाऽन्तरभुक्त्या भागं दत्त्वांऽशकलाविकलारूपं त्रिस्थं फलं ग्राह्यम् । गतराशीति यावन्तो राशयोऽर्केण भुक्ताः स्युस्तदङ्क उपरी देयः, एवं राश्यादिकं इति राश्यंशकलाविकलारूपोऽर्कः स्फुटः स्यात् —

अत्रोदाहरणं यथा-विक्रमसंवत् १५१२ वर्षे वैशाखशुक्लसप्तम्यां ७ सोमे पुष्ये, मेषेऽर्कागमनादनु सप्तदशे दिने कर्कलग्नस्य कन्यानवांशो गृह्यमाणोऽस्ति, तदानीं मेषसङ्क्रान्तेर्गतघट्यः ९९४ । कथं? किञ्चिदधिक १६—दिवैस्तावद्बादरवृत्त्याऽर्केण मेषस्य १६ त्रिंशांशा भुक्ताः, शेषाः १४, तत्पलसङ्ख्या १०५, वृषमानं पल २५६, मिथुनमानं पल ३०५, कर्कस्याद्यनवांशद्वयपलानि ७५ अक्षर ४६, अर्धाधिकत्वाद्रूपग्रहणे पल ७६ मीलने पल

७४२, षष्ट्या भागे लब्धं १२, एता लग्नदिनस्य घट्यः, (शेष पल) २२ । मेषसङ्क्रान्तिदिनशेषघट्यः २२ । सङ्क्रान्तिदिनलग्नदिनयोरन्तराले दिन १६ तद्घट्यः ९६०, सर्वमीलने जातं गतघट्यः ९९४, पलानि २२, गतघट्यः ३० गुणिताः, जातं २९८२०, आसां मेषवृषसङ्क्रान्त्यन्तरभुक्त्या १८५७ घटीरूपया भागे लब्धं १६ भागा अंशा इत्यप्युच्यन्ते (ते) । शेषं १०८, तत् । ६० गुणने २२ क्षेपे च जातं ६५०२, पुनः १८५७ भागे लब्धं ३ कलाः, शेषं ९३१, तदपि ६० गुणने जातं ५५८६०, तस्यापि १८५७ भागे लब्धं ३० विकलाः, शेषं १५० त्यक्तं, इति भागकलाविकलाभिरंशादिकोऽर्कः स्फुटोऽभूत् । गतराशियुक्तैरित्युक्तेर्वृषादिसङ्क्रान्तिषु गतराशयः पूर्वं लिख्यन्ते तदा राश्यादिकोऽपि स्यात्, इह तु भुक्तराशिरेकोऽपि नास्ति, तेन राशिस्थाने शून्यं देयं, जातः कार्यवेलायां स्फुटोऽर्कः–राशिः०, अंशाः १६, कलाः ३, विकलाः ३० ॥

कथं स्फुटार्कात्सायनांशार्कस्य भोग्यमानयति—

> गणितविदुपदेशात्तत्र दत्त्वाऽयनांशान्, पुनरपि भगणार्धं ६ रात्रिलग्ने तु दद्यात् ।
> अथ हृत उदयस्त्रिर्भुक्तशेषैर्लवाद्यै-रुपरि च खगुणा ३०प्तः स्यात्पलात्मार्कभोग्यम् ॥ ६७ ॥

व्याख्या—तत्रेति स्फुटार्केऽयनांशान् पुनरपि भगणास्तद्वर्षीयाः क्षिप्यन्ते, अयनांशानित्येवोक्तेऽपि कलाद्यपि लभ्यते, तासां तदंशरूपत्वात्, एवं सर्वत्र । पुनरपीति, अथ चेद्रात्रिलग्नं स्यात्तदा पुनर्भगणार्धं षट्करूपं राशिमध्ये क्षेप्यं । अथ हृत इति, एवं कृते उपरि यो राशिरागतः स भुक्तः, यस्तु तदग्रेतनो राशिः स उदय उच्यते, तन्मानं पलरूपं त्रिः स्थाप्यते, अधश्च या अंशकलाविकलाः सन्ति ता भुक्ताः, ताभ्यः शेषा या अंशकलाविकलाः सन्ति ताभिस्तल्लग्नमानं त्रि-र्यस्तं च क्रमाद् गुण्यते, अधोऽङ्कयोः षष्ट्या भागं दत्त्वा दत्त्वा उपर्युपरि क्षेपे योऽङ्क ऊर्ध्वं स्यात्तस्य खगुणेति त्रिंशता भागे यल्लभ्यते तत्पलात्मकमर्कभोग्यं स्यात्, उद्धरिताङ्कस्य षष्ट्या सङ्गुण्य त्रिंशता भागेऽधोऽक्षराण्यप्यायान्ति ।

अथोदाहरणमनुस्रियते–अयनांशानयने तावद्गणितविदामुपदेशोऽयं—वैक्रमाद्गोश्वबाणा५७९ब्दात् आकाशु अब्ध्यब्ध्यब्धि४४४ वर्षादारभ्य अब्धिखसमन्व१४०४ब्दानि यावत् प्रतिवर्षमेका कलैका विकला विंशतिः परमविकलाश्च वर्धन्ते, षष्ट्या कलाभिरयनांशः । एवं १४०४ वर्षैः २३ अंशाः

५५ कलाः १२ विकलाश्च वर्धन्ते इत्ययनांशवृद्धिरिष्टा, पुनस्तेनैव क्रमेण हीयमानास्ते तावद्भिरेवा १४०४ ब्दैर्निर्लेपीभविष्यन्ति, एवं पुन पुनस्तद्वृद्धि-हानी भाव्ये, एषां च लग्ने क्रान्तिसाम्ये चरानयने चोपयोगः । उक्तञ्च—

"अयनांशाः सदा देया लग्ने क्रान्तौ चरागमे ।" इष्टकाले चायनांशानयनाय करणमिदम्—

"आषाढे विक्रमं नन्दसप्तेषू ५७९ नं त्रिधा कु १ भू[१] १ । नखै २० र्निघ्नं भजेत् षष्ट्या लब्धे स्युरयनांशकाः ॥ १ ॥"

व्याख्या—चैत्रादिः किल शाकाब्दः स पञ्चत्रिंशोत्तरशत१३५ क्षेपे वैक्रमाब्दः स्यात्, स चाषाढादिः सविक्रमाब्दः स्थाप्यते, स चात्र १५१२ रूपः, अस्मात् ५७९ कर्षणे जातं ९३३, इदं त्रिर्न्यस्य क्रमात् १–१–२० अङ्कैर्गुण्यते, षष्ट्या षष्ट्या भक्त्वा भक्त्वा उपर्युपरि चटापने जातं अंशाः १५, कलाः ५३, विकलाः ४४ । इदं १५१२ वर्षेऽयनांशपरिमाणं सूक्ष्मेक्षिकयाऽऽयाति, परं प्रत्यब्दमेकैव कला किञ्चिदधिका वर्धते इति स्थूलमानमेव बहुज्योतिर्विदां सम्मतं, ततोऽस्माभिरपि तदेवात्राहतम् । तथा च १५१२ वर्षे १५ अंशाः ३४ कलाश्चायान्ति, इदं स्फुटार्के क्षिप्तं जातं भागा एकत्रिंशत् ३१ कलाः ३७ विकलाः ३० । ततो राशिस्त्रिंशदंशमानत्वादयनांशापेक्षयाऽर्केणाखिलोऽपि मेषराशिर्भुक्तः वृषस्य चैकोऽंशः ३७ कलाः ३० विकलाश्च भुक्ता इत्यागतं, स्थापना 1–1–37–30, अयं सायनोऽर्कः ।

अथात्रोदयो वृषस्तत्पलमानं २५६ त्रिः स्थाप्यते, यथा–२५६, २५६, २५६, ततः सूर्यः भुक्तादंशादेरपेक्षया शेषमंशाद्युत्पाद्यते, तच्चेदं–अंशाः २८, कलाः २२, विकलाः ३० । एतैः क्रमात्त्रयोऽपि राशयो गुण्यन्ते, जातं ७१६८–५६३२–७६८० । क्रमात् ६० भक्त्वा ऊर्ध्वमूर्ध्वं क्षेपे जातमुपरि ७२६४, अस्य ३० भागे लब्धं पलानि २४२, इदमर्कभोग्यमग्रे उपयोक्ष्यते इत्यतः स्थाप्यम् ॥ ६७ ॥

अथेष्टलग्नभुक्तानयनेनेष्टसमयं स्फुटीकर्तुमाह—

इष्टाद् भुक्तनवांशकैर्दशगुणैस्त्र्याप्तैर्लवाद्यं फलं, लग्नं सायनमूर्ध्वराशिसहितं सैकप्रवृत्त्यंशकम् ।
तद्भुक्तेन लवादिना तदुदयः क्षुण्णो हृतस्त्रिंशता, भास्वद्भोग्ययदान्तरोदययुतः कालः पलात्मा भवेत् ॥ ६८ ॥

[१] कुभूनरवैरिति समस्तं ज्ञेयम् ।

व्याख्या—लग्ने यो नवांश इष्टोऽस्ति तस्मादर्वाग येऽंशास्ते दशगुणीकृत्य त्रिभिर्भज्यन्ते यल्लब्धमंशकलाविकलारूप त्रिस्थं फलं स्यात् । लग्नमिति तदेव लग्नं ज्ञेयम् । तच्च सायनमूर्ध्वमतीतराशियुतं च कृत्वा एकः प्रवृत्त्यंशोऽधिकृतनवांशसत्कत्रिभागरूपो मध्ये देयः । धनुरंशे तु प्रतिष्ठाविवाहयोर्गृह्यमाणे नवांशत्रिभागस्यार्धं क्षिपेत्, तत्र धनुरंशपूर्वार्धस्यैवेष्टत्वात् । ततः एवं कृते यस्स्यात्तेन भुक्तेन लवकलाविकलारूपेणेष्टलग्नमानं पलरूपं त्रिर्न्यस्य क्रमाद्गुण्यते । प्राग्वत् षष्ट्या ऊर्ध्वं क्षेपे उपरि योऽङ्कः स्यात्तस्य त्रिंशता भागे यल्लब्धं पलाक्षररूपं तदिष्टलग्नभुक्तमुच्यते । तन्मध्ये पूर्वानीतमर्कभोग्यं क्षिप्यते । तथाऽर्काक्रान्तराशेरिष्टलग्नस्य चान्तराले यावन्ति लग्नानि स्युस्तेषां मानानि पलरूपाणि तन्मध्ये क्षिप्यन्ते । एवं कृते योऽङ्कः स्यात्तावद्भिः पलैरर्कोदयादनु इष्टलग्नस्य इष्टोऽंशः समेतीति ॥

यथाऽत्र कर्कलग्नस्य तृतीये कन्यानवांशे गृह्यमाणे इष्टान्नवांशादर्वाग्भुक्तनवांशौ द्वौ दशगुणौ २० कृत्वा त्रिभिर्भक्तौ लब्धास्त्रिशांशाः षट्, शेषं २/३ । कोऽर्थः ? यादृशैस्त्रिभिस्त्रिशांशः स्यात्तादृशौ द्वावंशौ । एतावतांशाः षट् कलाश्च चत्वारिंशदिति स्यात्, एकैकस्य त्रिंशांशस्य षष्टिकलानिष्पन्नत्वात्, द्वाभ्यां त्रिभागाभ्यां स्थिताभ्यां चत्वारिंशत्कलाः स्युरिति भावः । एतच्च लग्नं सायनं क्रियते, अयनांशाः १५ कलाश्च ३४ मील्यन्ते । तथाऽतीता राशयो ये स्युस्तेषामङ्को राशिस्थाने दीयते, स चात्र त्रिक एव, कर्कलग्नस्य गृह्यमाणत्वात् । तथांशाङ्कमध्ये एकः प्रवृत्त्यंशो दीयते कलासप्तकं च, यत एकैकस्मिन्नवांशे त्रयस्त्रिंशांशाः कलाविंशतिश्च स्युः, तत्त्रिभागे कृते यथोक्तमेवायातीति, ततो जात त्रयो राशयोऽतीताः, वर्तमानकर्कलग्नस्य चांशाः २३ कलाः २१ एतावद् भुक्तं, गतराशिभिश्च नास्त्यत्रोपयोगः, ततस्तद्भुक्तेन वर्तमानकर्कलग्नभुक्तेन २३ भाग २१ कलारूपेण तदुदयोऽत्र प्रस्तावात् कर्कोदयः ३४१ पलरूपो द्विर्न्यस्य गुणितः, यदि विकलाः स्युस्तदा त्रिर्न्यस्य तृतीयस्थाने विकलाभिरपि गुण्यते, इह तु ता न सन्तीति द्विरेव न्यास ऊचे, जातं क्रमात् ७८४३–७१६१, अधः ६० भागे लब्धं ११९, अस्योपरि क्षेपे जातमुपरि ७९६२, अस्य ३० भागे लब्धं पलानि २६५ शेषं १२, तस्य ६० गुणने ३० भागे च लब्धं अक्षराणि २४, इदं २६५ पल २४ अक्षररूपं कर्कलग्नभुक्तं । रविभोग्ययुक्तमन्तराले लग्नपलप्रमाणरूपान्तरोदययुतं च क्रियते, यथाऽत्र रविभोग्यं पलानि २४२, आन्तरोदयस्तु मिथुनमेव, तन्मानं ३०५, त्रयाणां मीलने जातं ८१२ सूर्योदयादियत्पलैः, कोऽर्थः ? १३ घटीभिः ३२ पलैश्च गतैः कर्कस्य कन्यांशः समेतीति । विशेषस्तु—

" द्वयोर्नवांशयोः शुद्धिः प्रतिष्ठायां विलोक्यते । आद्येऽधिवासना बिंबे द्वितीये च शलाकिका ॥ १ ॥
संस्थाप्य लग्नमानं गुणयेन्मध्यनवांशकैः । नवभिस्तु हृते भागे लब्धेऽन्तरपलागमः ॥ २ ॥ "

अत्र कल्पितमुदाहरणमात्रं, यथा—अत्रैव कर्कलग्ने प्रतिष्ठायां तृतीयः कन्यानवांशोऽष्टमः कुम्भनवांशश्च गृह्यमाणौ स्तः । ततश्च कुम्भनवांशाद्-र्वाक् कन्याद्यो नवांशाः पञ्च सन्ति, अतः कर्कमानं ३४१ पञ्चभिर्गुणयेत्, जातं १७०५, अस्य नवभिर्भागे लब्धं १८९, इदञ्च तृतीयकन्यानवांशग्रहणाय स्पष्टीकृते १३ घटी ३२ पलरूपे काले क्षिप्यते, जातं घट्यः १६ पलानि ४१, इयति काले गते कुम्भनवांशवेला ॥

अथ लग्नांशसमयस्पष्टनायाऽयनांशनिरपेक्षं प्रकारमाह, यद्वा—

सङ्क्रान्तिराशेर्गतनाडिकाघ्ने, माने दिवा निश्यथ सप्तमस्य ।
सङ्क्रान्तिभोगेन हृते तदीयत्र्यंशान्विते शेषमिहार्कभोग्यम् ॥ ६९ ॥

व्याख्या—दिनलग्ने सूर्याक्रान्तराशेर्मानं सङ्क्रान्तिसमयात् प्रभृति लग्नसमयादर्वाग् या घट्यो गतास्ताभिर्गुण्यते । रात्रिलग्ने तु सति सूर्याक्रान्तायः सप्तमो राशिस्तन्मानं ताभिर्गुण्यते । ततः स्वान्तरभुक्त्या भज्यते । यल्लब्धं तन्मध्ये प्रस्तुतराशेस्त्रिभागः पृथक्कृत्य क्षिप्यते । ततस्तथा कृते सति यस्यात्तदर्कभुक्तं सूर्याक्रान्तराशिमध्यात् पात्यते, यच्छेषं तदर्कभोग्यम् ।

यथाऽत्रैव दिनलग्ने सङ्क्रान्तिराशेस्तदानीं सूर्याक्रान्तराशेर्मेषस्य मानं २२५, तत्सङ्क्रान्तिसमयादनु लग्नतोऽर्वाग् या गता घट्यः ९९४, ताभिर्गुणितं जातं २२३६५० । अस्य स्वान्तरभुक्त्या १८५७ रूपया भागे लब्धं पलानि १२० । ततश्चार्काक्रान्तराशेर्मानस्य त्रिभिर्भागे यल्लभ्यते तन्मध्ये क्षेप्यम् । यथाऽत्र मेषमानस्य २२५ त्रिभिर्भागे लब्धं पलानि ७५ । इदं प्रागानीत १२० मध्ये क्षिप्तं, जातं १९५, इद सूर्यभुक्तम् । सूर्याक्रान्तराशेर्मेषस्य मानात् २२५ रूपात् पात्यते, जातं ३० पलानि, इदमर्कभोग्यं, एवं दिनलग्ने कार्यम् ।

रात्रिलग्ने त्वर्काक्रान्तराशितः सप्तमस्य राशेः सूर्यभुक्तघटीगुणनतदन्तरभुक्तिभजनाद्यं सर्वमप्यर्काक्रान्तराशिवत् कार्यम् ॥

भुक्तेऽथ लग्नस्य तदंशकाच्च,दद्यात्त्रिभागावुदयप्रवृत्त्योः। तल्लग्नभुक्तश्च तथार्कभोग्यं,कालोऽन्तरालोदययुक्पलात्मा॥

व्याख्या—अथेति तदनन्तरं। तदंशकादिति इष्टनवांशादर्वाकृतने लग्नस्य भुक्ते उदयप्रवृत्त्योस्त्रिभागौ दद्यादित्यन्वयः। अयमर्थः—अधिकृतनवांशादर्वाग् यावन्मात्रं लग्नस्य भुक्तं तत् स्पष्टीकृत्य तन्मध्ये तल्लग्नस्य त्रिभागं तन्नवांशस्य च त्रिभागं प्रवृत्त्यंशापराह्नं क्षिपेत्, ततस्तल्लग्नभुक्तं पूर्वानीतमर्कभोग्यमन्तराकलग्नपलमानं च मील्यते, यत्स्यात्तावद्भिः पलैः सूर्योदयादनुइष्टलग्नस्येष्टोऽंशः स्यात् ॥

यथाऽत्र कर्कस्य मानं ३४१, नवभिर्भागे लब्धं पलानि ३८, इदमेकनवांशमानं, इष्टस्य तृतीयस्य नवांशस्यार्वाक् च द्वौ नवांशौ स्तः, तेन ३८ द्विगुणाः, जातं पलानि ७६, इदं तल्लग्नं भुक्तं, ततोऽत्र कर्कमानस्य ३४१ त्रिभिर्भागे लब्धं पलानि ११४, अयमुदयत्र्यंशो लग्नभुक्तस्य ७६ पलरूपस्य मध्ये क्षिप्यते जातं १९० । तदनु यो नवांशो दत्तोऽस्ति तस्य यन्मानं ३८ पलरूपं, तस्य त्रिभागः पल १२ रूपः, सोऽपि तन्मध्ये क्षिप्तः, जातं पलानि २०२ । रविभोग्यं च पलानि ३० । तथार्काक्रान्तराशेरिष्टलग्नस्य चान्तराले वृषमिथुनौ स्तः, तयोर्मानं २५६-३०५ । सर्वेषां स्थापना—

२०२-३०-२५६-३०५ मीलने पलानि ७९३, एषां ६० भागे लब्धं घट्यः १३ पलानि १३ । एतावत्कालेनार्कोदयादनु कन्यांशागमः । करणान्तरत्वात् पलेषु वैसदृश्यं न दोषाय । एवमन्यत्रापि भावनीयम् ॥ ७० ॥

एवं लग्नात्कालानयनमुक्तं, अथ प्रत्ययार्थं वृत्तद्वयेन कालाल्लग्नमानयति—

त्यक्त्वाऽर्कभोग्यं च पलात्मकालाद्भागादिभोग्यं तरणौ निदध्यात् ।
क्रमेण शेषानुदयान् विशोध्य, राशीन्न्यसेत्तत्प्रमितांश्च भानौ ॥ ७१ ॥

व्याख्या—कश्चिद्विवक्षितकालं घटीपलमानमुक्त्वा तदानीं कतमल्लग्नांशोऽस्तीति पृच्छेत्तदा तदुक्तं घट्यादि सर्वं पलीकार्यं । ततस्तत्र यावत्पलमानमर्कभोग्यं स्यात्तस्मात्पलीकृतकालात् शोध्यं, भागादीति सायनस्फुटार्केण यो राशिराक्रान्तस्तस्य शेषलवकलाविकलारूपं सूर्यभोग्यं तरणाविति सायनस्फुटार्के एव न्यस्यं, स राशिः पूर्णीकृत्य लेख्य इत्यर्थः । तनस्तस्मात् पलीकृतकालादर्काऽऽक्रान्तराश्यग्रेतनानि पलरूपाणि लग्नानि यावन्ति शुध्यन्ति तावन्ति संशोध्य तावद्राशीनामङ्कोऽर्के देयः ॥

शेषादथ खगुण३०गुणादविशुद्धोदयहृतादवाप्तेन । भागादिना सनाथो दिननाथो निरयनांशको लग्नम् ॥ ७२ ॥

व्याख्या—यत्र शेषे सति लग्नं शोधयितुं न पार्यते तस्माच्छेषात्, खगुणेति त्रिंशद्गुणीकृतादशुद्धलग्नमानेन भागे यल्लभ्यतेऽंशकलाविकलारूपं तत्सूर्ये दत्वा ततोऽयनांशा: कर्ष्यन्ते, शेषं स्फुटमिष्टकाले लग्नं नवांशश्च ॥

इदमाद्यप्रकारे भाव्यते—यथा घट्यः १३ पलानि ३२, गणो धृत्वा पलीकृतो जातं ८१२ पलानि, एभ्योऽर्कभोग्यपकाङ्कस्य २४२ रूपस्य शोधने स्थितं ५७०। अथ सायनस्फुटार्के १–१–३१–३० रूपे वृषराशेः शेषं २८ भागाः २२ कलाः ३० विकलारूपं भागादिभोग्यं क्षिप्तं, जातोऽर्कः २–०–०–० । तदनु पलीकृतकालात् ५५७ रूपात् अर्काक्रान्तवृषराश्यग्रेतनस्य मिथुनस्य मानं३०५ रूपं शुद्धमित्येकराशिक्षेपे जातोऽर्कः ३–०–०–० । शेषस्य २६५ रूपस्य मध्यात् कर्कस्य मानं ३४१ रूपं न शुध्यतीत्यतः शेषं ३० गुणने जातं ७९५० । अशुद्धस्य कर्कस्य मानेन ३४१ भागे लब्धं त्रिस्थं फलं भागाः २३ कलाः १८ विकला: ४९। इदमर्के योजितं जातं ३–२३–१८–४९ अस्मादयनांशाः भाग १५ कला३४रूपा: शोध्यन्ते, जातं लग्नं ३–७–४४–४९ । अत्र कर्कस्य सप्त ७ भागाः ४४ कलाः ४९ विकलाश्च भुक्ता इत्यागतं । एकैकस्मिँश्च नवांशे त्रिंशांशत्रयं तुर्यत्रिंशांशस्य विंशतिकलाश्च स्युरिति षड्भिर्भागैः ४० कलाभिश्च नवांशद्वयगतं, उपरि चैको भागः कलासप्तकं च प्रवृत्त्यर्थं दत्ते अभूतां ते स्त इति ज्ञेयं । द्वित्रकलाविशेषे च न दोषः, लग्नफलानामतिसूक्ष्मत्वात् । विशेषस्तु स्थूरवृत्त्याऽह्नि कालाल्लग्नांशानयनमेवं—

"अष्टांशं प्रति धीवेदाः ४५ सङ्क्रान्तेर्गतवासराः । तदैक्यादभ्ररामा३०प्तं लग्नमाक्रान्तराशितः ॥ १ ॥
शेषे षष्टिहते भक्ते द्विशत्या लब्धमंशकः । होराद्युक्ताङ्कभक्तेऽत्र होराद्यमपि लभ्यते ॥ २ ॥"

व्याख्या—अष्टांशो यामस्तं प्रति ४५ पलानि ध्रुवकः । तत्र आद्ये यामे पूर्णे ४५, द्वितीये ९०, एवं ध्रुवकोत्पत्तिः । यदा च यावद्दिनमानं तदा तदेव चतुर्भक्तमेकैकयाममानं । ततो याममानघटीविभक्त ४५ ध्रुवकाद्यल्लभ्यते तदेव घटीं घटीं प्रति ध्रुवको लेख्यः । यथाऽत्र मेषेऽर्कभवनदिनाद्यु सप्तदशेऽह्नि त्रिभागोनाष्टघटीकयामेषु घटीं घटीं प्रति किञ्चिदूनषट्पलानि ध्रुवकस्त्रैराशिकेन समेति । कथं ? तद्दिनसत्कं ७ घट्यः ४२ पलानि चेत्येतद्याममान पलीकृतं जातं ४६२ । ततो यदि ४६२ पलैः ४५ पलानि ध्रुवकः स्यात्तदा १ घटीसत्क ६० पलैः किं स्यादिति राशित्रयस्थापना—

४६२–४५–६० मध्यराशिरन्त्येन गुणितः, जातं २७०० । आद्यराशिना भागे लब्धं पल ५ अक्षर ५०, यद्यपि चैवमस्ति तथापि किञ्चिदूनत्वात् षट् पलानि पूर्णान्येव विवक्ष्यन्ते, ततोऽत्र १३ घट्यः षड्गुणाः, जातं ७८ । उपरिस्थ ३२ पलापेक्षया पलत्रये क्षिप्ते जातं ८१, सङ्क्रान्तेर्गतदिनाः १६ मीलने ९७, अस्य ३० भागे लब्धं ३ शेषं ७, लग्नत्रयं गतं, तुर्यस्य कर्कलग्नस्य त्रिंशांशत्सप्तक चेत्यर्थः । नवांशानिनीषायां तु ७ षष्ट्या हता जातं ४२०, द्विशत्या २०० भागे लब्धं द्वौ शेषं २०, नवांशद्वयं गतं तृतीयस्य २० कलाश्च गता इत्यर्थः । होरादीति षष्टिहताङ्कस्य होराद्यङ्कैः ९००—६००–१५०–६० भागे क्रमात् होराद्रेष्काणद्वादशांशत्रिंशांशा अपि लभ्यन्ते । नवांशस्य तु प्रभुतया मुख्यत्वात् पृथगुक्तिः । अनेन विधिना कलावध्येव व्यक्तीस्यान्न तु विकलाः, अत एव स्थूलोऽयं विधिरित्यूचे । ननु च सर्वत्र नवांशस्यैव चेत् प्रभुता तदा किमर्थं लग्नानां ग्रहाणां च त्रिंशांशा व्यक्तीक्रियन्ते ? उच्यते–'त्रिष्वपि क्रूरमध्यस्थौ" इत्यत्र लग्नेन्द्वोः पञ्चदशत्रिंशांशमध्यस्थक्रूरग्रहकर्तरीविचारः । तथा सति "दर्शने यदि स्याद्दंशद्वादशकमध्यगः क्रूरः" इत्यत्र लग्नेन्द्वोः क्रूरग्रहदृष्टिविचार इत्याद्युक्त एव त्रिंशांशानामुपयोगः । तथा लग्ने षड्वर्गः क्रूरग्रहसत्कः सौम्यग्रहसत्को वा, अयं ग्रहः स्ववर्गस्थोऽन्यवर्गस्थो वा इत्यादिचिन्तायामपि । ननु भवति तर्हि कलादिव्यक्तीकृतिः क्वोपयोक्ष्यते ? उच्यते–यदा कलाराशिः षष्ट्यपेक्षयाऽर्धाधिकः स्यात्तदा रूपं गृहीत्वा त्रिंशांशेषु दीयते । एवं विकलानामर्धाधिके कलासु रूपं देयमित्यादि, जातकादौ चांशायुः–पिण्डायुर्दशान्तर्दशाद्यानयने कलादिव्यक्तेर्विशिष्योपयोग इत्यलं प्रसङ्गेन । एवं दिना लग्नांशानयनमुक्तं ।

" रात्रौ तु मूर्ध्नि यद्धिष्ण्यं तस्मान्नक्षत्रमष्टमम् । उदेति पूर्वस्यां तेन लग्नोदयविनिर्णयः ॥ १ ॥ "

तथा रेवत्युदयादनवश्विन्युदयं यावदश्विन्या एव चत्वारः पादा उद्गच्छन्ति, एवमश्विन्युदयादनु भरण्युदयं यावद्भरण्या एव चत्वारः पादा उद्गच्छन्तीत्येवं शिरःस्थभस्य पादकल्पनयोदयी नवांशोऽपि निर्धार्यः । इत्युक्ता लग्नस्फुटीकृतिः ।

अथ दिवा कालज्ञानं प्रायः शङ्कुच्छायाऽऽयत्तमित्यतः कालतश्छाया, छायातः कालश्चानीय दर्श्यते । तत्रादौ तावत्सूक्ष्मदिनमानानयनमेवम्–

"युक्तायनांशा रविभुक्तभागाः, फलेन गुण्या दिनवृद्धिहान्योः । षष्ट्याभिलब्धं घटिकाद्यमेतत्, स्यादाढ्य(द्य)नूनं प्रथमद्युमानात् ॥१॥"

व्याख्या—इष्टेऽहन्यर्केण स्वाक्रान्तराशेर्यावन्तस्त्रिंशांशा भुक्ताः स्युस्तन्मध्ये तद्वर्षीयायनांशान् क्षिप्त्वा उपर्यागतराशिसत्केन दिनवृद्धिहानिफलेन

कर्केत्यादिना पूर्वोक्तेन सङ्गुण्य षष्ट्या भागे यल्लभ्यते तद्घट्यादिकं रसद्विनाड्य इत्याद्युक्तस्य मुख्याहर्मानस्य मध्ये क्षेप्यं मृगादिषट्कस्थेऽर्के, कर्कादिषट्कस्थे स्वर्के तस्मादूनं कार्यं, एवं स्पष्टं दिनमानमायाति, तस्मिन् षष्टिघटीरूपाहोरात्रमध्याच्छोधिते शेषं स्पष्टं रात्रिमानं । अनयोश्च कुलिकस्पष्टीकरणाद्यावुपयोग: । यथाऽत्र मेषेऽर्कागमनादनु सप्तदशेऽह्नि प्रावस्त्यघटी १३ पल ३२ समये "स्फुटोऽथ भानुः" इत्यादिकरणेन सञ्जाताः स्फुटार्कभुक्तभागाः १६ कलाः ३ विकलाः ३० । एतन्मध्येऽयनांश १५ कला ३४ क्षेपे जातं राशिः १ भागः १ कलाः ३७ विकलाः ३० । अत्र सायनार्केण मेषराशिः पूर्णोऽपि भुक्तो वृषस्य चैकोऽंशः १ कलाः ३७ विकलाश्च ३० भुक्ता इत्यागतं, ततोऽत्र वृषराशिसत्का दिनवृद्धिः पल २ अक्षर ५२ रूपा गता, ततोऽंशाद्यङ्का गोमूत्रिकारीत्या स्थानद्वये न्यस्य एकत्र द्विकेन अपरत्र द्वापञ्चाशता च गुण्यन्ते । स्थापना । २–५२ गुणिते च जातं क्रमात् | २–७४–६० । ५२–१९२४–१५६० | । सर्वाधःस्थस्य ६० भागे लब्धं २६, इदमुपरिस्थे क्षिप्तं, जातं, १९५०, इदं चाद्यराश्यधःस्थाङ्केन ६० रूपेण सह समपङ्क्तिस्थत्वात् मीलितं, जातं २०१०। अस्य ६० भागे लब्धं ३३ उपरि क्षिप्तं जातं पलानि ८५ । एतन्मध्ये आद्यराशिसत्कः ७४ रूपोऽङ्कः समपङ्क्तिस्थत्वात् क्षिप्तो जातं १५९ । अस्य ६० भागे शेषं अक्षराणि ३९, लब्धं पले २ उपरि क्षिप्तं जातं पलानि ४। अस्य ६० भागे लब्धं घटीस्थाने शून्यं । स्थापना— | घटी० पलानि ४ अक्षराणि ३९, | इदं वृषाद्याहर्माने घटी ३१ पल ४६ रूपे क्षिप्तं, जातं घट्यः ३१ पलानि ५० अक्षराणि ३९ इदं स्पष्टं तद्दिनमानं । तद्रात्रिमानं तु घट्यः २८ पलानि ९ अक्षराणि २१ । अथेतो मध्यच्छायानयनं यथा—

" ज्येष्ठदिनाद्दिनं शोध्यं शेषाद्दशगुणात् स्वतः । त्यजेत्सप्तशरै ५७ र्लब्धं सूर्यै १२ र्मध्यांह्नयः स्मृताः ॥ १ ॥ "

व्याख्या—इष्टाहर्मानं ज्येष्ठाहर्मानाच्छोध्यते, शेषं दशभिर्गुण्यते, ततश्च स्वत इति तदेवाधो न्यस्य ५७ भागे यल्लभ्यते तन्मुख्याङ्कात् कर्ष्यते, भागाप्राप्तौ यदि ५७ अपेक्षयोर्ध्वस्थोऽङ्कोऽर्धाधिकः स्यात्तदा रूपं गृहीत्वा मुख्याङ्कात् कर्ष्यते, तदनु तस्य सूर्यै १२ र्भागे यल्लभ्यते ते मध्याह्नच्छायायां पादाः शेषाण्यङ्गुलानि । यथाऽत्र तद्दिनमानं ज्येष्ठाहर्मानात् घटी ३३ पल ४८ रूपाच्छोधितं जातं घटी १ पलानि ५७ अक्षराणि २१, इदं शेषत्वाद्दशभिः सङ्गुण्या षष्ट्या भक्त्वा भक्त्वा उपरि क्षेपे जातमधः ३३ ऊर्ध्वं च १९ । अस्य च ५७ भागो नाप्यते, नापि ५७ अपेक्षयाऽस्यार्धाधिक्यं, ततस्तत्प्रक्रियामकृत्वैवैकोनविंशतेः १२ भागे लब्धं पदं १, शेषमङ्गुलानि ७ व्यङ्गुलानि ३३, इयं तद्दिने मध्याह्नच्छाया । अथेत इष्टकालच्छाया—

" खमहीकर २१० हतदिवसे विहृते वाञ्छितपलैर्द्युगतशेषैः । लब्धं मध्यपदैर्युग् नग ७ रहितं स्यात् पदच्छाया ॥ १ ॥
शेषमर्क १२ गुणं कृत्वा वाञ्छितैस्तु पलैर्हृतम् । लब्धमङ्गुलसंज्ञं स्यादेवं छायाङ्गुलागमः ॥ २ ॥ "

स्पष्टौ । उदाहरणं यथा—तद्दिनं घट्यः ३१ पलानि ५० अक्षराणि ३९, इदं २१० हतं जातं ६५१०–१०५००–८१९० । षष्ट्या भक्त्वा भक्त्वा उपरि क्षेपे जातमधः ३० तदुपरि १६, तस्याप्यूर्ध्वं ६६८७ । ततोऽस्य द्युगतेति पूर्वाह्णे गतपलैर्भागः, अपराह्णे तु शेषपलैः । अत्र पूर्वानीत १३ घटी ३२ पलसत्कै ८१२ भागे लब्धं पदानि ८, शेषं १९१, तत् १२ गुणनेऽधःस्थ १६ क्षेपे च जातं २३०८, अस्य ८१२ भागे लब्धं अङ्गुलद्वयं २, शेषं ६८४, इदं व्यङ्गुलानयनाय ६० गुणं, अधःस्थ ३० क्षेपे जातं ४१०७०, तस्यापि ८१२ भागे लब्धं व्यङ्गुलानि ५०, शेषं ४७० त्यक्तं । अस्य पद ८ अङ्गुल २ व्यङ्गुल ५० [५१] रूपस्य मध्ये मध्यच्छायापदाङ्गुलव्यङ्गुलक्षेपे पदाङ्कात् ७ कर्षणे च जातं पद २ अङ्गुल १० व्यङ्गुल २३ [२४] । इयं सप्ताङ्गुलशङ्कुच्छाया १३ घटी ३२ पलसमये स्यादित्यागतम् । अथ प्रत्ययार्थमेतच्छायातोऽयं काल आनीयते—

" साद्रि ७ शङ्कुपदैरर्क १२ गुणैर्मध्याङ्गुलोनितैः । द्विवेद ४२ घ्ने दिने भक्ते द्युगतं शेषमाप्यते ॥ १ ॥ "

यथाऽत्र साद्रि ७ शङ्कुपदा ९ र्क १२ गुणाः १०८ अधःस्थ १० अङ्गुलक्षेपे जातं ११८ । इतो मध्यच्छायायाः १ पद ७ अङ्गुलरूपत्वादङ्गुलरूपत्वकरणे १९ अङ्गुलकर्षणे जातं ९९ । अथ तद्दिनमानाङ्कत्रयं ४२ गुणीकृत्य षष्ट्या भक्त्वा भक्त्वोपरि क्षेपे जातं अधः ४२ उपरि २८, तस्याप्युपरि १३१७ । अस्य ९९ भागे लब्धं घटी १३ शेषं ५० । तत् ६० गुणनेऽधःस्थ २८ क्षेपे च जातं ३०२८ । अस्य ९९ भागे लब्धं पलानि ३० शेषं ५८ । तत् ६० गुणनेऽधःस्थ ४२ क्षेपे च जातं ३५२२ । अस्यापि ९९ भागे लब्धमक्षराणि ३५ शेषं ५७, तच्च ९९ अपेक्षयाऽर्धाधिकमित्यतो रूपग्रहणेऽक्षराणि ३६ । अयञ्च ३६ अङ्कः ६० अपेक्षयाऽर्धाधिकोऽस्तीत्यतोऽस्मात् १ पलग्रहणे जातं पलानि ३१, तत आगतं पदे २ अङ्गुलानि १० व्यङ्गुलानि २४, छायायां घटी १३ पल ३१ रूपं घटितदिनं । अपराह्णे त्वेतावत्यां छायायां शेषदिनमेतावत् स्यात् । एकद्विपलविसंवादे च न दोषः, करणान्तरत्वात् । इति प्रसङ्गाच्छायाकालयोरानयनमूचे । अथ प्रस्तावाद् ग्रहाणां च तद्गतीनां च स्फुटीकृतिरुच्यते—

" गतेष्टनाड्यो गुणिता: खखेभैः ८०:–६००–४००–२००, सर्वेक्षनाडीविहृता: कलाद्यम् ।

भुक्तर्क्षेयुक्तं सकला ग्रहाः स्युः, षष्ट्या हतेष्वष्टशतेषु भुक्तिः ॥ १ ॥ " अस्य भाष्यं—

" इष्टात् प्राग्गतनाड्योऽष्टताद्यैर्गुणितास्ततः । सर्वर्क्षघटिका भक्ताः कलाद्याः स्युरिति स्फुटम् ॥ १ ॥
भुक्तऋक्षाष्टशत्यादिप्रमाणसहितास्ततः । षष्टिभक्तेंऽशकादि स्याच्छेषे षष्टिगुणे ततः ॥ २ ॥
सर्वर्क्षघटिकाभक्ते लब्धं स्याद्विकलादिकम् । एवं स्पष्टा ग्रहाः सर्वे कर्त्तव्या गणकोत्तमैः ॥ ३ ॥ "

स्पष्टाः । नवरं अष्टशताद्यैरिति समग्रनक्षत्रसत्कगतनाडीगुणने तद्भोगस्य ८०० कलारूपत्वात् ८०० गुणकारः । आद्यशब्दात् यत्र नक्षत्रपादत्रयस्य द्वयस्य नक्षत्रैकपादस्य वा गतनाड्य इष्टाः, तत्र ६००–४००–२०० रूपाः क्रमाद् गुणकारा इति स्वयमूह्यं । सर्वर्क्षेति, अत्रापि समग्रनक्षत्रतत्पादत्रयद्वयादिसत्काभिरेव सर्वनाडीभिस्तत्र तत्र भजनमूह्यम् । एवं भुक्तऋक्षाष्टशत्यादीत्यत्राप्येकद्वित्रिपादभुक्तत्वसम्भवे २००–४००–६०० कलानां लब्धकलासु क्षेपोऽभ्यूह्यः । ऋक्षशब्देन च राशयोऽप्युच्यन्ते, तेन यदि कत्यपि राशयस्तेन ग्रहेण भुक्ताः स्युस्तदा तेऽप्युपरि लेख्याः । अयमेवार्थो व्यक्तोच्यते—

" इन्दोर्गुण्या गता घट्योऽष्टशत्या प्रतिभं सदा । भौमसूर्य्येज्ञशुक्राणां गुण्या अष्टशतादिभिः ॥ १ ॥
शनिवाक्पतिराहूणां द्विशत्या पादगत्वतः । गता घट्यो हताभ्यांन्हिघट्याप्तं स्यात्कलादिकम् ॥ २ ॥
राहोर्वामगतित्वेन लब्धा या विकलाः कलाः । शोध्यास्ता द्विशतीमध्याच्छेषं भोग्यकला इह ॥ ३ ॥ "

व्याख्या—अष्टशत्येति चन्द्रचारस्य सर्वत्र नक्षत्रापेक्षयैव टिप्पनकेषु लिखनात् । अष्टशतादिभिरिति भौमादीनां चारस्य नक्षत्रापेक्षया राश्यपेक्षयाऽपि च लिखनात्, द्विशत्येति शन्यादीनां चारस्य तु भैऽपादापेक्षयैव लिखनात् तदपेक्षयैव वर्त्तमीयं, तत्र भपादसत्कगतेष्टनाड्यः २०० गुणिता भपादात् पादान्तरसङ्क्रमणान्तरालसर्वघटीभिर्भज्यन्ते, लब्धं कलाद्यं भुक्तं स्यात् । राहोस्तु वामगतित्वेन यल्लभ्यते तत् २०० मध्यात् पात्यते, शेषं राहुणा तस्य पादस्य भोग्यं ज्ञेयं, तस्य च भोग्यऋक्षाष्टशत्यादियोग एव कार्यः, राशयोऽपि तत्र भोग्या एवोपरि देयाः, एवं सूर्यादीनां क्वचित् पादापेक्षया क्वचित् पादद्वयत्रयापेक्षया च स्वधिया वर्तना कार्य्या । केवलमनया रीत्याऽर्काद्याः सप्त ग्रहा भुक्तापेक्षया स्फुटीस्युः, राहुस्तु भोग्यापेक्षया स्फुटीस्यात् । यदि च राहुराश्यङ्कमध्ये षट्कं क्षिप्यते तदा केतुरपि भोग्यापेक्षयैव स्फुटीस्यात् । षष्ट्या हतेष्वष्टशतेषु भुक्तिरिति सर्वर्क्षनाडीविहृतेष्विति शेषः । अयं

भाव:—अष्टशत्या यथासम्भवं षट्चतुर्द्विशतीनां वा षष्ठ्या सङ्गुण्य सर्वर्क्षनाडीभिर्यथायोगं त्रिद्व्येकपादनाडीभिर्वा भागे हृते यल्लभ्यते ग्रिस्थं फलं तत्कलाविकलारूपं ग्रहाणां दैवसिकगतिमानं ज्ञेयम् ॥

अथात्र तात्कालिकानां नवग्रहाणां स्फुटीकरणेनोदाहरणं दर्श्यते–तत्रार्कस्तावत् प्रागेव स्फुटीकृतोऽस्ति, तस्य च द्वादशसङ्क्रान्तिषु क्रमात् कला-विकलारूपं दैवसिकगतिमानं प्राय एवंविधं स्यात्, तथाहि—

" वस्वर्था निधयो ५८-९ नवेषुसधृतिः ५९-१८ द्विः षट्शरं ५६-५६ त्र्यूनिका,
षष्टिर्द्वादश ५७-१२ कुञ्जरेषुगगनं ५८-० चैकोनषष्टिर्हया: ५९-७ ।
षष्टिर्विश्वयुता ६०-१३ कुषट् च सगुणा ६१-३ कवङ्क द्वियुग्विंशतिः ६१ २२,
कवङ्कं सन्निधि ६१-९ षष्टिकाम् युगयुगं २२ खेटेषु धृत्या युतम् ५९-१८ ॥ १ ॥ "

इन्दुस्तु तद्दिने पुष्येऽस्ति तस्य गतघट्यः कार्यसमये १७ ता: ८०० गुणाः, जातं १३६०० । पुष्यसर्वघट्यः ६६, ताभिर्भागे लब्धकलाः २०६ विकलाः ३ शेषं ४२, तस्य ६६ अपेक्षयाऽर्धाभ्यधिकत्वाद्विकलाः ४ । पुनर्वस्वोरन्त्यपादस्य २०० कला: कलामध्ये क्षिप्ता:, जाताः कलाः ४०६, आसां ६० भागे लब्धं ६ अंशाः कलाः ४६ विकलाः ४ । भुक्तराशित्रयमुपरि दत्तं जातस्तदानीं स्पष्टेन्दुः ३-६-४६-४ । तद्गतिस्तु कलाः ७२० विकलाः १६ ॥ अथ भौमस्तद्दिनेषूत्तरभद्रपदास्वस्ति । तदा गतघट्यः १४९ । कथं ? उ० भ० मङ्ग० ४४ । तद्दिनशेषघट्यः १६ । कार्य-दिनघट्यः १३ । अन्तरालदिनद्वयस्य घट्यः १२० मीलने १४९ । ताः ८०० गुणा जातं ११९२०० । सर्व्वर्क्षनाड्यः १०२२ । आभिर्भागे लब्धं कलाः ११६ विकलाः ३८ । पूर्वभद्रपदान्त्यपादमस्क २०० कलाक्षेपे जाताः ३१६ कलाः । तासां ६० भागे लब्धं पञ्च ५ अंशाः उपरि ११ राशि-दाने जातः स्पष्टो भौमः ११-५-१६-३८ । तद्गतिस्तु कलाः ४६ विकलाः ५८ ।

अथ बुधस्तद्दिनेषु वृषे कृत्तिकास्वस्ति । तदानीं गतघट्यः १७० । कथं ? वृषे बुधः २३, तद्दिनशेषघट्यः ३७ । कार्यदिनघट्यः १३ । अन्तरा-लदिनद्वयघट्यः १२० मीलने १७० । ताः कृत्तिकापादत्रयस्यैव वृषस्थत्वात् ६०० गुणा जातं १०२००० । अथेह वृषे बु० इत्यत आरभ्य रोहि०

बु० इत्यतोऽर्वाक् पादत्रयस्य यास्ताः सर्वर्क्षनाड्यः ४५७ । ताभिर्भागे लब्धं कलाः २२३ विकलाः ११ शेषं ३१३, तस्य ४५७ अपेक्षयाऽर्धाधिक्याद्विकलाः १२ । कलानां ६० भागे लब्धं ३ अंशाः उपरि भुक्तराशि १ दाने जातः स्पष्टो बुधः १–३–४३–१२ । तद्गतिरपि षट्शत्या एव ६० गुणने पादत्रयं नाडीभि ४५७ भंजने च जाताः कलाः ७८ विकलाः ४६ ॥

अथ गुरुस्तद्दिनेष्वार्द्राद्यपादेऽस्ति । तदानीं गतघट्यः २७६ । कथं ? रौद्रे प्र० गु० ३७ । तद्दिनशेषनाड्यः २३ । कार्यदिनघट्यः १३ । अन्तरालदिनचतुष्कघट्यः २४० मीलने २७६ । ता गुरोः पादगतत्वात् २०० गुणाः जातं ५५२०० । आर्द्राद्यपादभोगसर्वनाड्यः ११९२ । ताभिर्भागे लब्धं कलाः ४६ विकलाः १८ मृगार्धसत्काः ४०० कलाः कलासु क्षिप्ताः जातं ४४६ । तासां ६० भागे लब्धं ७ अंशाः उपरि भुक्तराशिद्वयदाने जातः स्पष्टो गुरुः २–७–२६–१८ । तद्गतिरपि द्विशत्या एव ६० गुणने आर्द्रैकपादसर्वनाडीभिर्भजने च जाताः कलाः १० विकलाः ४ ॥

अथ शुक्रस्तद्दिनेषु पूर्वभद्रपदास्वस्ति । तदानीं गतघट्यः ५४१ । कथं ? पू० भ० सि० १२ तद्दिनशेषघट्यः ४८ । इष्टदिनघट्यः १३ । अन्तरालदिन ८ घट्यः ४८० मीलने ५४१ । ताः पूर्वभद्रपदपादत्रयस्यैव कुम्भसत्कत्वात् ६०० गुणाः जातं ३२४६०० । अथ मीने सि० इत्यतोऽर्वाग् यास्ता एव सर्वनाड्यः ५८२ । आभिर्भागे लब्धं कलाः ५५७ विकलाः ४४ भुक्तनवांशानां षण्णां कलाः १२०० कलासु क्षिप्ता जाताः १७५७ कलाः विकलाः ४४ । आसां ६० भागे लब्धाः २९ अंशाः उपरि १० राशिदाने जातः स्पष्टः शुक्रः १०–२९–१७–४४ । तद्गतिस्तु कलाः ६१ विकलाः ५१ ॥ अथ शनिर्वक्री तद्दिनेष्वनुराधातुर्यपादेऽस्ति । तदानीं गतघट्यः १४७७ । कथं पुनरनु० च श० ३६ । तद्दिनशेषघट्यः २४ । इष्टदिनघट्यः १३ । अन्तरालदिन २४ घट्यः १४४० मीलने १४७७ ताः शनेः पादगतत्वात् २०० गुणाः जातं २९५४०० तुर्यपादभोगसर्वघट्यः ४१८२ । आभिर्भागे लब्धं कलाः ७० विकलाः ३८ । इदं शनेर्वक्रित्वात् २०० मध्यात् कर्षणे जातं १२९ कलाः २२ विकलाश्च । उपरितननवांशचतुष्कसत्क ८०० क्षेपे जाताः ९२९ कलाः । आसां ६० भागे लब्धं १५ अंशाः उपरि ७ राशिदाने जातः स्पष्टः शनिः ७–१५–२९–२२ । तद्गतिस्तु कलाः २ विकलाः ५२ ॥ अथ राहुस्तदा चित्रान्त्यपादेऽस्ति । तदानीं गतनाड्यः १२८३ । कथं ? चित्रा० च० रा० ५० । तद्दिनशेषघट्यः १० । कार्यदिनघट्यः १३ । अन्तरालदिनानि २१, तद्घट्यः १२६० मीलने १२८३ । ता राहोः पादगतत्वात् २०० गुणाः जातं २५६६०० । अत्र

चित्रान्त्यपादभोगसर्वनाड्यः ३७७४। आभिर्भागे लब्धं कलाः ६७ विकलाः ५९। आसां २०० मध्यात् पातने जातं कलाः १३२ विकला १। कन्यामध्ये चित्रातृतीयपादसत्क २०० कलाः क्षिप्ताः, जाताः कलाः ३३२। कलानां ६० भागे लब्धं ५ अंशाः। उपरि ६ राशिदाने जातो भोग्यापेक्षया स्पष्टो राहुः ६–५–३२–१। गतिस्तु कलाः ३ विकलाः ११॥ राहो राश्यङ्के ६ क्षेपे जातः स्पष्टः केतुः ०–५–३२–१। तद्गतिस्तु राहुवदेव।

अत्र तात्कालिकस्पष्टीकृतनवग्रहाणां सगतिकानां स्थापना यथा–

१	२	३	४	५	६	७	८	९
रवि	चन्द्र	मंगल	बुध	गुरु	शुक्र	शनि	राहु	केतु
०	३	११	१	२	१०	७	६	०
१६	६	५	३	७	२९	१५	५	५
३	४६	१६	४३	२६	१७	२९	३२	३२
३०	४	३८	१२	१८	४४	२२	१	१
५८	७२७	४६	७८	१०	६१	२	३	३
९	१६	५८	४६	४	५१	५२	११	११

ननु ग्रहाणां गतेः स्पष्टीकृतौ किं फलं? उच्यते–कलाविकलारूपया प्रतिदिनगत्या पूर्वकार्यवेलायां स्पष्टीकृतग्रहकालादनन्तरं द्वितीयकार्यकालादर्वाक् यावत्यो घट्यो गताः स्युस्ताः स्थानद्वये संस्थाप्य क्रमाद्गुण्यन्ते। ततः षष्ट्या भागे लब्धं कलादिकं पूर्वकार्यवेलायां स्पष्टीकृतग्रहमध्ये क्षिप्यते। वक्रिग्रहमध्यात् भोग्यापेक्षास्पष्टीकृतराहुमध्याच्च कर्ष्यते। ततो द्वितीयकार्यवेलायां ग्रहाः स्पष्टाः स्युः। यथा प्रागुक्त एव वर्षमासपक्षे १३ दिने हस्तार्केऽष्टघटीघटने केनचित् कार्यमिष्टं तद्वेलायाः प्रागुदाहृतवेलायाश्चान्तरं घट्यः ३५५। कथं? वैशाखशुक्लसप्तम्याः १३ घट्यः प्रागुदाहृताः। तद्दिनशेषघट्यः ४७। हस्तार्कदिनस्य ८ घट्यः। अन्तरालदिनानि ५ तद्घट्यः ३०० मीलने ३५५। मेषस्थार्कस्य गतिश्च ५८–९ रूपा। अनया ३५५ स्थानद्वये गुण्यते, स्थापना ५८/९ 355.355 जातौ राशी 20590/3195 अधः ६० भागे लब्धं ५३ उपरि क्षिप्तं जातं २०६४३। अस्य ६० भागे लब्धं कलाः ३४४ शेषं विकलाः ३। एवमन्येषामपि ग्रहाणां कला आनीताः ताश्चैवं जातास्तथाहि। स्थापना—

	रवि	चन्द्र	मंगल	बुध	गुरु	शुक्र	शनि	राहु	केतु
कलाः	३४४	४३०२	२७७	४६६	५९	३६५	१६	१८	१८
विकलाः	३	५९	५३	२	३३	५६	५७	५०	५०

एताभिः संस्कृताः प्रागानीतग्रहा द्वितीयकार्यसमये एवंविधा जाताः, तथाहि—

अथ ये ग्रहा अनन्तरमेव कृतवक्रा वक्राभिमुखा वा मार्गीभूता मार्गाभिमुखा वा स्युस्तेषां स्फुटीकृतिरुच्यते—

रवि	चन्द्र	मंगल	बुध	गुरु	शुक्र	शनि	राहु	केतु
०	५	११	१	२	११	७	६	०
२१	१८	९	११	८	५	१५	५	५
४७	२९	५४	२९	२५	२३	१२	१३	१३
३३	३	३१	१४	५१	४०	२५	११	११

" वक्राग्रपश्चिमे भुक्ता भोग्या मार्गाग्रपश्चिमे ।
अन्तरांशकला ग्राह्यास्तासां सीमा च सर्वभम् ॥ १ ॥
वक्रादूर्ध्वे फलं लब्धं भुक्तभागौघतस्त्यजेत् ।
सभोग्यभुक्तभागौघास्त्याज्यं मार्गादितः फलम् ॥२॥ " अनयोर्भाष्यम्—

" वक्रात् पूर्वंगता नाड्यो हताः स्वर्क्षकलादिभिः । सीमान्तसर्वभघटीविभक्ताः स्युः स्फुटं कलाः ॥ ३ ॥
शेषे षष्टिगुणे सर्वर्क्षलब्धे विकलागमः । भुक्तर्क्षयुक्ते तत्राङ्के षष्टिभक्तेंऽशकादिकम् ॥ ४ ॥
वक्रपश्चादपीत्थं स्यात्सीमाधिष्ण्येऽग्रतः स्थिते । लब्धं फलं पुनस्त्याज्यं भुक्तभागौघतस्तदा ॥ ५ ॥
मार्गात् पूर्वगता घट्यो गुण्या भोग्यकलादिभिः । शेषं प्राग्वद्भोग्ययुक्तभुक्तांशेभ्यः फलं त्यजेत् ॥ ६ ॥ "
मार्गपश्चात्तु रूढ्येति वक्रिमार्गिग्रहाः स्फुटाः ।" इति ।

एषां व्याख्या—वक्राग्रपश्चिमे इति, वक्रीभवनादनन्तरमर्वाक् चेत्यर्थः। मार्गाग्रपश्चिमे इति, मार्गीभवनादनन्तरमर्वाक् चेत्यर्थः। अन्तरांशकला ग्राह्या इति, यथा स्वभावगतेर्ग्रहस्य स्फुटीकर्तुं गतेष्टनाडीनां ८०० कलाभिर्गुणनमुक्तं, तथाऽत्र वक्रिमार्गीभवनसमयटिप्पनकलिखितभुक्तभागकलाभिर्गुणनं कार्यम् । केवलं वक्रीभवनस्योभयतो भुक्तकलाभिर्मार्गीभवनस्योभयतस्तु भोग्यकलाभिरिति। तासां सीमा च सर्वभमिति तासां प्रस्तावात्सर्वनाडीनां । अयमर्थः—यथाऽन्यत्र सर्वर्क्षनाडीभिर्भाग उक्तस्तथा इष्टसमये तद्ग्रहाऽऽक्रान्तनक्षत्रस्य तत्पादस्य वा लग्नादारभ्य वक्रिमार्गीभवनं यावत् । अथवा वक्रिमार्गीभवनादारभ्य नक्षत्रान्तरे तत्पादान्तरे वा सङ्क्रमणं यावद्याः सर्वघट्यस्ताभिर्भागो देयः । ततश्च वक्रादूर्ध्वमिति यदि वक्रीभवनानन्तरं ग्रहः स्पष्टीक्रियमाणोऽस्ति तदा यल्लब्धं कलादिकं फलं तद्वक्रीभवनसमयटिप्पनकलिखितभुक्तभागकलादिमध्यात् कर्षणीयं । वक्रात् प्रथमं तु गतेष्टनाडीनां यथोक्तरीत्या भुक्तकलाभिर्गुणनं सर्वघटीभिर्भजनं च विधाय लब्धं भुक्तर्क्षयुक्तं कार्यमिति सुगममेव । मार्गादित इति, यदि मार्गीभवनादर्वाग् ग्रहः स्पष्टीक्रियमाणोऽस्ति तदा मार्गीभवनसमयटिप्पनकलिखितभुक्तभागकलामध्ये तस्यैव भोग्यं भागकलादिकं सम्मील्य तत्पिण्डमध्याल्लब्धं कलादिकं शोध्यते,

मार्गीभवनानन्तरं तुं रूल्येति, कोऽर्थः ? यथ स्वभावगतीनां ग्रहाणां कला आनीय भुक्तर्क्षयोगः क्रियते तथा सोऽत्रापि कार्यः, एवं वक्रिणो मार्गिण-स्तथात्वाभिमुखाश्च ग्रहाः स्पष्टीस्युः । इदं बुधशुक्राभ्यामुदाह्रियते तयोः प्रायो वक्रिमार्गित्वस्य बहुशो भवनात् ।

तत्र वक्रादूर्ध्वं वर्त्तनैवं कार्या–वृषराशौ वक्रितस्य बुधस्य वर्तनं यथा–वक्रदिनशेषघट्यः २६, लग्नदिनघट्यः १०, अन्तरालदिन ४ घट्यः २४० मीलने २७६ । एतत् पृथक्कृत्वा स्थाप्यते । ततो बुधस्य वक्रीभवनदिने वृषराशिभुक्तं टिप्पनकलिखितं यथा भागाः २५ कलाः ४४, इदं सर्व्वं कलीकृतं जातं १५४४ । अस्मात् कृत्तिकापादत्रयरोहिणीसत्काः १४०० कलाः कृष्यन्ते, शेषं १४४, इदं मृगशीर्षस्य भुक्तं । एतेन वक्राग्रपश्चिमेऽन्तरांशकला भुक्ता ग्राह्या इति व्याख्यातं । ततोऽनेन १४४ मृगशिरोभुक्तेन पूर्वमीलिता गतेष्टघट्यो २७६ गुण्यन्ते, जातं ३९७४४ । ततष्टिप्पनकं निरीक्ष्यते । वक्रदिनादारभ्य पुना रोहिण्यां बुधः घट्यः ७ इत्यन्त यावद् घट्यः सर्वा एकत्र मीलयन्ते, तथाहि–वक्रदिनशेषघट्यः २६, पुना रोहिण्यां बुधः घट्यः ७, अन्तरालदिन ६ घटयः ३६०, सर्व्वासां मीलने जातं ३९३ । अनेन सर्वर्क्षनाडीरूपेण पूर्वोक्ताङ्कस्य ३९७४४ भागे लब्धं कलाः १०१ विकलाः ८ । इदं पूर्वोक्तान्मृगशीर्षभुक्तात् १४४ रूपात् शोध्यते । एतेन वक्रादूर्ध्वं फल लब्धं भुक्तभागौघतस्त्यजेदिति व्याख्यातं । कृष्टशेषं कलाः ४२ विकलाः ५२, इदं कृत्तिकापादत्रयरोहिणीसत्क १४०० कलायुक्तं कृतं, जातं कलाः १४४२ विकलाः ५२ । कलानां ६० भागे लब्धं २४ अंशाः, उपरि भुक्त १ राशिदाने जातः स्पष्टो बुधः १–२४–२–५२ । अथ गतिः–अष्टशतीस्थानीयोऽङ्कः १४४ रूपः ६० सङ्गुण्य सर्वर्क्षनाडीभिः ३९३ रूपाभिर्भक्तः, लब्धं कलाः २१ विकलाः ५९ । इयं वक्रादूर्ध्वं लग्नदिने बुधगतिः । गतिस्पष्टीकृतेः फलं प्राग्वत् । नवरमनया गत्या गतेष्टघटीनां प्रागुक्तरीत्या गुणने यत्कलादिकं फलं लभ्यते, तद् द्वितीयकार्यवेलायां पूर्वकार्यकालिकग्रहेभ्यः शोध्यते, ततस्तद्वेलाग्रहाः स्पष्टीस्युः ॥

अथ वक्रात् पूर्वं वर्तनैवम्–पुनर्वसुशुक्रः घट्यः ५९ इति दिनानन्तरं द्वितीये दिने १० घट्यनन्तरं लग्नं गृह्यमाणमस्ति, अतो लग्नदिनघट्यः १० पुनर्वसुशुक्रागमनदिनशेषघटी १ मीलने ११ । ततष्टिप्पनकं निरीक्ष्यते कदा शुक्रो वक्रीभविष्यतीति, ततो लग्नदिनादनु वक्री सितः घट्यः ४९ भागाः २१ कलाः १० इति टिप्पनके लिखितं दृष्टं । एतच्च भागादि सर्व्वं कलीकृतं जातं १२७०, एतन्मध्यान्मृगार्धाऽऽर्द्रासत्का १२०० कलाः कृष्यन्ते, शेषं ७० । इदं पुनर्वसुभुक्तं । एतेन वक्रादग्रे पूर्वं चान्तरांशकला भुक्ता ग्राह्या इति व्याख्यातं । ततोऽनेन ७० पुनर्वसुभुक्तेन गतेष्टघट्यो ११

गुण्यन्ते, जातं ७७० । ततः पुनष्टिप्पनकं विलोक्यते शुक्रपुनर्वस्वागमनदिनशेषघटी १ वक्रदिनघटी ४९ अन्तरालदिन ५ घटी ३०० मीलने ३५० । आभिः सर्वर्क्षनाडीभिः पूर्वोक्ताङ्कस्य ७७० भागे लब्धं कले २ विकलाः १२ । इदं लग्नवेलायां शुक्रेण पुनर्वस्वोर्भुक्तं इदं मृगार्द्राऽऽर्द्रात्मक १२०० कलामध्ये क्षिप्तं जातं कलाः १२०२ विकलाः १२ । कलानां ६० भागे लब्धं २० भागाः । उपरि राशिद्वयदाने जातो लग्नवेलायां स्पष्टः शुक्रः २–२०–२–१२ । अथ गतिः–अष्टशतीस्थानीयः ७० रूपोऽङ्कः ६० सङ्गुण्य सर्वर्क्षनाडीभिः ३५० रूपाभिर्भक्तः, लब्धं कला: १२ विकला ०। इयं वक्रात्पूर्वं लग्नदिने शुक्रगतिः । अनया गत्या गुणने च यत् कलादिकं फलं लभ्यते तत्पूर्वकालीनग्रहेषु योज्यम् ॥

अथ मार्गात्पूर्वं वर्त्तनैवं–पुना रोहिण्यां बुधः घट्यः ७ इतिलिखितोपलक्षितादनन्तरमष्टमे दिने पञ्चघट्यनन्तरं लग्नं गृह्यमाणमस्ति, अतो लग्नदिनघटयः ५ पुना रोहिण्यां बुध इत्येतद्दिनस्य शेषघट्यः ५३ अन्तरालदिन ७ घट्यः ४२० मीलने ४७८, एता गतेष्टनाड्यः । ततष्टिप्पनकं निरीक्ष्यते, तत्र लग्नदिनादनन्तरं सप्तमे दिने मार्गी बुधः घट्यः ४५ भागाः १३ कला: १३ विकलाः ८ इति लिखितं दृष्टं । तत इदं भागादिकं कलीकृतं जातं ७९३ विकला: ८, एतच्च टिप्पनके लिखितं बुधेन वृषस्य भुक्तं ज्ञेयं, भोग्यं तु कलाः १००६ विकलाः ५२, अनेन भोग्येन गतेष्टनाड्यः ४७८ स्थानद्वये न्यस्य क्रमाद्गुण्यन्ते, स्थापना यथा–१००६/४७८ । एतेन भोग्या मार्गाग्रपश्चिमे इतिवचनादत्र भोग्या एव कला गतेष्टनाडीगणनाय गृहीताः । गुणने च क्रमाज्जातं ४८०८६८/२४८५६ अधो ६० भागे लब्धं ४१४ आद्ये क्षिप्तं जातं ४८१२८२ ततः पुना रोहिण्यां बुध इत्येतद्दिनस्य शेषघट्यः ५३ मार्गी बुध इति दिनस्य घट्यः ४५ अन्तरालदिन १४ घट्यः ८४० मीलने ९३८। आभिः सर्वर्क्षनाडीभिः पूर्वोक्ताङ्कस्य ४८१२८२ भागे लब्धं कला: ५१३ विकलाः ६, एतच्च लब्धं फलं लग्नदिनादष्टमे दिने टिप्पनकलिखितात् मार्गी बुधः भाग १३ कला १२ विकला ८ रूपात् वृषराशिभुक्ताद्भोग्यकला १००६ विकला ८ सहितात् मीलने १८०० कलारूपीभूतात् शोध्यते सभोग्यभुक्तभागौघात्स्याज्यं मार्गादितः फलमितिवचनात् जातं १२८६ कलाः ५४ विकलाश्च । कलानां ६० भागे लब्धं २१ भागाः कलाः २६ विकला: ५४ । इदं मार्गात् पूर्वं लग्नदिने बुधेन वृषराशेर्भुक्तं । उपरि १ राशिदाने जातः स्पष्टो बुधः १–२१–२६–५४ । गतिस्तु १००६–५२ इत्याद्याङ्कस्य ६० सङ्गुण्य ९३८ सर्वर्क्षनाडीभिर्भजने लब्धं कलाः ६४ विकलाः १३ । अनया लब्धं कलाद्यं पूर्वग्रहेभ्यः शोध्यम् ॥

मार्गावूर्ध्वं त्वेवं वर्तनीयं—मार्गी बुध॰ ४५ इति भवनादनु सप्तमे दिने सप्तघट्यनन्तरं लग्नं गृह्यमाणमस्ति । ततो मार्गी बुधः ४५ दिनस्य शेषघटी १५ लग्नदिनघटी ७ अन्तरालदिन ६ घटी ३६० मीलने ३८२ । एता गतेष्टनाड्यः स्थानद्वये न्यस्य मार्गी बुधः घट्यः ४५—भागाः १३—कलाः १३—विकलाः ८, एवं टिप्पनकलिखितशेषाभिर्भोग्यकलाविकलाभिः १००६-५२ क्रमाद्गुण्यन्ते भोग्यमार्गाग्रपश्चिमे इति वचनात् जात ३८४६२३—४ । ततः पुनष्टिप्पनकं निरीक्ष्यते मार्गीभवनादनु १४ दिने मृगे बुधः ४७ इति लिखितं दृष्टं । ततो बुधमार्गीभवनदिनशेषघटी १५ मृगे बुधागमनदिनघटी ४७ अन्तरालदिन १३ घटी ७८० मीलने ८४२ । आभिः सर्वर्क्षनाडीभिः पूर्वोक्ताङ्कस्य ३८४६२३ भागे लब्धं कलाः ४५६ विकलाः ४८ । कलानां ६० भागे लब्धं ७ भागाः शेषं कलाः ३६ विकलाः ४८, इद मार्गीभवनदिनलिखितभाग १३ कला १३ विकला ८ मध्ये क्षिप्तं मार्गे पश्चात्तु रूक्ष्ये-तिवचनात् जातं भागाः २० कलाः ४९ विकलाः ५५, इदं लग्नवेलायां बुधेन वृषराशेर्भुक्तं । उपरि १ राशिदाने जातः स्पष्टो बुधः १—२०—४९—५५ । गतिस्तु १००६—५२ इत्याद्याङ्कस्य ६० गुणने २८२ सर्वर्क्षनाडीभिर्भागे लब्धं कलाः ७१ विकलाः ३३ । अनया लब्धं कलाद्यं फलं पूर्वानीत-ग्रहेषु योज्यं । एवमन्येषामपि ग्रहाणां वर्तनोक्तानुसारेण स्वधिया कार्या । इदं सर्वं ज्योतिर्विदां सर्वदेष्टत्वात् प्रस्तावाच्च दर्शितम् ॥

अथ विवाहे गोधूलिकलग्नमाह—

सन्ध्यालग्नमपि श्रेयो गोखुरोत्खातधूलिभिः । गोपानां हीनवर्णानां प्राच्यां च स्यात्करग्रहे ॥ ७३ ॥

व्याख्या—सूर्यस्यास्तसमयेऽर्द्धबिम्बभवनादनु गोखुरोत्खातधूलयो यावन्न शाम्यन्ति तावद्गोधूलिकलग्नसमयः, अत एव धूलिभिरित्युक्तं याव-त्तारा नेक्ष्यन्ते तावदिति भावः । अभ्रच्छन्ने त्वर्के अपुनानाटपत्रमीलनशकुनिकुलकोलाहलकुलायौत्सुक्यादिलिङ्गैर्निर्णेयं । श्रेय इति लोकरूढ्योक्तम् । हीनव-र्णानामिति सामान्येनोक्तं, यद्गदाधरः-“घटिकालग्नाभावेऽङ्गीकार्यं गोरजोऽपि विप्रैश्च” । इति ॥ अथ गोधूलिके एतावत्येव शुद्धिरपेक्ष्यत इत्याह—

शीतद्युतिं षष्ठमथाष्टमं च, भद्रार्धयामौ कुलिकं च हित्वा । विनापि लग्नांशखगानुकूल्यं, गोधूलिकं प्राग्रहरं वदन्ति ॥

व्याख्या—षष्ठमिति लग्नात् षष्ठाष्टमेन्दुः कन्यामृत्युदः, भौमोऽपि मूर्त्यष्टमगः पत्युर्मृत्युदत्वात्त्याज्य एवेति सारङ्गः । अर्धयामौ कुलिकं चेति, अनेन गोधूलिके गुरुशनिवारौ त्याज्यौ तद्दिनयोस्तदार्नीं क्रमेणार्धयामकुलिकोत्पत्तेरित्यसूचि । केशवार्कस्त्वाह—

" सार्के शनौ चिरविचित्रशिखण्डिसूनौ, तत्केवलं कुलिकयामदलोपलम्भात् । " इति ।

अत्र सार्कमिति शनौ सूर्ये सति गोधूलिकं कार्यं, पश्चात् कुलिकभवनात् । गुरौ तु सूर्यास्तादनु कार्यं, प्रथममर्धयामसद्भावादिति । खगाग्रहाः । विनाऽपीत्युक्तेऽपि च किल क्रान्तिसाम्यादयो बृहद्दोषास्त्याज्या एव । यदुक्तं व्यवहारप्रकाशे—

" क्रूरैर्युतं नक्षत्रं व्यतिपातं वैधृतिं च सङ्क्रान्तिम् । क्षीणं चन्द्रं ग्रहणभशनिगुरुदिनक्रान्तिसाम्यानि ॥ १ ॥
दम्पत्योरष्टमभं लग्नात् षष्ठाष्टमं च शीतांशुम् । रविजीवयोरशुद्धिं विवर्ज्य गोधूलिकं शुभदम् ॥ २ ॥
गोधूलिकपरिणयने येषां केन्द्रोपगः शुभो न मृतौ ॥ ३ ॥

प्राग्रहरमिति दोषान्तरैरजय्यत्वात् प्रधानं । यत्सारङ्गः—

" जामित्रं न विचिन्तयेद्ग्रहयुतं लग्नाच्छशाङ्कात्तथा, नो वेधं न कुवासरं न च गतं नागामि भं पाप्मभिः ।
नो होरां न नवांशकं न च खगान्मूर्त्यादिभावस्थितान्, हित्वा चन्द्रमसं षडष्टमगतं गोधूलिकं शस्यते ॥ १ ॥ "

अत्र यद्यपि षष्ठाष्टमेन्दुत्याग एवापेक्ष्यते, न त्वन्यत् किमपीत्युक्तं, तथापीदं ज्ञेयं-गोधूलिकलग्नेऽपि वैवाहिकमेव भं, तच्छुद्धिर्वर्षमासपक्षदिनशुद्धयश्चावश्यं गवेष्यन्त एवेति । अत्राह परः-यदि दोषान्तराजय्यत्वाद्गोधूलिकस्य प्राधान्यं तदा पूर्वोक्तलग्नादिफलानामप्राधान्यापातः, सत्यं, अनुल्लङ्घ्य(धित,कुलदेशधर्मानुसारात्तेषां क्वचिदप्राधान्यापातोऽपि नानिष्टः । यदुक्तं—

" न शास्त्रदृष्ट्या विदुषां कदाचिदुल्लङ्घनीयाः कुलदेशधर्म्माः । देशे गतोऽप्येकविलोचनानां निमील्य नेत्रं निवसेन्मनीषी ॥ १ ॥ "

एवं यथोक्तकुलदेशेषु गोधूलिकस्यैव प्राधान्यं, न तु लग्नादिफलानामिति न कश्चिद्दोषः । अपि च न केवलं गोधूलिकविषया एव ग्रहगोचरादिविषया अपि कुलदेशधर्माः सन्ति । तथाहि-विवाहे नागराणां षडष्टमकाद्यगणनं । भार्गवेषु भाद्रपदसितदशम्यामेव विवाहः । एते कुलधर्माः । देशधर्मा यथा-गौडदेशीयाः सूर्यं गोचरेण श्रेष्ठमपेक्षन्ते, गुरु त्वष्टकवर्गेण । दाक्षिणात्या गुरुं गोचरेण श्रेष्ठमिच्छन्ति, सूर्यं त्वष्टकवर्गेण । लाटदेशीया रविगुर्वोरष्टकवर्गं गोचरं चेच्छन्ति । मालवीयानां गोचरो न प्रमाणं, किन्त्वष्टकवर्ग एव प्रमाणं । शेषेषु देशेषु गोचरोऽष्टकवर्गश्च प्रमाणम् ॥

अथ पूर्वोक्तच्छायालग्नसमानबलं ध्रुवलग्नमाह—

स्युर्दीक्षास्थापनादीनि ध्रुवचक्रे तिरःस्थिते । ऊर्ध्वे त्वातध्वजोच्छ्रायप्रायाणि प्रायशः श्रिये ॥ ७५ ॥

व्याख्या—स्थापना प्रतिष्ठा, आदिशब्दादन्यदपि स्थिरकर्म । तिर इति तिर्यक् । ऊर्ध्व इति ऊर्ध्वस्थिते ध्रुवस्य परितः स्थितं शृङ्खलकं ह्यप्रदक्षिणकं भ्राम्यदहोरात्रे द्विस्तिर्यक् स्यात् द्विश्चोर्ध्वं । ततश्च—

" तिर्यगूर्ध्वे स्थिते चक्रे तत्प्रान्तगततारके । समसूत्रे यदा स्यातां ध्रुवलग्नं भवेत्तदा ॥ १ ॥ "

तत्समयश्चातिसूक्ष्मग्राहिण्या स्वदृशा ध्रुवभ्रमयन्त्रेण वा निर्णेयः । स्थूरवृत्त्या त्वेवं पूर्वाचार्यैर्निर्णीतोऽस्ति । तथाहि—

" उदए महाधणिट्ठाण उड्ढं अणुराहकित्ति धुअ तिरिओ " त्ति ।

परमुद्यमानत्वं भस्य तथा स्पष्टं दृग्गोचरीकर्तुं न पार्यते, तेन शिरःस्थनक्षत्रापेक्षया ध्रुवलग्नस्वरूपं कथ्यते, तथाहि—अश्लेषायां श्रवणे च मस्तकादुत्तरति सति ध्रुवस्तिरश्चीनः स्यात् । भरण्यां विशाखायाञ्च मस्तकादुत्तरन्त्यां ध्रुव ऊर्ध्वः स्यादिति, तथा—

" स्यादूर्ध्वो मृगकर्के तु समस्तिर्यक् तुलाजयोः । यथा तथा तु शेषेषु लग्नेषु स्याध्ध्रुवं ध्रुवः ॥ १ ॥ "

तद्वेला च तादात्विकोदयलग्ननवांशमात्रीत्येके । तस्यापि मध्यमत्रिभागमात्रीति त्वन्ये । रात्रिजमेव तिर्यगूर्ध्वत्वं ध्रुवलग्नमुच्यते, न तु दिनजं, रविकरलुप्तत्वात् । प्रायाणीति, प्रायशब्दाद्यात्रादिग्रहणम् । यदुक्तम्—

" पृष्ठतो वा रविं कृत्वा गच्छेद्दक्षिणगं तथा । उत्तानपादपुत्रस्य शेखरे चोर्ध्वसंस्थिते ॥ १ ॥ "

अत्रोत्तानपादपुत्रो ध्रुवः । हर्षप्रकाशेऽपि ध्रुवलग्नमूचे, तथाहि—

"जइ पुण तुरिअं कज्जं हविज्ज लग्गं न लब्भए सुद्धं । ता छायाधुवलग्गं गहिअव्वं सयलकज्जेसु ॥ १ ॥" अत्र राजाद्यभिषेकमाह—

अभिषिक्तो महीपालः श्रुतिज्येष्ठालघुध्रुवैः । मृगानुराधापौष्णैश्च चिरं शास्ति वसुन्धराम् ॥ ७६ ॥

व्याख्या—एवमभिषेकभानि त्रयोदश ॥

सबलत्वे जन्मदशा लग्नेशानां कुजार्कयोरपि च । राज्ञां शुभोऽभिषेकः सितगुरुशशिनां च वैपुल्ये ॥ ७७ ॥

व्याख्या—जन्मनि यत्रेन्दुस्तद्राशीशो जन्मेशः । अभिषेकसमये यस्य ग्रहस्य दशाऽस्ति स दशेशः । जन्मलग्नपतिर्लग्नेशः । वैपुल्यं बहुदिनोदितत्वेन विशालबिम्बत्वं सत्किरणत्वं च ॥

भूत्यै स्वस्वत्रिकोणो १ च २ गृह ३ मित्रर्क्ष ४ गैर्ग्रहैः । अभिषेको न नीचारिक्षेत्रगास्तमितैः पुनः ॥ ७८ ॥

व्याख्या—स्वस्वेति पदं त्रिकोणादिचतुष्केऽपि योज्यं । एतैरीदृशैरेवाभिषेकः श्रेष्ठः । यतः—

"सुहृत्त्रिकोणस्वगृहोच्चसंस्थाः, श्रियं च कीर्त्तिं च दिशन्ति खेटाः । अस्तङ्गताः शत्रुभनीचगा वा, भयाय शोकाय भवन्ति राज्ञाम् ॥१॥"

ग्रहैरिति सामान्योक्तेऽपि विशिष्य गुर्विन्दुशुक्रैर्जन्मदशालग्नेशदिनवारैश्च । यल्लल्लः—

" विशेषाज्जन्मलग्नेशदशेशदिनभर्तृषु । यस्मात्तस्मात् प्रयत्नेन सौस्थ्यमेषां प्रकल्पयेत् ॥ १ ॥ "

ताराबले शशिबले शुद्धौ तिथिवारधिष्ण्ययोगानाम् । त्रिषडायस्थैः पापैः सौम्यैस्त्र्यायत्रिकोणकेन्द्रगतैः ॥ ७९ ॥

व्याख्या—तारेन्द्वोर्द्वयोरपि बलं राज्याभिषेकेऽवश्यं ग्राह्यं, तेन शुक्लकृष्णपक्षापेक्षयोभयोर्बलमिति न व्याख्येयं । तिथेः शुद्धिर्दग्धरिक्तादित्यागात् । वारशुद्धिः सौम्यवारैः । धिष्ण्यशुद्धिः क्रूराऽऽक्रान्तादित्यागात् । योगशुद्धिर्दुष्टयोगोपयोगवर्जनात् । त्र्यायेति, उपलक्षणत्वाद्धनभवनेऽपि सौम्यग्रहैरेव सहिते । सामर्थ्याच्चेदमपि लभ्यते । अष्टमद्वादशगृहे शून्ये एव भव्ये, तत्रस्थानां शुभानामशुभानां च ग्रहाणामनिष्टदत्वात् ॥

जन्मर्क्षात्तुपचयभे स्थिरेऽथ शीर्षोदयेऽथवा भवने । सौम्यैर्विलोकितयुते न तु पापैर्भूपमभिषिञ्चेत् ॥ ८० ॥

व्याख्या-अभिषिच्यमानस्य पुंसो जन्मराशित उपचयभे लग्नस्थे सति, यद्वा स्थिरे लग्ने, अथवा शीर्षोदयिनि । न तु पापैरिति, क्रूरग्रहैर्दृष्टेऽयुते वेत्यर्थः ॥

यमार्कयोस्त्र्या ३ ऽऽय ११ गयोर्गुरौ तु, सुखा ४ म्बर १० स्थे नृपतिः स्थिरश्रीः ।
यद्वा त्रिकोणो ९-५ दयगे १ सुरेज्ये, शुक्रे नभः १० स्थे क्षितिजे रिपुस्थे ६ ॥ ८१ ॥

व्याख्या—यमः शनिः ॥

अभिषिक्तो बलीयोभिर्ग्रहैः केन्द्रत्रिकोणगैः। क्रूरः पापैः शुभैः सौम्यो मिश्रैः साधारणो भवेत् ॥ ८२ ॥

व्याख्या—यदि केन्द्रत्रिकोणगा बलिनो ग्रहाः सर्वे क्रूरास्तदा नृपः क्रूरः स्यात्। सर्वे शुभाश्चेत्तदा सौम्यः। यदि मिश्राः, कोऽर्थः? केचित् क्रूराः केचिच्च सौम्या इति, तदा साधारणो नातिक्रूरो नातिसौम्यश्च। अपि च "बुधगुरुशुक्रैः सार्कैः" इति, यः श्लोक उपनयाधिकारे प्रोक्तः सोऽत्रापि योज्यः ॥ अभिषेके मृत्युदोषमाह—

चन्द्रे सौम्येऽपि वाऽन्यस्मिन् रिपु ६ रन्ध्र ८ स्थिते ग्रहैः। क्रूरैर्विलोकिते मृत्युरभिषिक्तस्य निश्चितः ॥ ८३ ॥

व्याख्या—विलोकिते इति पुष्टदृष्ट्या ॥ अभिषेके तन्वादिषु पापग्रहस्थितैः फलमाह—

रोगी तनु १ स्थैरधनो धना २ न्त्य १२ गैर्दुःखी च पापैर्नृपतिस्त्रिकोण ५-९ गैः।
पदच्युतोऽस्ता ७ म्बु ४ गतैर्मृति ८ स्थितै-रल्पायुराकाश १० गतैस्त्वकर्म्मकृत् ॥ ८४ ॥

	उत्तम	मध्यम
रवि	३-११	१-२-४-५-६-७-८-९-१०-१२
चन्द्र	१-२-३-४-५-७-९-१०-११	६-८-१२
मंगल	३-६-११	१-२-४-५-७-८-९-१०-१२
बुध	१-२-३-४-५-७-९-१०-११	६-८-१२
गुरु	१-२-३-४-५-७-९-१०-११	६-८-१२
शुक्र	१-२-३-४-५-७-९-१०-११	६-८-१२
शनि	३-११	१-२-४-५-६-७-८-९-१०-१२
राहु	३-६-११	१-२-४-५-७-८-९-१०-१२

व्याख्या—अकर्मकृदिति अकिञ्चित्करो निरुद्यम इत्यर्थः ॥

इति वक्तव्यता येयं भूपालस्याभिषेचने।
आचार्यस्याभिषेकेऽपि सा सर्वाप्यनुवर्तते॥८५॥

व्याख्या—अपिशब्दादन्यत्रापि पदस्थापने। तदेवं राज्याभिषेकसूरिपदादौ कुण्डलिकेयं सिद्धा। तथाहि— विशेषस्तु—

" राजयोगाः खयोगाश्च चन्द्रयोगास्तथायुषः।
सर्वेऽप्यत्र विकल्प्याः स्युर्वास्तुलग्नगुणाश्च ये ॥१॥"

इति दैवज्ञवल्लभे । अस्यार्थः–राजयोगा प्रागुक्ताः । खयोगा नाभसंयोगाः । चन्द्रस्यान्यग्रहैः संयोगाः चन्द्रयोगाः । आयुषो योगा इति, कोऽर्थः? येऽरिष्टयोगा उक्तास्तेषां भञ्जका ये योगास्ते आयुषो हितत्वादायुषो योगा इत्युच्यन्ते । एषां सर्वेषां स्वरूपं जातकाज्ज्ञेयं । अत्रेति अभिषेककर्मे विकल्प्या विचार्याः । वास्तुलग्नगुणाः प्रागुक्ताः । अपि च सर्वग्रहबलालक्कृतलग्नाऽलाभे सर्वेष्वपि कार्येष्वेवं ज्ञेयं—

" पञ्चभिः शस्यते लग्नं ग्रहैर्बलसमन्वितैः । चतुर्भिरपि चेत्केन्द्रे त्रिकोणे वा गुरुर्भृगुः ॥ १ ॥ "

अत्र पञ्चभिरित्युक्तेऽप्ययं विशेषो ज्ञेयः–गुर्वर्केन्दुमध्यादेकस्यापि बलाभावेऽन्यैः पञ्चभिः सबलैरपि लग्नं नाऽऽद्रियते, इति रत्नमालाभाष्ये । केऽप्याहुः–

" त्रयः सौम्यग्रहा यत्र लग्ने स्युर्बलवत्तराः । बलवत्तदपि ज्ञेयं शेषैर्हीनबलैरपि ॥ १ ॥ "

॥ इत्येकादशं मिश्रद्वारम् ॥ ११ ॥

अथ सकलग्रन्थार्थं समर्थयति—

इत्युक्तखेटबलशालिनि दोषमुक्ते, लग्ने शुभैश्च शकुनैः शशिनः प्रवाहे ।
कार्याणि भूमिजलतत्त्वगतौ कृतानि, निर्दम्भभाऽभ्युदयिकीं प्रथयन्ति लक्ष्मीम् ॥ ८६ ॥

व्याख्या—खेऽटन्तीत्यचि तत्पुरुषे कृतीति, सप्तम्यलुपि खेटा ग्रहाः तेषां बलं, अनेन तिथ्यादिबलमपि लक्ष्यते । दोषमुक्ते इति, बृहद्दोषरहिते इति भावः । सर्वथा निर्दोषस्य लग्नस्याल्पदिनैरप्यलाभात्, अतः स्वल्पदोषं महागुणं च लग्नमादाय कार्याणि कार्याणि, न तु सर्वथा निर्दोषलग्नापेक्षया बहुतरविलम्बः कार्यः, धनयौवनजीवितानां स्थैर्याभावादित्याशयः । उक्तञ्च—

" यस्मादशेषगुणसम्पदहोभिरल्पैर्होराविदाऽपि गणकेन न लभ्यतेऽत्र ।
तस्मादनल्पगुणसंयुतमल्पदोषं, लग्नं नियोज्यमखिलेष्वपि मङ्गलेषु ॥ १ ॥

स्वल्पो नानर्थकृद्दोषो लग्ने बहुगुणे भवेत् । तोयबिन्दुरिव क्षिप्तः समिद्धे कृष्णवर्त्मनि ॥ २ ॥ ”

शकुनैरिति शकुना आङ्गिकादयः । प्रधानं च शकुनिकाः । यदुक्तं व्यवहारप्रकाशे—

“ नक्षत्रस्य मुहूर्त्तस्य तिथेश्च करणस्य च । चतुर्णामपि चैतेषां शकुनो दण्डनायकः ॥ १ ॥ ”

अत्राङ्गस्फुरणमनःप्रसत्त्यादिनिमित्तमपि लक्ष्यं । एभिः शकुनादिभिः शुभैर्लग्नशुद्धौ निर्णीतायां तल्लग्नाऽऽदरणे कार्यकर्तुर्जयः स्यात् । लल्लोऽप्याह—

“ अपि सर्वगुणोपेतं न ग्राह्यं शकुनं विना । लग्नं यस्मान्निमित्तानां शकुनो दण्डनायकः ॥ १ ॥ ”

शशिनः प्रवाहे इति, अध्यात्मशास्त्रे किल वामदक्षिणनासे चन्द्रसूर्यसंज्ञे । ततश्च—

“ सार्धं घटीद्वयं नाडिरेकैकार्कोदयाद्वहेत् । अरघट्टघटीभ्रान्तिन्यायान्नाड्योः पुनः पुनः ॥ १ ॥

शतानि तत्र जायन्ते निःश्वासोच्छ्वासयोर्नव । खखषट्कुकरैः २१६०० सङ्ख्याऽहोरात्रे सकले पुनः ॥ २ ॥

षट्त्रिंशद्गुरुवर्णानां या वेला भणने भवेत् । सा वेला मरुतो नाड्या नाड्यां सञ्चरतो लगेत् ॥ ३ ॥”

तत्र वामनासायां प्रविशत्पवनापूर्णायां सर्वं शुभकार्यं कार्यं । यदुक्तं—

“ लाभे दानेऽध्ययने गुरुदेवाभ्यर्चने विषविनाशे । पुरमन्दिरप्रवेशे गमाऽऽगमादौ शुभा वामाः ॥ १ ॥ ” तथा—

“पूजाद्रव्यार्जनोद्वाहे दुर्गाद्रिसरिदाक्रमे । गमागमे जीविते च गृहक्षेत्रादिसङ्ग्रहे ॥ १ ॥

क्रये विक्रयणे दृष्टौ सेवायां विद्विषो जये । विद्यापट्टाभिषेकादौ शुभेऽर्थे च शुभः शशी ॥२॥” भूमिजलतत्त्वगताविति । उक्तं हि—

“ वायोर्वह्नेरपां पृथ्व्या व्योम्नस्तत्त्वं वहेत् क्रमात् । वहन्त्योरुभयोर्नाड्योर्ज्ञातव्योऽयं क्रमः सदा ॥ १ ॥ ” एषां प्रवाहा एवं—

“ ऊर्ध्वं वह्निरधस्तोयं तिरश्चीनः समीरणः । पृथ्वी मध्यपुटे व्योम सर्वगं वहते पुनः ॥ १ ॥ ” प्रमाणं तु—

“ पृथ्व्याः पलानि पञ्चाश ५० च्चत्वारिंश ४० त्तथाऽम्भसः । अग्नेस्त्रिंश ३० त्तथा वायोर्विंशति २० र्नभसो दश १० ॥ १ ॥ ”

एवं सार्धशतं १५० पलान्येकैकनाडीप्रमाणं । एवं च वामनाड्यामपि यदा पृथ्वीजलतत्त्वे स्यातां तदा शुभकार्यं कार्यं, न तु वह्निवायुव्योमतत्त्वेषु । यतः—

" तत्त्वाभ्यां भूजलाभ्यां स्याच्छान्ते कार्ये फलोन्नतिः । दीप्तास्थिरादिके कृत्ये तेजोवाय्वम्बरैः शुभम् ॥ १ ॥
पृथ्व्यप्तेजोमरुद्व्योमतत्त्वानां चिह्नमुच्यते । आद्ये स्थैर्यं स्वचित्तस्य शैत्यकामक्षयौ परे ॥ २ ॥
तृतीये कोपसन्तापौ तुर्ये चञ्चलता पुनः । पञ्चमे शून्यतैव स्यादथवा धर्मवासना ॥ ३ ॥ " तथा—
" श्रुत्योरङ्गुष्ठकौ मध्याङ्गुल्यौ नासापुटद्वये । सृक्कणोः प्रान्त्यकोपान्त्याङ्गुली शेषे दृगन्तयोः ॥ १ ॥
न्यस्यान्तस्तु पृथिव्यादितत्त्वज्ञानं भवेत् क्रमात् । पीत १ श्वेता २ रुण ३ श्यामै ४ र्बिन्दुभिर्निरुपाधि खम् ५ ॥ २ ॥
पीतः कार्यस्य संसिद्धिं बिन्दुः श्वेतः सुखं पुनः । भयं सन्ध्यारुणो ब्रूते हानिं भृङ्गसमद्युतिः ॥ ३ ॥
जीवितव्ये जये लाभे सस्योत्पत्तौ च कर्षणे । पुत्रार्थे युद्धप्रश्ने च गमनागमने तथा ॥ ४ ॥
पृथ्व्यप्तत्त्वे शुभे स्यातां वह्निवातौ च नो शुभौ । अर्थसिद्धिः स्थिरोभ्यां तु शीघ्रमम्भसि निर्दिशेत् ॥ ५ ॥ अपि च—
" षोडशाङ्गुलिका पृथ्वी १ जलं तु द्वादशाङ्गुलम् २ । तेजश्चाष्टाङ्गुलं ३ वायुश्चतुरङ्गुलको मतः ४ ॥ १ ॥
नैकमप्यङ्गुलं व्योम ५ वहतीति विनिर्णयः । "

अत्र षोडशाङ्गुलिकेति, यदा वायुर्वहन् षोडशाङ्गुलमाकाशं व्याप्नोति तदा पृथ्वीतत्त्वमित्यादि ज्ञेयं । यद्वा वाक्यमिदमन्यथा व्याख्यायते, तथाहि—दोषमुक्ते लग्ने भूमिजलतत्त्वगताविति सम्बन्धनीयं । भावश्चायं—शुद्धलग्नेऽपि यदा भूजलतत्त्वे स्यातां तदा शुभं कार्यं कार्यं, न त्वग्नि-वायुव्योमतत्त्वेषु । यदुक्तं—

"पृथ्वी राज्यं १ जलं वित्तं २ वह्निर्हानिं ३ समीरणः । उद्वेगं ४ गगनं दत्ते पञ्चतां ५ सर्वलग्नतः ॥ १ ॥ " तदुत्पादप्रकारश्चायं—
"त्रिंशांशं पञ्चधा हन्याद्दशा१० ष्ट८ षड् ६ युगा ४ श्वि २ भिः । भू १ जला २ ग्न्य ३ निल ४ व्योम्नां ५ समर्क्षे जायते मितिः ॥१॥
द्व्य२ ब्ध्य ४ ङ्ग ६ वसु ८ दशभि १० स्तद्वत्त्रिंशांशकाहतिः । खा १ निला २ ग्नि ३ जले ४ लानां५ मोजराशौ मितिः स्मृता ॥२॥"

अनयोरर्थः-लग्नानां पलरूपाणां त्रिंशांशं त्रिंशो भागः । यथा मेषलग्नस्य पञ्चविंशत्यधिकद्विशती २२५ पलमानस्य त्रिंशांशः पलसप्तकस्त्रिंशद्-

क्षररूपः ७–३० । इमं पञ्चवारान्न्यस्य विषमराशौ द्वयष्ट्यादिभिर्गुणयेत् क्रमाद्व्योमादितत्त्वानां मानमेति । समराशौ तु दशाष्टादिभिर्गुणयेत् क्रमात् पृथ्व्यादितत्त्वानां मानं स्यात् । यद्वा यस्य लग्नस्य यत्पलमानं तस्य पञ्चदशभिर्भागे यल्लभ्यते तत्क्रमादेकद्वित्रिचतुष्पञ्चभिर्गुणितमोजराशौ व्योमादितत्त्वानां मानं स्यात् । समराशौ तु पञ्चचतुस्त्रिद्व्येकगुणितं क्रमात् पृथ्व्यादितत्त्वानां मानं स्यात् । एवं च यज्जायते तस्य स्थापनाऽभ्यक्तिरेवम्—

मेषमान पल २२५	वृषमान पल २५६	मिथुन मान पल ३०५	तुला मान पल ३३१	वृश्चिकमान पल ३४२	धनुर्मान पल ३४१
त्रिंशोऽशः पल ७ अक्षर३०	त्रिंशोऽंशः पल८ अक्षर ३२	त्रिंशोऽशः पल१०अ१०	त्रिंशोऽंशः पल ११–२	त्रिंशोऽंशः पल११–२४	त्रिंशोऽंशः पल ११–२२
व्योमतत्त्वं पल १५	पृथ्वीत० घटी१पल२५अ२०	व्योम पल २०-२०	गगन पल २२–४	पृथ्वी घटी १–५४	गगन पल २२–४४
पवनतत्त्वं पल ३०	अप्तत्त्वं घटी १–८–१६	पवन पल ४०–४०	पवन पल ४४–८	अप् घटी १–३१–१२	पवन पल ४५–२८
तेजस्तत्त्वं पल ४५	तेजस्तत्त्वं पल ५१–१२	तेज घटी १–१	तेज घटी १–६–१२	तेज घटी १–८–२४	तेज घटी १–८–१२
जलतत्त्वं घटी १	वायु पल ३४–८	अप् घटी १–२१–४०	अप् घटी १-२८–१६	पवन पल ४५–३६	अप् घटी १–३०–५६
पृथ्वीतत्त्वं घटी १ पल१५	व्योम पल १७–४	पृथ्वी घटी १–४१–४०	पृथ्वी घटी १–५०–२०	गगन पल २२–४८	पृथ्वी घटी १–५३–४०
कर्कमान पल ३४१	सिंहमान पल ३४२	कन्या मान पल ३३०	मकर मान पल ३०५	कुम्भ मान पल २५६	मीन मान पल २२५
त्रिंशोऽंशः पल११अक्षर२२	त्रिंशोऽंशः पल११ अक्षर२४	त्रिंशोऽंशः पल ११–२	त्रिंशोऽंशःपल१०–१०	त्रिंशोऽंशः पल ८–३२	त्रिंशोऽंशः पल ७–३०
पृथ्वी घटी १–५३–४०	गगन पल २२-४८	पृथ्वी घटी १–५०–२०	पृथ्वी घटी १–४१–४०	गगन पल १७–४	पृथ्वी घटी १–१५
अप् घटी १–३०–५६	पवन पल ४५–३६	अप् घटी १–२८–१६	अप् घटी १–२१–२०	पवन पल ३४–८	अप् घटी १
तेज घटी १–८–१२	तेज घटी १–८–२४	तेज, घटी १–६–१२	तेज घटी १–१	तेज पल ५१–५२	तेज पल ४५
पवन पल ४५–२८	अप् घटी १-३१–१२	पवन पल ४४–८	पवन पल ४०–४०	अप् घटी १–८–१६	पवन पल ३०
गगन पल २२–४४	पृथ्वी घटी १–५४	गगन पल २२–४	गगन पल २०–२०	पृथ्वी घटी १–२५–२०	गगन पल १५

एवं लग्ने लग्ने पञ्च तत्त्वानि क्रमोत्क्रमेण स्युः । विशेषस्तु भूजलतत्त्वाङ्कितान्यपि पलानि यदि षड्वर्गशुद्धानि पञ्चवर्गशुद्धानि वा स्युस्तदाऽत्यन्तं शुभानि । तानि चेत्थं, यथा–मेषलग्ने सप्तमस्य तुलांशस्याद्येष्वष्टादश (१८) पलेषु लग्नाशुद्धेः पञ्चवर्गशुद्धिः पृथ्वीतत्त्वं च । तथा मेषलग्ने नवमे

धनुरंशेऽन्त्येष्वष्टादश (१८) पलेषु पञ्चवर्गशुद्धिः पृथ्वीतत्त्वं च १। वृषलग्ने तृतीये मीनांशे आद्येषु सप्त (७) पलेषु षड्वर्गशुद्धिः पृथ्वीतत्त्वं च। तथा वृषलग्ने पञ्चमस्य वृषांशस्याद्येषु चतुर्दश (१४) पलेषु षड्वर्गशुद्धिर्जलतत्त्वं च २। मिथुनलग्ने षष्ठस्य मीनांशस्याद्येष्वष्ट (८) पलेषु षड्वर्गशुद्धिर्जलतत्त्वं च। पञ्चवर्गशुद्धिस्तु सम्पूर्णेऽपि नवांशेऽस्ति द्वादशांशाशुद्धेः ३। कर्कलग्ने आद्ये कर्कांशे आद्येष्वष्टाविंशति (२८) पलेषु षड्वर्गशुद्धिः पृथ्वीतत्त्वं च। तथा कर्कलग्ने तृतीये कन्यांशे सम्पूर्णे षड्वर्गशुद्धिः पृथ्वीतत्त्वं च ४। सिंहलग्ने षष्ठे कन्यांशे दशपलेभ्योऽन्वष्टाविंशति (२८) पलेषु लग्नाशुद्धेः पञ्चवर्गशुद्धिर्जलतत्त्वं च ५। कन्यालग्ने तृतीये मीनांशे नवपलेभ्योऽनु सप्तविंशति (२७) पलेषु षड्वर्गशुद्धिः पृथ्वीतत्त्वं च ६। तुलालग्नेऽष्टमे वृषांशे आद्येष्वष्टादश (१८) पलेषु षड्वर्गशुद्धिः पृथ्वीतत्त्वं च। तथा तुलालग्ने नवमे मिथुनांशेऽन्त्येषु सप्तविंशति (२७) पलेषु षड्वर्गशुद्धिः पृथ्वीतत्त्वं च ७। वृश्चिकलग्ने तुर्ये तुलांशे आद्येष्वष्टाविंशति (२८) पलेषु लग्नाशुद्धेः पञ्चवर्गशुद्धिर्जलतत्त्वं च ८। धनुर्लग्ने षष्ठे कन्यांशे सम्पूर्णेऽपि पञ्चवर्गशुद्धिर्द्रेष्काणाशुद्धेर्जलतत्त्वं च। तथा धनुर्लग्ने सप्तमे तुलांशेऽन्त्येषु नव (९) पलेषु द्वादशांशाशुद्धेः पञ्चवर्गशुद्धिः पृथ्वीतत्त्वं च। तथा धनुर्लग्ने नवमे धनुरंशे आद्येषु नव (९) पलेषु द्वादशांशाशुद्धेः पञ्चवर्गशुद्धिः पृथ्वीतत्त्वं च ९। मकरलग्ने पञ्चमे वृषांशे आद्येषु षोडश (१६) पलेषु लग्नाशुद्धेः पञ्चवर्गशुद्धिर्जलतत्त्वं च १०। कुम्भलग्ने षष्ठस्य वृषांशस्यान्त्येषु विंशति २० पलेषु लग्नाशुद्धेः पञ्चवर्गशुद्धिर्जलतत्त्वं च। तथा कुम्भलग्नेऽष्टमस्य वृषांशस्यान्त्यानि चतुर्दश (१४) पलानि, नवमस्य च मिथुनांशस्याद्यानि सप्त (७) त्येकविंशति (२१) पलेषु लग्नाशुद्धेः पञ्चवर्गशुद्धिः पृथ्वीतत्त्वं च ११। मीनलग्ने आद्ये कर्कांशे आद्येष्वष्टादश (१८) पलेषु षड्वर्गशुद्धिः पृथ्वीतत्त्वं च। तथा मीनलग्ने तृतीये कन्यांशे सम्पूर्णे पञ्चविंशति (२५) पलरूपे षड्वर्गशुद्धिः पृथ्वीतत्त्वं चेति १२। कृतानीति अत्र वृद्धाः प्राहुः—दीक्षाप्रतिष्ठातीर्थयात्रापदारोपादिकार्येषु यत्र कार्ये यन्नक्षत्रं यो वारो या तिथिश्चाधिकृतानि तानि शुद्धानि सम्यग्विलोक्य रवियोगसिद्धियोगादियुता पूर्वं दिनशुद्धिस्ततो लग्नशुद्धिर्नवांशशुद्धिश्च विलोक्ये। सर्वथाऽपि शुद्धलग्नालाभे कार्यस्याऽवश्यकर्तव्यत्वे च शुभदिनशुद्धौ छायालग्ने ध्रुवलग्ने विजयमुहूर्ते शुभचतुर्घटिके वा कार्यं कार्यमिति सकलग्रन्थरहस्यं। प्रथयन्तीति, एवं कृतानि कार्याणि सर्वाङ्गीणमभ्युदयं प्रथयन्ति ॥

इति श्रीमति आरम्भसिद्धिवार्त्तिके विलग्न १ मिश्र २ द्वारपरीक्षात्मकः पञ्चमो विमर्शः सम्पूर्णः ॥ ५ ॥

श्रीसूरीश्वरसोमसुन्दरगुरोर्निःशेषशिष्याग्रणी–र्गच्छेन्द्रः प्रभुरत्नशेखरगुरुर्देदीप्यते साम्प्रतम् ।
तच्छिष्याश्रवहेमहंसरचितस्यारम्भसिद्धेः सुधी–शृङ्गाराभिधवार्त्तिकस्य बुधभाः ५ सङ्ख्यो विमर्शोऽभवत् ॥ १ ॥
विमर्शैः पञ्चभिः प्रेष्ठविषयैरिव संवृतम् । न कस्याह्लाददायीदं सुधीशृङ्गारवार्तिकम् ॥ २ ॥
बहुज्योतिःशास्त्रात्मकमणिसुवर्णापणगणा–न्मया सारं सारं द्युतिमयमुपादाय किमपि ।
सुधीशृङ्गारोऽयं व्यरचि रुचिरः सैष सुधियां, करे कण्ठे कर्णे हृदि च सुषमां पल्लवयतु ॥ ३ ॥

अथ प्रशस्तिः ।

श्रीमच्चन्द्रकुले पुराऽजनि जगच्चन्द्रो गुरुर्यस्तपा–चार्यख्यातिमवाप तीव्रतपसा तस्यान्वयेऽजायत ।
प्रौढः श्रीवरदेवसुन्दरगुरुस्तत्पट्टपूर्वागिरेः, शृङ्गे श्रीप्रभुसोमसुन्दरगुरुर्भानुर्नवीनोऽभवत् ॥ ४ ॥ यतः—
भानोर्भानुशतानि षोडश लसन्त्येकत्र मास्याश्विने, यच्छिष्यास्तु ततोऽधिका अपि महीमुद्द्योतयन्ते सदा ।
तस्याऽहं चरणावुपासिषि चिरं श्रीमत्तपागच्छप–क्षोणीविश्रुतसोमसुन्दरगुरोश्चारित्रचूडामणेः ॥ ५ ॥
मारिर्येन निवारिताऽसुरकृता संसूत्र्य शान्तिस्तवं, सूरिः श्रीमुनिसुन्दराभिधगुरुर्दीक्षागुरुः सैष मे ।
यस्य श्यामसरस्वतीति बिरुदं विख्यातमुर्वीतले, गुर्वी श्रीजयचन्द्रसूरिगुरुरप्याधात् प्रसत्तिं स मे ॥ ६ ॥
साम्प्रतं तु जयन्ति श्रीरत्नशेखरसूरयः । नानाग्रन्थकृतस्तेऽपि पूर्वाचार्यानुऽकारिणः ॥ ७ ॥
एतानाचार्यहर्यक्षान् प्रत्यक्षानिव गौतमान् । वीतमायं स्तुवे स्फीतश्रीतपागच्छनायकान् ॥ ८ ॥ अपि च—

एकोऽप्यनेकशिष्याणां यश्चित्ताञ्जान्यबोधयत् । तं श्रीचारित्ररत्नं भो नमोरत्नसमं स्तुमः ॥ ९ ॥
चिन्मयानां मयाऽमीषामृषीणां सुप्रसादतः । हेमहंसाभिधानेन वाचनाचार्यतायुजा ॥ १० ॥
श्रीमद्विक्रमवत्सरे मनुतिथौ १५१४ शुक्लद्वितीयातिथौ, नक्षत्रे गुरुदैवते गुरुदिने मासे शुचौ सुन्दरे ।
आशापल्लिपुरे पुरः प्रतिनिधेः श्रीमद्युगादिप्रभो-र्ग्रन्थः सैष समर्थितः प्रथयतादाद्यं पुमर्थ्थः सताम् ॥ ११ ॥

इति श्रीतपागच्छपुरन्दरश्रीसोमसुन्दरसूरिश्रीमुनिसुन्दरसूरिश्रीजयचन्द्रसूरिप्रमुखश्रीगुरुसाम्प्रतविजयमानश्रीगच्छनायकश्रीरत्नशेखरसूरिचरणकमलसेविना महोपाध्यायश्रीचारित्ररत्नगणिप्रसादप्राप्तविद्यालवेन वाचनाचार्यश्रीहेमहंसगणिना स्वपरोपकाराय सुधीशृङ्गाराख्यं श्रीआरम्भसिद्धि-वार्तिकं सर्वथा सावद्यवचनविरतैः सुविहिताचार्यवर्यैर्वाच्यमानं चिरं नन्दतात् ॥

अथ ग्रन्थकृत्स्वाभिप्रायं प्रकाशयति, तथाहि—

विद्यारम्भतपःक्रियाप्रभृतिकप्रारम्भवर्ज्जं समे-ऽप्यारम्भा अशुभाः शुभाश्च नियतं सावद्यतादूषिताः ।
सर्वारम्भविधेश्च सिद्धिकरणादारम्भसिद्धयाह्वयो, ग्रन्थोऽयं तत एव चाप्रकटनायोग्यो विशुद्धात्मसु ॥ १ ॥ ततश्च—
येन श्रीप्रभुसोमसुन्दरगुरोः काले कलौ जङ्गम-श्रीमत्तीर्थकरस्य चारु सुचिरं सेवा कृता तस्य मे ।
एतज्ज्योतिषवार्त्तिकप्रणयनं नो युज्यते सर्वथा, ग्रन्थोऽयं तदपीह येन विधिना जातस्तदाऽऽकर्ण्यताम् ॥ २ ॥
केचित् केचिदपि क्वचित् क्वचिदपि ग्रन्थे विशेषा मया । दृष्टा ज्योतिषगोचराः किल सम्रुचेतुं च ते चिन्तिताः ।
प्रक्रान्तश्च समुच्चयो रचयितुं संवर्धमानः पुनः, सोऽर्थैरेव शनैः शनैः सममवद्ग्रन्थानुरूपाकृतिः ॥ ३ ॥

प्राप्तः सोऽयमचिन्तितामपि यदा ग्रन्थस्य रीतिं तदा, चित्तेऽचिन्ति मया धिया निपुणया सम्यग्विचार्याऽऽयतिम् ।
निःशूकैर्यतिभिस्तथा गृहिभिरप्यादास्यतेऽसौ यदा, सावद्यप्रथितैर्व्रताधिकरणं सम्पत्स्यतेऽलं तदा ॥ ४ ॥
तेनैतस्य जलावमज्जनविधिर्ग्रन्थस्य निर्मास्यते, नोत्सर्प्पेत्त्यधिकाधिकाधिकरणस्फातिर्यथाऽस्मादिति ।
तत्कर्तुं तु न शक्यते स्म विविधग्रन्थोऽच्छवृत्त्या हृता, गच्छेऽत्र स्थितिमावहन्तु कथमप्येते विशेषा इति ॥ ५ ॥
एतस्मादभिसन्धितः परिहृताम्भोमज्जनः सज्जनाः, सोऽयं ग्रन्थ उपागमत् करतले युष्माकमायुष्मताम् ।
सत्याप्योऽथ तथा कथञ्चन यथाऽऽरम्भप्रथाकारणं, धर्म्याणामपि कर्म्मणां प्रणयने जात्वेष नो जायते ॥ ६ ॥ यथा हि ।
खड्गः खण्डनहेतवे खलजनस्याऽऽदीयते धीयते, नो सम्यग्यदि सोऽपि सौवधनिकोच्छेदाय तज्जायते ।
वेतालोऽपि विधेयतामपि गतो यत्रापि तत्रापि चेत्, संयोज्येत यथा तथा ननु तदा स्वं साधकं बाधते ॥ ७ ॥
एवं ज्योतिषशास्त्रमेतदखिलं सावद्यसञ्जातमनां, चैत्यादेरपि चेन्मुहूर्त्तकथने व्यापार्यते साधुभिः ।
तत्तेषामनवद्यभाषणमयं याति व्रतं सर्वथा, लिप्यन्तेऽपि च पातकेन महता ते शास्त्रकर्त्रा समम् ॥ ८ ॥
नन्वेवं यदि जैनचैत्यरचनाश्रीतीर्थयात्रादिनः, पुण्यस्यापि मुहूर्त्तमात्रमृषिभिर्नोदेयमित्युच्यते ।
तत्पुण्योपचयः कथं नु भविता गार्हस्थ्यभाजां नृणां, नानाग्रामनिवासिनामथ यतेः स्यात्पुण्यलाभः कथम् ? ॥ ९ ॥ अत्रोच्यते—
पुण्यं स्यादनुमोदनैव यतिनां चैत्यादिनिर्म्मापणे, मौहूर्त्ताः पुनरर्पयन्ति गृहिणामुद्वाहनादाविव ।
चैत्याद्येऽपि मुहूर्त्तमद्भुततरं संवादमेषां पुन–र्ज्योतिर्ज्ञा यतयो दिशन्त्यखिलमप्येवं सुयुक्तं भवेत् ॥ १० ॥

एवं सत्यपि कर्मगौरववशाद्यः पातकाभीलुकः, शास्त्रस्यास्य बलेन वक्ष्यति जने मूढो मुहूर्त्तादिकम् ।
तस्यैवैतदघं पतिष्यति शिरस्यारम्भसम्भारजं, नैतद्ग्रन्थविधायिनस्तु मम तत्सम्बन्धलेशोऽपि हि ॥ ११ ॥
तस्मात्तत्त्वमिदं वदामि तदिदं शास्त्रं रहो भण्यतां, शिष्याणामपि भाण्यतामवगतास्ते चेदघाद्भीरवः ।
पर्यायान् परिवर्द्धयन्तु च बुधाः सर्वेऽपि बोधस्य ते, यस्मात्केवलमेतदेव हि फलं मेऽभीष्टमेतत्कृतेः ॥ १२ ॥ ततश्च—
ज्ञानांशोपचयैकपेशलफलप्रस्फुर्त्तये वार्त्तिकं, कुर्वाणेन मया शुभाशयवशाद्यत्पुण्यकर्मार्जितम् ।
दिष्ट्या तेन भवे भवे भवतु मे सज्ज्ञानलाभोदयो, यस्माद्द्भुतधाम शाश्वतचिदानन्दं पदं प्राप्यते ॥ १३ ॥

॥ इत्येतानि ग्रन्थकर्तुरभिप्रायसूचकानि काव्यानि वाचयित्वा यथोपदिष्टमार्गानुष्ठानाय यतनीयं तत्त्वज्ञैः ॥

॥ इति प्रशस्तिः ॥

इत्यारम्भसिद्धिः सटीका सम्पूर्णा ॥

विमर्शान्ते ग्रन्थकृतः निरघ-स्पष्ट वक्तव्यता॥

॥ ॐ ॥

श्रीआरम्भसिद्धिग्रन्थस्य श्लोकसूची ॥

—ः परिशिष्ट अ ः—

—:: परिशिष्ट ब ::—

वार्त्तिके उपयुक्त-ग्रन्थानां ग्रन्थकृतां वा सूचि ।

(बुकाकारानुसारेण पृष्ठं पङ्क्तिश्च)

जैनं जयति शासनम् ॥ कल्याणमस्तु ॥

परिशिष्ट क

आरम्भसिद्धेः सङ्क्षेपानुक्रमः ॥

विमर्शः	द्वारम्	पृष्ठाङ्काः	पृ.	श्लोकाः
प्रथमः	१ तिथि	१—१५	१५	१—१४
,,	२ वार	१६—२४	९	१५—२२
,,	३ नक्षत्र	२५—३२	८	२३—३८
,,	४ योग	३३—५७	२५	३९—८४
द्वितीयः	५ राशि	५८—८०	२३	१—४३
,,	६ गोचर	८०—९७	१७	४४—७३
तृतीयः	७ कार्य	९८—१३५	३८	१—८२
चतुर्थः	८ गम	१३६—१८०	४५	१—६४
,,	९ वास्तु	१८१—१९४	१४	६५—८८
पञ्चमः	१० विलग्न	१९५—२००	६	१—४
,,	११ मिश्र	२०१—२७८	७८	५—८६
समग्रम्	११	२७८	२७८	४१३

परिशिष्टानि अ ब क ड पृ. २७९—२९२



राशिसम्बद्धानि-वर्ज्य-घात-स्थानानि ॥					
राशयः	मासः	नक्षत्रं	वारः	चन्द्रः	तिथयः
मेष०	कार्तिक	मघा	रवि	प्रथमः	१-६-११
वृष०	मार्गशिर्ष	हस्त	शनि	पञ्चमः	५-१०-१५
मिथु०	आषाढ	स्वाति	चन्द्र	नवमः	२-७-१२
कर्क०	पौष	अनु-	बुध	द्वितीयः	२-७-१२
सिंह०	ज्येष्ठ	मूल	शनि	षष्ठः	३-८-१३
कन्या०	भाद्रपद	श्रवण	शनि	दशमः	५-१०-१५
तुला०	माघ	शत.	गुरु	तृतीयः	४-९-११४
वृश्चि०	आश्विन	रेवती	शुक्र	सप्तमः	१-६-११
धन०	श्रावण	भरणी	शुक्र	तुर्यः	३-८-१३
मकर०	वैशाख	रोहिणी	मंगल	अष्टमः	४-९-१४
कुम्भ०	चैत्र	आर्द्रा	गुरु	एकादशः	३-८-१३
मीन०	फाल्गुन	आश्ले-	शुक्र	द्वादशः	५-१०-१५

सस्वामिकराशियुतानि नक्षत्रपादाक्षराणि ॥	
[मेष-मंगल स्वामि-चु चे चो ला अश्विनी	रु रे रो ता स्वाति ।
लि लु ले लो भरणी ।	ति तु ते [वृश्चि०-मंगल० तो वि०
अ [वृष-शुक्र-इ उ ए कृत्तिका ।	न नि नु ने अनु० ।
ओ व वि वु रोहिणी ।	नो य यि यु ज्ये० ।
वे वो [मिथु० बुध-क-कि मृग० ।	[धन-गुरु-ये यो भभि-मूळ ।
कुघङ छ आर्द्रा ।	भुधफढ-पू. षा० ।
के को ह [कर्क-चन्द्र-हि पुन० ।	भे [मकर-शनि-भो-ज-जि-उ. षा० ।
हु हे हो डा-पुष्य० ।	जु जे जो ख अभिजित् ।
डि डु डे डो-अश्ले० ।	खि खु खे खो श्रवण ।
सिंह-सूर्य-म-मि मु मे मघा० ।	ग गि [कुम्भ-शनि-गु गे-धनिष्ठा० ।
मो ट टि टु-पू-फा० ।	गो स सि सु शत० ।
टे [कन्या-बुध-टो प पि उ फा० ।	से सो द [मीन-गुरु-दि-पू-भा० ।
पुषण ठ-हस्त ।	दु श झ थ उ भा. ।
पेपो [तुला-शुक्र-ररि-चित्रा ।	दे दो च चि-रेवती । १२ ॥

परिशिष्ट ड

भरणीस्थसूर्यापेक्षया हलयन्त्रम् ॥

पश्यतु पृ. १३० ॥

गविभुक्तभात् गणनीयानि ॥

अत्र भुक्तभं अश्विनी भुज्यमानभं भरणी ॥

(२.) हले-रे-उ.भा-पू.भा.

लाङ्गलं (हलं)

यूपे - श. ध-श्र. (२.)

योत्रे - अभि-उषा-पूषा-मू.-ज्ये. (२.)

(०) दण्डिकामूले अ. भ. कृ.

दण्डिकाग्रे स्वा. वि. अनु. (०)

योत्रे - म-पू.फा-उ.फा-ह-चि-(२.)

यूपे - पुन-पु. आश्ले. (२.)

(२.) रो. मृ. आ.

संज्ञाफलम
(०) गवां हानिः।
(१) स्वामिनो भयम्।
(२) लक्ष्मीप्राप्तिः।

योगाः	सिद्धियोगः	मृत्युदाति०	फांकडुं	दग्धयोगः	यमघंटः	यमदंष्ट्रः	अ- सि-	अ- सिद्धौ वर्ज्यकार्यं	अ- सि- मृत्युदा:	सिद्धियोगः
रविवार	——	१-६-११	७	१२	मघा	धनि-मघा	हस्त	——	५	मुल
चन्द्रवार	——	२-७-१२	६	११	विशाखा	मूल-विशा	मृगशिर	——	६	श्रवण
मंगलवार	३—८—१३	१-६-११	५	५	आर्द्रा	भर-कृत्तिका	अश्विनी	ग्रामादिप्रवेश:	७	उ भा.
बुधवार	२—७—१२	३-८-१३	४	३	मूल	पुन-रेवती	अनुराधा	——	८	कृत्तिका
गुरुवार	५-१०-१५	४-९-१४	३	६	कृत्तिका	अश्वि-उ षा-	पुष्य	विवाहः	९	पुनर्वसु
शुक्रवार	१-६-११	२-७-१२	२	८	रोहिणी	रोहि-अनु	रेवता	——	१०	पू फा.
शनिवार	४-९-१४	५-१०-१५	१	९	हस्त	श्रव-शत-	रोहिणी	प्रयाण	११	स्वाति

समाप्तानि परिशिष्टानि ।